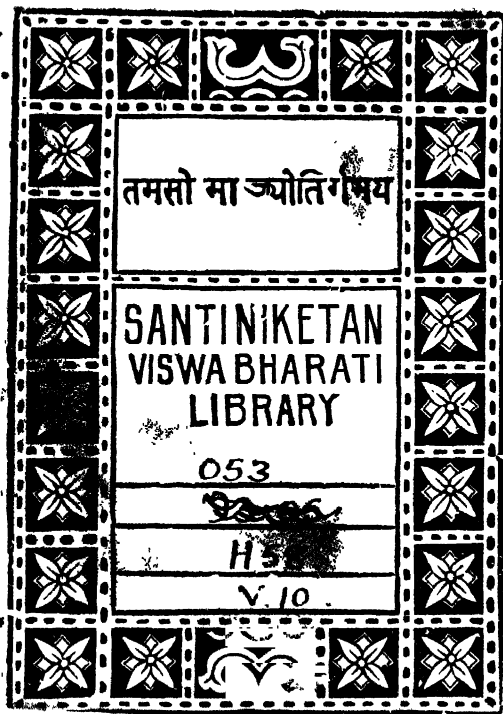

तमसो मा ज्योतिर्गमय
SANTINIKETAN
VISWA BHARATI
LIBRARY
053
H
V.10



हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

१९४०

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्त प्रांत, इलाहाबाद



वार्षिक मूल्य चार रुपए

हिंदुस्तानी, १९४०

संपादक—रामचंद्र टंडन

लेख-सूची

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग १० } जनवरी, १९४० { अंक १

गुसाईं तुलसीदास की धर्मपत्नी रत्नावलि

[लेखक—श्रीयुत दीनदयालु गुप्त, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०]

गुसाईं तुलसीदास की कविता में भगवद्भक्ति, लोकोपकारिता और काव्यरस तीनों का सामंजस्य है। इन भावों की त्रिवेणी में मज्जन कर लोग एक अपूर्व आनंद का अनुभव करते हैं। उन के काव्य में एक विलक्षण प्रतिभा है। तुलसीदास की कथनी और करनी एक थी। उन्हों ने अपने समय की धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का खूब अध्ययन किया था। उस समय के संकट-पीड़ित समाज की दयनीय दशा से उन का हृदय व्यथित हो उठा था। लोक और आत्म-उद्धार की भावना ने उन के चित्त में गृहस्थ जीवन के प्रति विरक्ति पैदा की, और उन्हों ने घर छोड़ कर वैराग्य ले लिया। अखंड वैराग्य, भगवद्भक्ति और तप—इन के अभ्यास ने उन की आत्मा को ज्योति दी। उन की अमर वाणी एक विशुद्ध आत्मा की आंतरिक प्रेरणा का प्रतिफल है। भारत-रमणी-रत्न परम विदुषी तपस्विनी तथा कवयित्री रत्नावलि इन्हीं महात्मा की धर्मपत्नी थीं, जिन्हों ने परंपरागत भारतीय स्त्री-धर्म का पालन कर अपने सद्गुण, सतीत्व और उपदेशों से पवित्र आचरण का आदर्श उपस्थित किया। भारतीय आदर्श रमणियों के चरित्र में कष्ट-सहिष्णुता, स्वार्थत्याग, सेवा और चरित्र की पवित्रता ये प्रधान सद्गुण रहे हैं। रत्नावलि का चरित्र भी उसी प्राचीन आदर्श का मंजु मुकुर है।

हिंदी साहित्य के इतिहासों में रत्नावलि का कोई चरित्र नहीं दिया गया है। इस का कारण यही था कि अब तक हिंदी जनता को इस कवयित्री की रचनाओं का तथा इस के चरित्र का वृत्तांत ज्ञात नही था। हां, कुछ विद्वानों ने इस विदुषी का ज़िक्र गुसाईं तुलसीदास की धर्मपत्नी के नाते से अवश्य किया है। गुसाईं तुलसीदास की जन्मभूमि, जाति आदि के विषय में जितने विवाद प्रचलित हैं, उतने ही भिन्न मत तुलसीदास की धर्मपत्नी के बारे में भी है। बावा वेणीमाधवदास के 'मूल गोसाईंचरित्र' में (जिस के आधार पर रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास जी तथा डाक्टर बड़थ्वाल ने 'तुलसीदास' नामक ग्रंथ में गुसाईं तुलसीदास का वृत्तांत दिया है) उन के ससुर और धर्मपत्नी के नाम नहीं दिए गए। उन की स्त्री के विषय में इतना ही कहा है कि तुलसीदास के वैराग्य लेने के बाद ही उस का देहांत हो गया। इस विषय में परंपरागत जनश्रुति कहती है कि तुलसीदास के ससुर का नाम आत्माराम और स्त्री का नाम रत्नावलि था; और रत्नावलि पति के वैराग्य के बाद बहुत काल तक वियोग में जीवित रही। यह भी कहा जाता है कि एक बार अपनी वृद्धावस्था में महात्मा तुलसीदास घूमते-घूमते अपने ससुर के घर पर अनजाने में आ टिके। वहां तुलसीदास ने अपनी स्त्री को नही पहचाना परंतु उन की स्त्री ने उन्हें पहचान लिया। जब उस ने अपने को प्रगट किया और उन के साथ चलने का आग्रह किया, तो तुलसीदास ने उसे अपने साथ ले चलने से इन्कार कर दिया। कहा जाता है कि उस ने उस समय एक दोहा कहा जो तुलसी-कृत दोहावली में इस प्रकार है—

खरिया खरी, कपूर सब, उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि कै, विमल विवेक विराग॥

जनश्रुति यह भी कहती है कि तुलसीदास की स्त्री रत्नावलि परम विदुषी थी, और उस ने भी कुछ दोहों की रचना की थी।

अभी हाल में कुछ प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ सोरों, जिला एटा, में मिले हैं, जिन में से दो रत्नावलि के बनाए दोहों के संग्रह है, और एक मुरलीधर चतुर्वेदी-कृत 'रत्नावलि-चरित्र' है। इस चरित्र का रचना-काल हस्तलिखित प्रति में संवत् १८२९ दिया हुआ है। रत्नावलि दोहा-संग्रहों में से एक संग्रह में १११ दोहे हैं, और दूसरे में २०१ दोहे हैं। इन्हों ने महात्मा तुलसीदास के जीवन पर भी एक नया प्रकाश डाला है।

इन ग्रंथों की प्रामाणिकता की मैं ने सोरों जाकर जाँच की है, और मुझे इन ग्रंथों

की प्रामाणिकता पर संदेह करने का विशेष कारण नहीं ज्ञात होता है। हिंदी के विद्वानों से निवेदन है कि वे इस सामग्री की निष्पक्ष रूप से जाँच करें। मैं ने 'महात्मा तुलसीदास और नंददास' शीर्षक लेख में,[1] इन ग्रंथों का परिचय दिया है। इन दोहों की जो प्रतिलिपियां सोरों में मिली हैं उन में से १११ दोहों वाली प्रति सं० १८७५ की है और दूसरी सं० १८२६ की। यद्यपि ये प्रतियां रत्नावलि के समय से बहुत बाद की हैं, फिर भी इन के कुछ दोहों में ऐसे भाव व्यक्त हुए हैं, जिन तक इन दोहों को वर्तमान काल में रचने वाले कवि की पहुँच बहुत कठिन जान पड़ती है। उदाहरण के लिए इस संग्रह में निम्न-लिखित दोहा है—

अगिनि तूल चकमक दिया, निसि मँह धरहु सम्हारि।
'रतनावलि' जनु का समय, काज परे लेउ बारि॥

इस दोहे में नीति और शिक्षा का भाव है। रत्नावलि के समय में दियासलाई नहीं थी। चकमक पत्थर के टुकड़े घर-घर रहा करते थे। यहां 'चकमक' शब्द का प्रयोग इस बात का प्रमाण दे रहा है कि दोहा कम से कम दियासलाई के आविष्कार से पहले का रचा हुआ है। इसी प्रकार इन दोहों की भाषा का ब्रजभाषा रूप भी प्राचीन ब्रजभाषा रचनाओं के माधुर्य को लिए हुए है।

रत्नावलि ने दोहों में अपना, अपने पति तुलसीदास का, तथा उन के चचेरे भाई नंददास का कई जगह परिचय दिया है। उस की जीवनी देने से पहले हम उस की रचनाओं में आत्मचरित-विषयक उल्लेखों का विवरण देना उचित समझते हैं। निम्न-लिखित दोहों में कवयित्री ने अपने और गोस्वामी तुलसीदास के संबंध में भाव प्रकट किए हैं।

जनम बदरिका कुल भई, हो पिय कंटक रूप।
विधत दुखित ह्वै चलि गए, रतनावलि उर भूप॥

इस से ज्ञात होता है कि रत्नावलि का जन्म 'बदरिका' स्थान में हुआ था।

दीन बन्धु कर घर पली, दीनबन्धु कर छाँह।
तौउ भई हौं दीन अति, पति त्यागी मों बाँह॥

---

[1] 'हिंदुस्तानी', जूलाई १९३९

इस से ज्ञात होता है कि रत्नावलि 'दीनबंधु' नामक व्यक्ति के घर पली थी, और उस को पति ने त्याग दिया था ।

सनक सनातन कुल सुकुल, गेह भयो पिय श्याम ।
रतनावलि आभा गई, तुम बिन बन सम गांम ॥

इस से मालूम होता है कि वह सनक सनातन के शुक्ल ब्राह्मण कुल में ब्याही थी ।

तीरथ आदि वराह जे, तीरथ सुरसरि धार ।
या ही तीरथ आइ पिय, भजहु जगत करतार ॥
प्रभु बराह पद पूत महि, जनम-मही पुनि एहि ।
सुरसरि तट महि, त्याग अस, गए धाम पिय केहि ॥
सबहि तीरथनु रमि रह्यो, राम अनेकन रूप ।
जहीं नाथ आओ चले, ध्याओ त्रिभुवन भूप ॥
राम भगति भूषित भयो, पिय हिय निपट निकाम ।
अब किमि भूषित होहिहैं, तहँ रतनावलि बाम ॥

इस से ज्ञात होता है आदि तीर्थ सूकरक्षेत्र, सोरों, तुलसीदास की जन्मभूमि थी । और तुलसीदास ने रामभक्ति में वैराग्य लिया था । निम्न-लिखित दोहे में वह अपने पति का नाम भी लेती है—

जासु दलहि लहि हरषि हरि, हरत भगत भव रोग ।
तासु दास पद दासि ह्वै, रतन लहत कत सोग ॥
कर गहि लाए नाथ तुम, बादन बहु बजवाय ।
पदहु न परसाये तजत, रतनावलिहि जगाय ॥

इस से विदित होता है कि तुलसीदास ने रत्नावलि को सोता छोड़ कर गृहत्याग किया था ।

जैस बारही कर गह्यो सोरह गौन कराय ।
सताइस लागत करी नाथ रतन असहाय ॥
सागर[7] कर[2] रस[6] ससि[1] रतन, संवत भो दुषदाय ।
पिय वियोग जननी मरन, करन न भूल्यो जाय ॥

इन दोहों से विदित होता है कि १२ वर्ष की अवस्था में रत्नावलि का ब्याह हुआ, सोलह में गौना, और २७ वर्ष में पति-वियोग हुआ । यह घटना सं० १६२७ की थी । उसी

साल उस की माता का देहांत हुआ। रत्नावलि को तुलसीदास ने उस के किसी अपराध के ऊपर नहीं त्यागा था, इस बात का रत्नावलि स्वयं एक दोहे में उल्लेख करती है। परंतु वह यह भी कहती है कि मैं ने इस प्रेम में कुछ साहस किया जिस का मुझे पश्चात्ताप है। वह साहस कदाचित् तुलसीदास की अनुपस्थिति में अपने माइके विना पूछे चला जाना था। उस ने भगवत-प्रेम से भवसागर पार करने की जो वात कही थी, वह भी किसी क्रोध में नहीं कही थी। परंतु उसे इस का पश्चात्ताप था।

हों न नाथ अपराधिनी, तऊ छमा करि देउ।
चरनन दासी जानि निज, बेगि मोरि सुध लेउ॥
धिक मो कहँ मो बचन लगि, मोपति लह्यो बिराग।
भई वियोगिनि निज करनि, रहूँ उड़ावति काग॥
हाय सहज ही हों कही, लह्यो बोध हिरदेस।
हो रतनावलि जँचि गई, पिय हिय काँच बिसेस॥

नीचे लिखे दोहे में रत्नावलि ने अपने पति तुलसीदास के चचेरे छोटे भाई नंददास का अथवा उन के पुत्र का भी ज़िक्र किया है—

मोइ दीनों संदेश पिय, अनुज नन्द के हाथ।
रतन समुझि जनि पृथक मोइ, जो सुमिरति रघुनाथ॥

मुरलीधर ने रत्नावलि और उस के पति तुलसीदास के जो चरित्र अंकित किए हैं उन का आधार उस ने परंपरागत जनश्रुति बताया है। वह कहता है—

नव[९] कर[२] वसु[८] भू[१] विक्रमीय। सूकर तीरथ बन्दनीय॥
साध्वी रत्नावलि कहानि। बिरधन मुख जस परी जानि॥
दुज मुरलीधर चतुरवेद। लिखि, प्रगटी जगहित सभेद॥

कवि ने इस कहानी को जैसे अपने वृद्ध जनों से सुना था वैसे ही संवत् १८२९ में, 'जगहित' के लिए लिख कर प्रकाशित किया। रत्नावलि की कहानी सोरों जिला एटा तथा वहां के आस पास के स्थानों में प्रसिद्ध है। उस के वनाए हुए दोहे भी वहां कुछ बड़े-बूढ़ों को कंठ हैं। 'रत्नावलि-चरित' में दिए हुए वृत्तांत की पुष्टि रत्नावलि द्वारा रचित दोहों से बहुत अंश में होती है। इस लेख में मैं ने इन्हीं ग्रंथों के आधार पर रत्नावलि का चरित्र लिखा है। कवि मुरलीधर इस चरित्र को इस प्रकार आरंभ करता है—

सती सारदहिं सीस नाय। सावित्री सिय गुनन गायं ॥
अरुन्धती दमयन्ति नारि। अनुसूया पुनि गान्धारि ॥
सती भईं जे जगत धाम। तिनहिं सबनु कहँ करि प्रनामं ॥
रत्नावलि की लिखहुँ गाथ। तेहिं चरनन महँ नाय माथ ॥
जासु चरित हैं अति गंभीर। तदपि लिखहुँ कछु धारि धीर ॥

सोरों के निकट बहने वाली भागीरथी गंगा की धारा के पश्चिम 'बदरिका' नाम का एक छोटा सा गाँव है। इस गाँव में पंडित दीनबंधु पाठक नाम के एक परम विद्वान ब्राह्मण रहते थे। इन की धर्मपत्नी का नाम दयावती था। कवि मुरलीधर ने इस स्थान की रमणीयता और शांतिपूर्ण वातावरण का सुंदर वर्णन किया है। दीनबंधु पाठक के तीन पुत्र और एक पुत्री थी। कन्या का नाम रत्नावलि था। वह कन्या अपनी बाल्यावस्था ही से तीव्र बुद्धिवाली, रूपवती और सरल स्वभाव की थी। पिता ने उसे शास्त्र, रामायण तथा पिंगल आदि का अध्ययन, बचपन से ही कराया था। बारह वर्ष की अवस्था आते-आते ही रत्नावलि एक विदुषी बन गई। वह घर के काम-काज में भी निपुण थी। मुरलीधर के शब्दों में—

तनया रत्नावलि कनीन। पति पितु कुल जिन पूत कीन ॥
जासु रूप अति मनोहारि। जनुविरंचि विरची सम्हारि ॥
जनक जननि की अति दुलारि। परिजन पुरजन सबै प्यारि ॥
जासु हँसनि चितवनि अनूप। सांति सील सुख नेह रूप ॥
गूढ़ ज्ञान की कहति बात। बड़ी बात लघु मुख दिखात ॥
बालक पन सों गेह काज। सीखि गई सब पाक साज ॥
कछुक दिनन में भई जोग। कहहिं सरसुती ताहि लोग ॥
बाल्मीकि पुनि पढ़न लागि। गई भारती तासु जागि ॥
पिंगल के कछु अंग जानि। काव्य करन की परी बानि ॥
शिव गौरी को धरति ध्यान। पूजति बहु बिधि सहित मान ॥

पिता ने कन्या को ब्याह योग्य समझ कर वर की खोज की। इधर तुलसीदास, उपनाम रामोला सोरों में नृसिंह पंडित के यहां विद्याध्ययन करते थे। तुलसीदास के बाल्यकाल ही में उन के माता-पिता का देहांत हो चुका था, और उन की वृद्धा दादी ने उन का पालन

किया था। दीनबंधु पाठक के एक मित्र ने सलाह दी कि नृसिंह की पाठशाला में पढ़नेवाला तुलसी नामक लड़का बहुत सुंदर और होनहार है। वह कन्या के लिए बहुत उपयुक्त वर रहेगा। इस सलाह को पाकर पाठक जी ने अपनी कन्या का विवाह तुलसीदास के साथ कर दिया। दादी ने तुलसीदास को बड़ी ग़रीबी और कष्ट से पाला था। एक सुशीला, रूपवती, और सेवा-परायणा पौत्रवधू को पाकर वह बहुत प्रसन्न हुई। परंतु इस सुख को वह बहुत काल तक न देख सकी—कुछ दिन बाद उस का देहांत हो गया।

तुलसीदास और रत्नावलि का प्रेम-बंधन दिन-दिन दृढ़ होने लगा। दोनों सोरों में ही रहने लगे। तुलसीदास जी बाल्यकाल ही से राम के उपासक थे। और गृहस्थ जीवन के सुखों के बीच भी उन की रामभक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती थी। पुराण आदि की कथा कह कर जीवन निर्वाह करते थे। उन के एक तारा नाम का पुत्र भी हुआ, परंतु वह बचपन में ही इस संसार से चल बसा। रत्नावलि को इस का बहुत दुःख हुआ। परंतु पति के दुलार ने रत्नावलि के इस संतति-दुःख को भुला दिया। कवि मुरलीधर कहता है—

दम्पति बस बाराह धाम। लहत मोद आठोहु याम॥
कबहु करत विद्या बिनोद। लहत सबद चातुरि प्रमोद॥
भक्तनु घर बांचहिं पुरान। तुलसि लहहिं धन और मान॥
रतनावलि तिहि चख चकोरि। मधुर बचन बोलत निहोरि॥
कबहु न अप्रिय कहति बात। कबहु न सो पति सों रिसात॥
करति सोइ जो पतिहि चाह। पति सेवन मन अति उछाह॥
तारा पति नामक सपूत। भयो तासु बुधिबल अकूत॥
गयौ, दैव गति! सुरग धाम। विलपति रत्नावली बाम॥
भयो पुत्र को अधिक सोक। धरो धीर मुख पति विलोक॥
ब्याह भये दस पंच वर्ष। इक दुख तजि बीते सहर्ष॥

विवाह के पंद्रह वर्ष बाद रत्नावलि एक दिन श्रावण के महीने में राखी बाँधने अपने मायके गई। तुलसीदास जी कहीं पुराण की कथा कहने गए थे। जब ग्यारह दिन बाद वापस आए तो उन का बिना पत्नी के, अकेले, सूने घर में जी न लगा। स्त्री की याद में रात को ही ससुराल चल दिए। भादों की काली रात थी। गंगा चढ़ी हुई थी। इस भयंकर

काली रात में गंगा को पार करके ससुर के घर पहुँचे । रत्नावलि को ज्ञात हुआ कि उस के पति आए हैं, तो उसे बड़ा विस्मय हुआ, परंतु साथ में हर्ष भी हुआ । जब वे मिले तो रत्नावलि ने पूछा, प्राणनाथ ! इस काली अँधेरी रात में भादों की उमड़ती गंगा को पार कर आप के आने का क्या कारण, और आप ने गंगा को कैसे पार किया ? तुलसीदास ने उत्तर दिया 'तुम्हारे प्रेम के सहारे' । रत्नावलि इस पति-प्रेम की प्रतीति से बड़ी प्रसन्न हुई और कहने लगी, 'स्वामिन ! मैं बड़ी भाग्यशालिनी हूं कि मुझे पति का इतना अगाध प्रेम मिला है । धन्य है प्रेम की महिमा ! मेरे प्रेम में आप ने गंगा की धार पार की, जगदा-धार के प्रेम से मनुष्य संसार-सागर से पार हो जाते है ।' रत्नावलि पंडिता थीं, काव्य-मर्मज्ञा थी । उस के मुख से इस प्रकार प्रेम-महिमा के शब्दों का निकलना स्वाभाविक था । तुलसीदास का भगवद्-प्रेमी हृदय स्त्री के मुख से इस ईश्वरोन्मुख प्रेम का संकेत पाकर राम-प्रेम से उमड़ने लगा । प्रेम के सहारे चढ़ी गंगा को पार करने के बाद, संसार-सागर पार करने का साहस प्रबल हुआ । स्त्री का प्रेम भगवद्-प्रेम में बदल गया । रत्नावलि सो गई । उसी रात को तुलसीदास सब को सोता छोड़ न जाने कहां चले गए । प्रातःकाल उन की खोज की गई परंतु कहीं पता न चला । इसी वियोग में साध्वी रत्नावलि सब शृंगारों का त्याग कर बहुत काल तक पति की पादुकाओं की पूजा करती हुई अपना जीवन व्यतीत करने लगी ।

पति पद सेवा सों रहित, रतन पादुका सेइ ।
गिरत नाव सों रज्जु तिहि, सरित पार करि देइ ॥

कवयित्री ने जैसा कि हम पीछे कह आए है इस घटना के संबंध में संवत् आदि का उल्लेख भी किया है । वह कहती है—

सागर[७] कर[२] रस[६] ससि[१] रतन, संवत भो दुष दाय ।
प्रिय वियोग जननी मरन, करन न भूल्यो जाइ ॥

संवत् १६२७ में महात्मा तुलसीदास ने वैराग्य लिया, और रत्नावलि का वियोग हुआ । रत्नावलि पर एक के बाद एक दुःख के प्रहार हुए, इसी वर्ष उस की माता का देहांत हो गया । इस समय रत्नावलि की आयु सत्ताईस वर्ष की थी । जिस का उल्लेख उस ने इस प्रकार किया है—

बैस बारहीं कर गह्यो, सोरहिं गौन कराय।
सत्ताइस लागत करी, नाथ रतन असहाय ॥

एक और दोहे में वह कहती है कि हे स्वामी आप मुझे बड़े गाजे-बाजे के साथ ब्याह कर लाए थे परंतु मुझे त्यागते समय, मुझ को जगा कर आप ने अपने पैर भी स्पर्श नहीं करने दिए।

कर गहि लाये नाथ तुम, वादन बहुत बजवाय।
पदहु न परसाये तजत, रतनावलिहि जगाय ॥

कवि मुरलीधर इस घटना का इस प्रकार वर्णन करता है।

दैव मिलन को करचो अन्त। कहूं नारि अब कहूं कन्त ॥
जहां योग तहं है वियोग। धरत भोग सो लहत सोग ॥
काल कर्म गति है विचित्र। बनत सत्रु जो रहे मित्र ॥
आजु करत नर कछु विचार। कालि होत कुछ होनहार ॥
राम लैन कहं यौवराज। बन गे तजि सो राज साज ॥
जो तुलसिहि प्रानन पियारि। सो रतनावलि दइ विसारि ॥
गुहजन सोवत करि प्रमान। अचक कियो तुलसी पयान ॥

× × ×

पति विनु रत्नावली दीन। विलपति जल बिनु जथा मीन ॥
उत्तम भोजन बसन त्यागि। सुलगति प्रिय पति विरह आगि ॥
तुलसि पादुका उर लगाय। सोवति तृन आसन बिछाय ॥

रत्नावलि कभी अपने मायके में रहती और कभी अपनी ससुराल के संबंधियों में रह आती थी। उस का जीवन केवल प्रिय-वियोग वेदना और रुदन में ही नहीं बीता। वह पति-व्रत धर्म को धारण कर ईश्वर पूजन करती थी। उस का जीवन परोपकार और स्त्री-शिक्षा में व्यतीत होता था। उस ने स्त्रियों को उपदेश दिए। उस ने अपने चरित्र को उस उपदेश को चरितार्थ करने वाला बनाया; उस के नीति, उपदेश और आत्म-अभिव्यंजना से पूर्ण दोहों के मिलने से हिंदी साहित्य-निधि में अमूल्य रत्नों की वृद्धि हुई है। इन दोहों में जो कवित्व है और निष्कपट भाव और आत्मानुभूति में पगी सद्शिक्षाएं हैं उन का वर्णन हम आगे की पंक्तियों में करेंगे।

महात्मा तुलसीदास को रत्नावलि के इस तप और प्रेमयोग का परिचय किसी के द्वारा मिल चुका था।

तुलसीदास ने रत्नावलि के लिए एक उपदेशात्मक संदेश भेजा जिस का उल्लेख कवयित्री अपने एक दोहे में इस प्रकार करती है—

मोइ दीनो संदेस पिय, अनुज नन्द के हाथ।
रतन समुझि जनि पृथक मोइ, जो सुमिरति रघुनाथ॥

एक कथा यह भी प्रसिद्ध है कि एक बार तुलसीदास के चचेरे भाई नंददास के पुत्र कृष्णदास, अपने ताऊ तुलसीदास को लिवाने के लिए काशी गए। यह घटना सोरों में प्राप्त 'रामचरितमानस' की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति के आधार पर संवत् १६४३ वि० की ठहरती है। संभव है उसी समय महात्मा तुलसीदास ने इस संदेश को अपने भतीजे 'अनुज नंद' कृष्णदास के हाथ रत्नावलि के पास भेजा हो। "दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता" से यह भी मालूम होता है, कि तुलसीदास ने एक बार अपने चचेरे भाई नंददास को एक पत्र लिखा था, और एक बार वे उन से मिलने वृंदावन भी आए थे। मुमकिन है उपर्युक्त संदेश रत्नावलि के पास नंददास द्वारा ही भेजा गया हो। पति-परायणा, सती, रत्नावलि ने अपना देह-त्याग संवत् १६५१ वि० में किया। यह संवत् 'रत्नावलि-चरित' में इस प्रकार दिया हुआ है।

भू[१] सर[५] रस[६] भू[१] बरस पूरि। सुरग गई लहि सुजस भूरि।
धनि रत्नावलि मात धन्य। तुम सम अब कहं जगत अन्य॥

इस प्रकार रत्नावलि का जन्म संवत् १६०० और मृत्यु संवत् १६५१ ठहरता है।

रत्नावलि का काव्य

जैसा कि मैं ने पीछे बताया है, रत्नावलि एक कवयित्री थी। वह अपने पति की याद में हृदय के उद्‌गारों को समय-समय पर प्रकट किया करती थी। पति-मिलन की लालसा, उस के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा, अपना पश्चात्ताप, पतिभक्ति से अनुभव-जन्य उपदेश आदि भावों को उस ने अपने काव्य में प्रकट किया है। ये भाव मुक्तक रूप में व्यक्त हुए हैं।

श्रेष्ठ कविता, स्वाभाविक भावावेश का सहज उद्‌गार रूप हुआ करती है; और

इस हृदय-प्रसूत भावावेश की गहराई जिस कविता में जितनी अधिक होगी वह कविता उतनी ही अधिक प्रभाव डालने वाली होगी। रत्नावलि के अनेक दोहों में वियोग वेदना की स्वाभाविक व्यंजना है। उस की कविता में कल्पना की बेसिर-पैर की उड़ान और अत्युक्तियां नहीं हैं। उस में सत्यता है, उस में शिवता है। वियोग में पति प्रेमयोग की साधना करती हुई रत्नावलि कभी पश्चात्ताप करती है, तो कभी अपने को धिक्कारती है, कभी आत्म-प्रबोधन से अपने मन में संतोष और साहस भरती है। इस प्रबोधन में उस ने मनुष्य जीवन के अनेक साधारण अनुभवों को व्यक्त किया है। जिन को पढ़ कर हम समवेदना और सहानुभूति के साथ यह महसूस करने लगते हैं, कि इन भावों को वास्तव—में हम भी ऐसे ही अनुभव किया करते हैं। निम्न-लिखित दोहों में उस ने अपना पश्चात्ताप प्रकट किया है—

धिक मोकहं मो बचन लगि, मो पति लह्यौ विराग।
भई वियोगिनि निज करनि, रहूं उड़ावति काग॥
भल चाहत रत्नावली, विधि बस अनभल होइ।
हों पिय प्रेम बढ़्यो चह्यो, दयो मूल तें खोइ॥
जनम बदरिका कुल भई, हों पिय कंटक रूप।
बिंधत दुखित ह्वै चलि गए, रत्नावलि उर भूप॥

इस आत्मग्लानि ने रत्नावलि के दैन्य-भाव को और भी जगा दिया। वह अनुनय-विनय करती है कि, 'नाथ! बुरी भली मैं सब प्रकार से आप की ही हूं। तो फिर आप क्यों नहीं मेरे ऊपर दया करके यहां आते हैं।'

क्षमा करहु अपराध सब, अपराधिनि के आय।
बुरी भली हों आप की, तजौ न लेउ निभाय॥
हौं न नाथ अपराधिनी, तौउ छमा करि देउ।
चरननि दासी जानि निज, वेगि मोरि सुधि लेउ॥

भिन्न-भिन्न दशाओं में प्रेमभाव के जो संचारी भाव हुआ करते हैं, उन में से अनेक भावों का हम रत्नावलि के काव्य में चित्रण पाते हैं। सब से बड़ी बात तो इस काव्य में यह है, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, कि ये भाव कवि की कल्पना नहीं है, ये कवि की आपबीती बातें हैं। इसी लिए इन शब्द-चित्रों में सच्ची वेदना है, जो पाठक के हृदय

पर गहरी छाप छोड़ती है। आत्मदशा का वर्णन करते हुए वह अभिलाषा करती है, कि क्या प्रिय की प्रेममयी दृष्टि फिर मुझे नहीं मिलेगी।

कहां हमारे भाग अस, जो पिय दरशन देयँ।
वाहि पाछिली दीठि सों, एक बार लखि लेयँ॥

वह सोचती है कि क्या मेरे मुरझाए हुए हृदय-कमल को विकसित करने के लिए प्रात कभी नहीं होगा? इस दुःख और वियोग-रात्रि को ध्वंस कर कब मेरा भाग्य-रूप सूर्य उदित होगा?

कबहुं कि ऊगे भाग रवि, कबहुं कि होइ बिहान।
कबहुं कि बिकसै उर कमल, रतनावलि सकुचान॥

इन्हीं अभिलाषाओं में कभी निराशा आकर उस के हृदय को मसोसने लगती है कभी फिर दीनता ग्रहण कर प्रिय को बुलाने की प्रार्थना करती है।

राम भगति भूषित भयौ, पिय हिय निपट निकाम।
अब किमि भूषित होहि हैं, तहं रतनावलि बाम॥
सबहि तीरथनु रमि रह्यो, राम अनेकन रूप।
जहीं नाथ आओ चले, ध्याओ त्रिभुवन भूप॥
प्रभु बराह पद पूत महि, जनम मही पुनि एहि।
सुरसर तट महि त्याग अस, गये धाम प्रिय केहि॥

इस कामना के बीच रत्नावलि ने आत्मदशा का निवेदन भी किया है जो वास्तव में बड़ा हृदयद्रावी और कवित्वमय है।

सोवत सों पिय जगि गये, जगिहु गई हों सोइ।
कबहुं कि अब रत्नावलिहि, आय जगावें मोइ॥
सुबरन संग प्रिय हों लसी, रत्नावलि सम कांचु।
तिहि बिछुरत रतनावली, रही कांचु अब सांचु॥
मलिया सींचो विविध विधि, रतन लता करि प्यार।
नहिं बसन्त आगम भयो, तब लगि परचो तुसार॥
सनक सनातन कुल सुकुल, गेह भयो पिय श्याम।
रतनावलि आभा गई, तुम बिन बन सब गाम॥

एक दोहे में रत्नावलि आत्मदशा को प्रकट करती है कि 'तुलसी' का इतना बड़ा माहात्म्य है कि उस के एक पत्ते को पाकर विष्णु भगवान् भक्तों के संसार-रोग को हर लेते है, उसी 'तुलसी' के दास की मैं दासी होकर क्यों इतना दुःख सह रही हूं। भगवान् मेरे ऊपर प्रसन्न क्यों नहीं होते !

जासु दलहि लहि हरषि हरि, हरत भगत भव रोग ।
तासु दास पद दासि ह्वै, रतन लहत कत सोग ।।

कितना प्रभावशाली भाव है ! कवयित्री की काव्य-प्रतिभा उस के हृदय की अनुभूति से मिल कैर कितनी समवेदना और काव्यानुभूति प्रकट कर रही है ! प्रिय के बिछुड़ने की वेदना और याद में हृदय की मसोस को वही हृदय जान सकता है जिस ने प्रेम किया है, वह भी साधारण प्रेम नहीं, वह प्रेम, जिस में आत्मसमर्पण और प्रियभक्ति की गहनता हो। रत्नावलि कहती है—

को जाने रतनावली, पिय बियोग दुष बात ।
पिय बिछुरन दुष जानतीं, सीय दमंती मात ।।

इसी वियोग-दुःख अवस्था में रत्नावलि को अपना काल निकट आया दीखता है, परंतु फिर भी इस 'दशम अवस्था' के बाद, उस की कामना है कि प्रिय ही आकर अपने हाथों से इस तन का दाह करें—

प्रिय वियोग दावा दही, रतन काल नगिचाय ।
निज कर दाहें आइ तन, तौ मन अबहुं सिराय ।।

प्रेमी का वियोगी हृदय जब विरह की समस्त दशाओं में होकर बीत लेता है, तब वह स्वयं प्रियमय हो जाता है। उस समय आत्म-विस्मृति में, वह विरह-दुःख के भीतर एक संतोष और चित्त की दृढ़ता को पा लेता है। इस का सब से बड़ा उदाहरण कृष्णभक्तों की गोपिकाएं हैं। आत्म-प्रबोधन के बाद मिलन की चाह दब जाती है, और सर्वत्र प्रिय की मूर्ति ही दिखाई देने लगती है। यह यद्यपि काल्पनिक संयोग है परंतु प्रेमी इसी संयोग में मग्नता और आनंद का अनुभव करने लगता है। भक्त सूरदास ने इसी अवस्था को "विरह स्वरूप परमार्थ" कहा है। रत्नावलि का वियोग भी योग में परिणत हो गया था। उस के चित्त में दृढ़ता आई, आत्म-प्रबोधन ने विरह-वेदना का स्थान धैर्य और लोकोपकार को दे दिया। वह अपने मन को समझाती है—

दुषन भोगि रतनावली, मन महं जनि दुषियाइ ।
पापनु फल दुख भोगि तू, पुनि निर्मल ह्वै जाइ ॥

पनि-वियोग के बाद रत्नावलि की माता का भी देहांत हो गया । यह बात हम रत्नावलि के एक दोहे के आधार पर कह चुके हैं। धन का अभाव, माता का विछोह आदि दुःखों के अतिरिक्त सब से बड़ा दुःख पति का अज्ञात-प्रवास था। पति के न होने पर हिंदू नारी की क्या गति होती है, यह सभी हिंदू जानते हैं। रत्नावलि ने यह सब यातनाएं झेलीं। इन यातनाओं के ताप ने उसे शुद्ध सोने के समान बना दिया ।

ज्यों ज्यों दुख भोगति तर्साहिं, दूरि होत तब पाप ।
रतनावलि निर्मल बनत, जिमि सुबरन सहि ताप ॥

और वह प्राचीन भारतीय देवियों के पतिव्रत-धर्म का आदर्श अपने सामने रख, पति-भक्ति में ही जीवन बिताने लगी ।

रतनावलि जिय जानि तिय, पतिब्रत सकति महान ।
मृत पति हू जीवित करचौ, सावित्री सतिवान ॥
पति पद सेवा सों रहित, रतन पादुका सेइ ।
गिरत नाव सों रज्जु तिहि, सरित पार करि देइ ॥

रत्नावलि के ऊपर तुलसीदास जी के इस संदेश का—"रतन समुझि जनि पृथक मोहिं, जो सुमिरति रघुनाथ"—प्रभाव उस के निम्न-लिखित दोहे में प्रकट होता है। जिस में उस ने अपने हृदय की धीरता का परिचय दिया है ।

राम जासु हिरदे बसत, सो पिय मम उरधाम ।
एक बसत दोऊ बसें, रतन भाग अभिराम ॥

आत्मचारित्रिक भावात्मक काव्य के अतिरिक्त रत्नावलि ने, जैसा कि हम ने पीछे बताया है, नीति और उपदेशात्मक काव्य की रचना भी की है। उस ने अपने अनुभव से स्त्रियों को बहुत-सी सद्शिक्षाएं दी हैं, जो भारतीय नारी-धर्म के आदर्शों को सामने रखती हैं। ये शिक्षाएं भारतीय संस्कृति की संरक्षिका युवतियों को धारण करने योग्य हैं। पति-प्रेम और पति भक्ति की उस ने बड़ी प्रशंसा की है ।

उदाहरण—

सब रस रस इक ब्रह्मरस, रतन कहत बुध लोय ।
पै तिय कहं पिय प्रेम रस, बिन्दु सरिस नहिं सोय ।।
रत्नावलि पति राग रँगि, दै विराग में आगि ।
उमा रमा बड़भागिनी, नित पति पद अनुराग ।।
पति गति, पति वित, मीति पति, पति गुरु सुर भरतार ।
रतनावलि सरबस पतिहि, बंधु बंद्य जगसार ।।

सती स्त्री के प्रति—

वन बाघिन आमिष भकति, भूषी घासु न खाइ ।
रतन सती तिमि दुख सहति, सुख हित अघ न कमाइ ।।
विपति कसौटी पै विमल, जासु चरित दुति होइ ।
जगत सराहन जोग तिय, रतन सती है सोइ ।।

बालिकाओं को शील की शिक्षा—

बाल बैस ही सों धरौ, दया धरम कुल कानि ।
बड़े भये रतनावली, कठिन परैगी बानि ।।
नयन बचन तिय बसन निज, निर्मल नीचे धारि ।
करतब रतन बिचार तिनि, ऊंचे राखि उदार ।।
ऊंचे कुल जन्में रतन, रूपवती पुनि होय ।
धरम दया गुन सील बिनु, ताहि सराह न कोय ।।

युवतियों को उपदेश—

सत्य सरस बानी रतन, सील लाज जे तीन ।
भूषन साजति जो सती, सोभा तासु अधीन ।।
घर घर घूमनि नारि सों, रतनावलि मति बोलि ।
इनसों प्रीति न जोरि बहु, जनि गृह भेद न खोलि ।।
रतन उमा सी सुख सदन, बनि सारद धरि ज्ञान ।
खलन दलन हित कालिका, बन कर धारि कृपान ।।

रत्नावलि स्त्रियों को उमा के समान गृहणी, शारदा के समान ज्ञान-पंडिता और दुष्ट अत्याचारियों के दमन के लिए कृपाण-धारिणी कालिका के समान वीरांगना देखना चाहती

है। स्त्रियों के लिए कितना उच्च, साथ ही सुलभ आदर्श स्थापित किया है !

पति के अतिरिक्त अन्यजनों को स्त्री किस रूप में देखे, यह उपदेश नीचे के दोहे में कवयित्री देती है।

रतनावलि पति छांड़ि इक, जेते नर जग माँहिं।
पिता भ्रात सुत सम लखहु, दीरघ सम लघु आँहि ॥

जो स्त्री अपने तन, मन, अन्न वस्त्र, भोजन और भवन को पवित्र रखती है वह प्रशंसनीय है।

तन मन अन भाजन बसन, भोजन भवन पुनीत।
जो राखति रतनावली, तेहि गावत सुर गीत ॥

कैसी हितकारिणी शिक्षा है !

परोपकार—

परहित जीवन जासु जग, रतन सफल है सोइ।
निजहित कूकर काक कपि, जीवहिं का फल होइ ॥
जे निज जे पर भेद इमि, लघु जन करत विचार।
चरित उदारन को रतन, सकल जगत परिवार ॥
अस करनी करि तू रतन, सुजन सराहें तोइ।
तुव जीवन लखि मुद लहैं, मरे करें सुधि रोइ ॥

वास्तव में उपर्युक्त दोहे की बातें रत्नावलि के चरित्र पर ज्यों की त्यों चरितार्थ होती हैं। ऐसी सती साध्वी का कौन स्मरण न करेगा ?

मिष्ठभाषण—

मधुर असन जनि देउ कोउ, बोलौ मधुरे बैन।
मधु भोजन छिन देत सुख, बैन जनम भरि चैन ॥
रतनावलि काँटो लग्यो, वैदनु दयो निकारि।
वचन लग्यौ निकस्यौ न कहुँ, उन डारौ हिय फारि ॥
रतन भाव भरि भूरि जिमि, कवि पद भरत समास।
तिमि उचरहु लघु पद करहि, अरथ गंभीर बिकास ॥

स्त्रियों का बाल-पोषण—

बालहिं लालहु अस रतन, जो न औगुनी होइ ।
दिन दिन गुन गुरुता गहै, साँचो लालन सोइ ।
बालहि सीख सिखाय अस, लखि लखि लोग सिहाँय ।
आसिष दें हरषें रतन, नेह करें पुलकाय ॥

साधारण शिक्षा—

रतन न पर दूषन उगटि, आपुन दोष निवारि ।
तोहि लखें निरदोष वे, दें निज दोष बिसारि ॥
करहु दुखी जनि काहु को, निदरहु काहु न कोय ।
को जानै रतनावली, आपनि का गति होय ॥
श्रम सों बाढ़त देह बल, सुष संपति धन कोष ।
बिनु श्रम बाढ़त रोग तन, रतन दरिद दुष दोष ॥
जो जाको करतब सहज, रतन करि सकै सोइ ।
बाबा उचरतु ओठही, हा हा गल सों होय ॥

उपर्युक्त विवरण में हम ने देखा कि रत्नावलि ने दो प्रकार की रचनाएं की हैं। एक आत्मचरित-संबंधी, जिस में उस ने प्रेम की वियोग अवस्था का चित्रण किया है, दूसरे नीति और उपदेश संबंधी। उपदेशात्मक काव्य में उस ने स्त्री-शिक्षा की ओर अधिक ध्यान दिया है। तुलसीदास, रहीम, वृंद, गिरधर कविराय, दीनदयाल गिरि आदि नीति और उपदेशात्मक काव्य-लेखकों ने साधारण अनुभव और सद्शिक्षा के लोकोपकारी भावों का चित्रण किया है, परंतु स्त्री-शिक्षा की ओर इन कवियों ने बहुत कम ध्यान दिया है। इस कार्य की पूर्ति रत्नावलि के काव्य से होती है। प्राचीन हिंदी काव्य की कवयित्रियों में मीराबाई, सहजोबाई, दयाबाई, ताज और शेख विशेष उल्लेखनीय हैं। इन में मीरा का काव्य सर्वश्रेष्ठ है। उस ने प्रेमकाव्य की एक अपूर्व मंदाकिनी बहाई है। उस का यह प्रेम आध्यात्मिक है, जो अति पवित्र, मधुर और सुखद है। उस के हृदय की भावुकता और अपने इष्ट परमार्थिक पति कृष्ण के साथ मिलन की लालसा और अनुभूति तुलसी, सूर जैसे संत भक्तों से कहीं अधिक गहरी है। माधुर्य भाव से भक्ति करने वाले संतों ने स्त्री-सुलभ प्रकृति में अपनी मनोवृत्ति को रख कर अपने परम आराध्य नायक के प्रति भाव प्रकट किए हैं। मीरा के पास प्रेमाकुल नारी-हृदय स्वाभाविक था। इसी से उस

की 'प्रेम-पीर' में गहराई है और मर्मस्पर्शता है। मीरा का प्रेम गोपिकाओं के प्रेम की अनुरूपता के बहुत निकट पहुँच गया है, परंतु एक बात हमें अवश्य माननी पड़ेगी कि मीरा का काव्य यद्यपि अत्यंत भावपूर्ण है और संगीतमय होने से मधुर है, परंतु उस में काव्य-कला के वाह्य उपकरण, जैसे भाषा, शैली, अलंकार आदि के सौष्टव की कमी है; और उस में लोकरक्षा के प्रति उदासीनता है। रत्नावलि के काव्य की तुलना केवल मीरा के काव्य से ही की जा सकती है। अन्य कवयित्रियों का जैसे दयाबाई, सहजोबाई, ताज आदि के काव्य उस के काव्य की तुलना में बहुत साधारण दर्जे के हैं। मीरा का प्रेम आध्यात्मिक था और रत्नावलि का लौकिक। लेकिन जो गहराई और पवित्रता हम मीरा के प्रेम में पाते है, वही गंभीरता और पुनीतता रत्नावलि के प्रेम में है। मीरा के इष्ट आराध्य-देव भगवान् कृष्ण हैं। रत्नावलि के उपास्य उस के पति महात्मा तुलसीदास हैं। दोनों प्रेम-योगिनी हैं। रत्नावलि के हृदय में राम का निवास है परंतु राम को यह स्थान तुलसी के हृदय के द्वारा मिला है।

राम जासु हिरदे बसत, सो पिय मम उर धाम।
एक बसत दोऊ बसें, रतन भाग अभिराम॥

रत्नावलि की भक्ति ईश्वर के प्रति न होकर अपने लौकिक पति तुलसीदास की ओर ही थी, परंतु उस की भावुकता और विरह-वेदना मीरा की 'प्रेम पीर' के समान गंभीर थी। मीरा का प्रेम आध्यात्मिक होने के कारण लोक-लाज की शृंखला का अतिक्रमण कर गया था। उस ने संसार का त्याग किया, इसी से हम देखते हैं कि उस ने लोकोपकारी सांसारिक भावों की ओर जिन को कबीर, तुलसी, आदि संतों ने तथा रत्नावलि ने संसार हित के लिए व्यक्त किया है, ध्यान नहीं दिया। तुलसीदास आज हिंदी भाषा-भाषी प्रांत में सब से अधिक मान्य कवि हैं, इस का कारण उन की केवल अनन्य रामभक्ति ही नहीं है, किंतु उन की रचनाओं में जो लोकोपकारी भाव विद्यमान हैं, वे भी उन्हें इतना लोकप्रिय बना रहे हैं। उन के 'रामचरितमानस' में हम लोक-अनुभूति, पथ-प्रदर्शन और मानवता का एक उच्च आदर्श पाते हैं। उन की पत्नी रत्नावलि की सद्शिक्षाएं भी स्त्रियों के लिए उसी प्रकार हितकारिणी हैं। भक्तिनी मीरा और पतिपरायणा रत्नावलि के काव्य में यही उपर्युक्त अंतर है।

रत्नावलि के काव्य की भाषा-शैली

रत्नावलि के काव्य में भावों की गंभीरता के साथ भाषा-शैली का भी सौंदर्य है, यह हम पहले कह चुके हैं। उस की भाषा ब्रजभाषा है। इस भाषा में प्रसाद और माधुर्य-गुण सर्वत्र मिलेंगे। जैसी उस समय की सरल साहित्यक ब्रजभाषा थी, उसी प्रकार की भाषा का रूप इस कवयित्री के दोहों में मिलता है। भाषा के तत्सम रूप की अपेक्षा तद्-भव रूपों का अधिक प्रयोग किया गया है। जैसे, 'तिय', 'सरबस', 'भगति', 'बिपति', 'करतब' आदि। रत्नावलि के समकालीन कवि सूर, तुलसी, नंददास आदि कवियों की ब्रजभाषा में कहीं-कहीं हिंदी शब्दों के पूर्वी रूपों का भी प्रयोग पाया जाता है। जैसे, 'अहै', 'आहि' "एहि घाट तें थोरिक दूरि **अहै**" (कवितावली—तुलसीदास), "निपट ठगोरी **आहि** मंद मुसकानि", (रासपंचाध्यायी—नंददास)। परंतु रत्नावलि की भाषा ठेठ ब्रजभाषा रूप में है। ब्रजभाषा में क्रिया से भाव-वाचक संज्ञाएं तीन प्रकार से बनती हैं। एक तो व्यंजनांत धातुओं में 'अनो', या 'अनौ' और स्वरांत धातुओं में 'नो' या 'नों' लगा कर बनती हैं। जैसे, 'चलनो' 'मारनों', 'लैनों', दूसरे 'अन', या 'अनि' और 'न', या 'नि' लगा कर जैसे 'फरकन' या 'फरकनि', 'चलन' या 'चलनि'; तीसरे 'न' अंतवाली क्रियाओं में 'न' के स्थान पर 'इबो' या 'इबौ' लगा देते हैं। जैसे, 'मारना' से 'मारिबौ', 'चलिबौ'। रत्नावलि की कविता में भाववाचक संज्ञा के ब्रजभाषा के इन तीनों रूपों का प्रयोग मिलता है। जैसे, "पिय **बिछुरन** दुख जानती", 'दऊँ **उराहनों**', "**चढ़िबौ** कठिन सुमेर", "लरिकन संग, **खेलनि, हँसनि, बैठनि** रतन इकन्त", 'बतरानि'। इसी प्रकार संज्ञा, सर्वनाम, अव्ययादि व्याकरण के रूपों में रत्नावलि की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा का रूप प्रकट कर रही है। इस भाषा में मुहाविरों का प्रयोग भी कहीं-कहीं किया गया है। जैसे 'राग में रंगना' 'विराग में आग देना', 'मन सिराना' आदि। प्रचलित कहावतों का प्रयोग बहुत नहीं है। कहीं-कहीं दो चार कहावतें प्रयुक्त हैं। जैसे—"पाँच पैंड़ आगे चले, होनहार सब ठौर"। स्थान-स्थान पर स्वाभाविक अनुप्रासों के प्रयोग ने इन दोहों की भाषा को और भी मधुर बना दिया है। जैसे—

(१) **लखि लखि चप सीतल करैं, हीतल लहैं हुलास।**

(२) **राम भगति भूषित भयो, पिय हिय निपट निकाम॥**

(३) **रतन रमा सी सुख सदन, बनि सारद धरि ज्ञान ।**

खलन दलन हित कालिका, बन कर धारि कृपान ।।

(४) **सील सनेह समेत तौ, सुरभित सुबरन सोय ।**

इस प्रकार भाषा का माधुर्य रत्नावलि के लगभग सभी दोहों में मिलता है ।

अलंकार और उक्ति-वैचित्र्य के उदाहरण भी अनेक हैं ।

रत्नावलि के काव्य में उपमा, रूपक, दृष्टांत आदि सादृश्य-मूलक तथा पर्यायोक्ति श्लेप, अनुप्रास आदि अनेक अलंकारों का प्रयोग मिलता है । परंतु इन अलंकारों का प्रयोग व्यक्त भाव के प्रभाव को वेगवान् बनाने के लिए ही किया गया है । चमत्कार-उत्पादन और उक्ति-वैचित्र्य प्रदर्शन के लिए नहीं । ये उक्तियां भावों को अनुरंजित करती हुई, पाठक के हृदय में एक अपूर्व काव्यानंद की सृष्टि करती हैं ।

उपमा—

(१) **कबहुँ रह्यो नवनीत सो, पिय हिय भयो कठोर ।**

किमि न द्रवहि हिम उपल सम, रतन फिरें दिन मोर ।।

(२) **रतन रमा सी सुख सदन, बनि सारद धरि ज्ञान ।।**

इस प्रकार अनेक दोहों में उपमा के सुंदर-सुंदर उदाहरण मिलेंगे । रूपक का व्यवहार भी कवयित्री ने बहुत जगह किया है । उन में से कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

(१) **प्रिय** 'वियोग दावा' **दही ।**

(२) 'रतन प्रेम डंडी तुला,' **पला जुटे इक सार ।**

एक बाँट पीड़ा सहै, एक गेह संभार ।।

(३) 'बिपति कसौटी' **पै बिमल, जासु चरित दुति होइ ।**

(४) **रत्नावलि** 'भव-सिन्धु' **मधि, तिय** 'जीवन की नाव' **।**

'पिय केवट' **बिनु कौन जग, षेय किनारे लाव ।।**

(५) **ऊपर सों हरि लेत मन,** 'गांठि-कपट' **उर माँहि ।**

रूपकातिशयोक्ति—

पांच तुरग तन रथ जुरे, चपल कुपथ लै जात ।

रतनावलि मन सारथिहि, रोकि रुकें उत्पात ।।

उदाहरण और अर्थांतरन्यास अलंकारों का तो कवयित्री ने वहुत अधिक व्यवहार किया है।

उदाहरण—

(१) पति पद सेवा सों रहित, रतन पादुका सेइ।
गिरत नाव सों रज्जु तिहि, सरित पार करि देइ॥

दृष्टांत—

(१) छनहुँ न करि रतनावली, कुलटा तिय को संग।
तनक सुधाकर संग सों, पलटति रजनी रंग॥

(२) बन बाघिनि आमिष भकति, भूखी घासु न खाइ।
रतन सती तिमि दुख सहत, सुख हित अघ न कमाइ।

(३) नर अधार बिनु नारि तिमि, जिमि स्वर बिनु हल होत।
करन धार बिनु उदधि जिमि, रतनावलि गति पोत॥

पर्यायोक्ति—

जासु दलहि लहि हरषि हरि, हरत भगत भवरोग।
तासु दास पद दासि ह्वै, रतन सहत कत सोग॥

कवयित्री ने "तुलसीदास" के नाम को कैसे सुंदर कूट द्वारा लिया है!

श्लेप—

सनक सनातन कुल सुकुल, गेह भयौ पिय श्याम।
रतनावलि आभा गई, तुम बिनु बन सम गाम॥

इस में "सुकुल" शब्द, दो अर्थ रखने से श्लिष्ट है। सुकुल का अर्थ शुक्ल आस्पद वाले ब्राह्मण और दूसरे अर्थ में उज्ज्वल। इसी प्रकार 'रत्नावलि' पर श्लेष दिया है। रत्नों की माला तथा स्वयं कवयित्री का नाम।

अनुप्रास के उदाहरण तो भाषा के विवेचन में हम दे चुके हैं। अनुप्रास का माधुर्य रत्नावलि के लगभग सभी छंदों में मिलेगा।

भाव के उत्कर्ष को बढ़ाने वाले अलंकारों के व्यवहार के अतिरिक्त कुछ दोहों में काव्य-उक्तियां भी बड़ी सुंदर बन पड़ी हैं। जिन में उत्कृष्ट कवि-कल्पना का परिचय मिलता है। जैसे—उपर्युक्त इस दोहे में—

मलिया सींची विविध विधि, रतन लता करि प्यार ।
नहिं बसन्त आगम भयो, तब लगि परचो तुसार ।।

तथा—

सुजन बचन सरिता समय, रतन बान अरु प्रान ।
गति गहि जे नहिं बाहुरत, तुपक गुटी परिमान ।।

रत्नावलि की जीवनी के प्रसंग में हम कह आए हैं कि कवि मुरलीधर के कथनानुसार रत्नावलि एक परम पंडिता थी । उस को सब प्रकार के शास्त्रों का ज्ञान था । इस बात की पुष्टि उस के दोहों से होती है । संसार का व्यापक ज्ञान और अनुभव उस को बहुत था, यह भी उस के दोहों से प्रकट है । परंतु कुछ दोहों में कुछ विषयों के विशेष ज्ञान का परिचय भी मिलता है । जैसे—

नर अधार बिनु नारि तिमि, जिमि स्वर बिनु हल होत ।
करनधार बिनु उदधि जिमि, रतनावलि गति पोत ।।

जैसे स्वर के बिना किसी हलंत अक्षर की स्थिति और उस का उच्चारण कठिन होता है, और जैसे समुद्र में बिना खेवक के जहाज़ की हालत होती है, वही दशा पुरुष बिना स्त्री की है । इस में रत्नावलि के 'स्वर' 'व्यंजन', आदि भाषा-विज्ञान के विषय का परिचय विशिष्ट है ।

रतन भाव भरि भूरि जिमि, कवि पद भरत समास ।
तिमि उचरहु लघु पद करहिं, अरथ गंभीर विकास ।।

इस से उस के पिंगल और कविता-ज्ञान का परिचय मिलता है ।

सवरन स्वर लघु द्वै मिलत, दीरघ रूप लखात ।
रतनावलि असवरन द्वै, मिलि निज रूप नसात ।।
जो जाकौ करतब सहज, रतन करि सकै सोय ।
बाबा उचरतु ओठही, हा हा गल सों होय ।।

इस दोहे से भी कवयित्री के व्याकरण-ज्ञान का परिचय मिलता है ।

अंत में यह कहा जा सकता है कि कवि तुलसीदास की धर्मपत्नी होने के कारण रत्नावलि के चरित्र का बड़ा महत्व है । इस के अतिरिक्त साहित्य और रचना-दृष्टि से भी रत्नावलि के दोहों को आदर मिलना चाहिए ।

उर्मिला की नींद

एक आंध्र लोक-गीत

[लेखक—श्रीयुत देवेंद्र सत्यार्थी]

वही सीता की बहन, लक्ष्मण की पत्नी, उर्मिला अपराधिनी-सी खड़ी है—रामायण के एक कोने में। वाल्मीकि ने उसे अपनाया नहीं, वरदान देना तो दूर रहा। न जानें कितनी स्मृतियां सोई पड़ी हैं इस उपेक्षिता की पलकों में! उड़ते मेघों-से उस के स्वप्न अमर रहने की ठान चुके हैं। उस की कहानी एक करुण कविता ही तो है!

यह देखिए। भवभूति अपनी अमर रचना लिए हाज़िर हैं। 'रस एक ही है, और वह है करुण',[1] यह उन का आदर्श है। 'उत्तररामचरित' का पहला अंक है। लो, लक्ष्मण आ गए; वह राम से कह रहे हैं कि चित्रकार ने निर्देश के अनुसार उन का चरित चित्र-वीथिका में चित्रित कर दिया है। 'आओ, आर्य, उन चित्रों को देखो!' राम और सीता चित्र देख रहे हैं। लक्ष्मण अर्वाचीन 'क्यूरेटर' की भाँति चित्रों का परिचय देते जा रहे हैं। सीता को संबोधन करके वह कह रहे हैं—'इयमार्या' (यह आप हैं); 'इयमार्या मांडवी' (यह आर्या मांडवी हैं); 'इयमपि वधूः श्रुतकीर्तिः' (यह वधू श्रुतकीर्ति भी है)। लो अब एक चित्र की ओर संकेत करती स्वयं सीता पूछ रही हैं—'वत्स इयमप्यपरा का' (वत्स, यह और कौन हैं?) इस पर लक्ष्मण लजा गए हैं। उन के हृदय में जो एक लहर-सी उठ खड़ी होती है, वह कितनी मार्मिक है—'अये ऊर्मिलां पृच्छन्यार्या। भवतु। अन्यतः संचारयामि' (अहो! उर्मिला को सीता जी पूछ रही हैं। तो दूसरी वस्तु इन्हें दिखाऊं)। मन में यह भाव है। लो, वह चित्र में परशुराम को दिखला रहे हैं।

---

[1] 'एको रसः करुण एव।'

उर्मिला के लिए 'उत्तररामचरित' के लेखक का यह बड़ा गूढ़, साहित्यिक संकेत है।

'वाणी'[१] की रूप-रेखा में मुझे उर्मिला का व्यक्तित्व दिखाई दिया है—"बूँद-बूँद वर्षा के रूप में आकाश के बादल धरती पर उतरते हैं—धरती को पकड़ाई देने के लिए। ऐसे ही कहीं से स्त्रियां आती हैं, पृथ्वी पर—बंधनों में बँधने के लिए। उन के लिए कम जगह की तंग दुनिया है—थोड़े आदमियों की। उतने ही में उन का अपना सब कुछ अँट जाना चाहिए—उन की अपनी सब बातें, सब व्यथाएं सब चिंताएं। इसी से उन के सर पर घूँघट है, हाथों में कंकण हैं, घर में आँगन का घेरा है। स्त्रियां सीमा-स्वर्ग की इंद्राणी हैं।......भला, किस देवता के कौतुक-हास्य की तरह अपरिचित चंचलता लिए हुए, हमारे मुहल्ले में, उस छोटी-सी लड़की का जन्म हुआ ?......वह भागते हुए झरने का पानी है, शासन के कंकड़-पत्थरों को लाँघ-लाँघ कर चलती है। उस का मन मानो वेणु वृक्ष की ऊपर की डाली का पत्ता है, हमेशा फर-फर काँपता रहता है। आज देखूं तो वह लड़की छज्जे की मुँडेर पर झुक कर चुपचाप खड़ी है—वर्षा शेष के इंद्रधनुष की तरह।......नहीं मानो चलते-चलते एक जगह ठिठक कर सरोवर हो गई है। ......आदि युग में सृष्टि के मुँह से पहली बात निकली थी जल की भाषा में, हवा के कंठ से। लाखों करोड़ों युग पार हो कर उस स्मरण-विस्मरण की अतीत बात ने आज बर्षा बादल के कल-स्वर में उस लड़की को आकर पुकारा।......इसी से वह बड़ी-बड़ी आँखें खोल कर निस्तब्ध खड़ी रही,—मानो अनंत काल ही की प्रतिमा है वह।" इस अर्वाचीन, गुमसुम वाणी की भाँति ही रघुकुल की कुलवधू उर्मिला रामायण के एक कोने में सदियों से खड़ी है।

अत्यंत निकट हो कर इस उपेक्षिता को देखने से हमारे कुतूहल की हद नहीं रहती। इस देवी की अपरिमेय और अनिर्वचनीय करुणा को आदि-कवि की अनुष्टुप्-धारा में मुनासिब स्थान क्यों न मिल सका, यह सोचते हम मन मसोस कर रह जाते हैं। बहेलिये के तीखे तीर द्वारा घायल क्रौंच पक्षी, जो अपनी प्रेयसी से दूर पथ पर पड़ा दम तोड़ रहा था, वाल्मीकि को एक संक्षिप्त, मार्मिक रूपक दे गया था। और विद्वानों का मत है कि कैकेयी की ज़िद, रावण द्वारा सीता-हरण और फिर राम और सीता के मिलने के कुछ

---

[१] **रवींद्रनाथ ठाकुर, 'वाणी', 'विशाल-भारत', जुलाई १६३२**

ही दिन बाद राम द्वारा सीता का परित्याग, जिस का कारण यह बतलाया जाता है कि प्रजा में ऐसा कुछ अनुरोध उठ खड़ा हुआ था, भाग्य के बहेलिये सरीखे तीखे तीरों के प्रतीक भर हैं। यह ठीक है कि कवि की प्रतिभा राम के विराट् रूप का अभिनंदन करने के लिए ही अग्रसर हुई थी। नारद से कवि ने पूछा था—'समग्र मूर्तिमती लक्ष्मी ने किस एक आदमी की पनाह ली है ?'[1] तब नारद ने इस के जवाब में कहा था—'देवताओं में भी ऐसा गुणी आदमी मुझे नज़र नहीं आ रहा; चाँद सरीखा जो आदमी है, जिस में ये सब गुण भरे पड़े हैं, लो उसी का हाल सुनो।'[2] चिर-परीक्षित और परिचित राम आदमी ही तो हैं; और गंभीर भाषा में कवि ने राम को पुत्र, पति, भाई, मित्र और सम्राट्, सभी रूपों में सुसंगति, आकर्षण और अनुकूलता की मूर्ति सिद्ध करते-करते आदमी से देवता बना दिया है। पर हम तो इस सागर सरीखे महाकाव्य में, जिस में अनेक व्यक्तित्वों पर प्रकाश पड़ा है, उर्मिला के प्रति उपेक्षा का भाव देख कर ही रंजीदा हैं। एक महाकवि, जो क्रौंच पक्षी के दुःख में शरीक हुआ था, उर्मिला की परवाह क्यों न कर सका ? लक्ष्मण की भ्रातृ-भक्ति का गान किया गया; फिर उस की विरहिणी पत्नी का चित्र क्यों नहीं खींचा गया ? क्यों इस देवी के प्रति कवि-हृदय में इतनी कंजूसी आ गई ? पूजा का अर्घ्य तो इस साध्वी को नहीं चाहिए था। पर कवि ने इस ओर उदार होकर देखा तो होता। सजीव स्त्रीत्व की यह मूर्ति, जिसे चौदह वर्ष के लिए पति-वियोग की व्यथा सहनी पड़ी, अपने सहज- सरल और घरेलू रूप में किसी आडंबर की मुहताज तो न थी। इस की लंबी तपस्या—संयत सौंदर्य की मातृभाषा सरीखी धरती पर स्वर्ग से कहीं ऊँचा आदर्श स्थापित कर सकने की क्षमता, काव्य-लक्ष्मी के शयन-गृह की दीपशिखा से होड़ कर रही है।

रामायण की कविता-धारा, जो कभी सूखने की नहीं, भारत के प्रत्येक प्रांत में,[3] ग्राम-ग्राम में, मौजूद है। हिंदी की कोख तुलसीदास को पाकर धन्य हुई है; बंगाल में

---

[1] 'समग्रा रूपिणी लक्ष्मी कमेकं संश्रितं नरं', वाल्मीकि रामायण, बालकांड, प्रथम सर्ग।

[2] 'देवेष्वपि न पश्यामि कश्चिदेभिर्गुणैर्युतम्।
श्रूयतां तु गुणैरेभिर्यो युक्तो नरचंद्रमाः॥' वही।

[3] 'विशाल-भारत', दिसंबर १९३४ में 'नेपाल का तुलसीदास भानुभक्त', शीर्षक मेरा लेख देखिए।

कृत्तिवास की प्रतिभा द्वारा राम का भक्तवत्सल रूप गाया गया है। प्रांत-प्रांत के लोक-गीतों में भी राम विराजमान हैं।[1]

रवींद्रनाथ ठाकुर का कथन है—"किसी समय रामायण और महाभारत इतिहास थे; किंतु आधुनिक इतिहास उस की कुटुंबिता को स्वीकार करने में अत्यंत संकोच करता है। वह कहता है कि काव्य के साथ परिणीत हो जाने से उस का (इतिहास का) कुल नष्ट हो गया है। अब उस के कुल का उद्धार करना इतना कठिन हो गया है कि इतिहास काव्य के रूप में ही उस का परिचय कराना चाहता है। काव्य कहता है—'भाई इतिहास, तुम्हारे अंदर भी बहुत कुछ मिथ्या है, और मेरे अंदर भी बहुत सी सचाइयां हैं, अतएव हम दोनों पहले के समान मेल-मिलाप कर लें।' इतिहास कहता है कि—'ना भाई, अपने अपने हिस्से का बँटवारा कर लेना ही अच्छा है।' ज्ञान नामक अमीन ने सर्वत्र इस बँट-वारा के कार्य को प्रारंभ कर दिया है। सत्य के राज्य और कल्पना के राज्य में स्पष्ट भेद की रेखा खींचने के लिए उस ने कमर बाँध ली है।"[2] जीवन का सनातन स्रोत, साहित्य के उषाकाल में जब कि देवताओं की कल्पना से सट कर लोक-मानस देश के वीरों के गान में अग्रसर होता है, फिरंदर गायकों द्वारा, जो द्वार-द्वार पर गश्त लगाते तथा गाते कभी थकते नहीं, काव्य, संगीत और इतिहास की त्रिवेणी प्रसारित होती है। जीवन-मरण की नाना तुलनाएं और उपमाएं, नाना रूपक और अलंकार, नाना छंद, अभिव्यक्ति द्वारा देश के अमर संस्मरणों में जीवित रह सकने की चेष्टा, देवताओं के सम्मुख अपार आशा के प्रतीक वीर नायक को खड़ा करने का साहस, लोक-मानस की यह सब उपज धरती पर की वनस्पति की भाँति ही फलती-फूलती है। "इतिहास लोगों के अंदर जनश्रुति के रूप में बिखरा हुआ होता है, किसी ऐतिहासिक की प्रतिभा जब उसे एक सूत्र में चारों ओर से बाँध लेती है, तब बहुत समय के अव्यक्त इतिहास की मूर्ति हमारे सम्मुख प्रकाशित हो जाती है।"[3]

और जैसा कि अनातोले फ़्रांस ने अपनी मातृ-भूमि के लोकगीतों की आलोचना

---

[1] 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका', भाग १५, संवत् १९९१ में 'उड़िया ग्राम-साहित्य में राम-चरित्र', शीर्षक मेरा लेख देखिए।

[2] 'साहित्य', १९२९, (बंबई, हिंदी ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय), पृ० १००

[3] वही, पृ० ८६

करते हुए लिखा था—"जिसे खोने के भय से हम भीत हो उठते हैं, हम उसी की परवाह किया करते हैं, क्योंकि, आह, अतीत से बढ़ कर काव्य की वस्तु दूसरी नहीं।"

यूनान में जब होमर का जन्म हुआ था, सदियों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आने वाले गीत—यूनान की जनता की कविता के वे जगमगाते हीरे, ठीक उन झरनों और पहाड़ी नालों की भाँति ही जो एक बड़ी नदी में समा कर सुसंगति लाभ करने दौड़े चले आते हैं, इलियड और ओडेसी की रचना के निमित्त अपार सामग्री दे सके थे, ऐसी यूनानी साहित्य के विद्वानों की राय है।

इलियड और ओडेसी की भाँति ही, भारत में, रामायण की रचना करते समय आदि-कवि वाल्मीकि को भी राम-संबंधी नाना लोकगीतों का सहारा मिला होगा। रवींद्रनाथ ठाकुर इस से सहमत हैं—"देश के साधारण लोगों के अंदर पहले-पहल कई भाव छोटे-छोटे काव्य बन कर चारों ओर एकत्रित हो कर चक्कर लगाते रहते हैं, उस के बाद कोई कवि उन्हीं छोटे-छोटे काव्यों को एक बड़े काव्य के सूत्र में बाँध कर उसे बृहद्रूप दे देता है। महादेव-पार्वती की कई कथाएं जो किसी भी पुराण में नहीं हैं, राम और सीता की कई कहानियां जो मूल रामायण में नहीं मिलतीं—ग्रामों के गायकों और कथक्कड़ों के मुखों से गाँवों के आँगनों में टूटे-फूटे छंदों और ग्राम्य भाषा के द्वारा न जाने कितने काल पर्यंत प्रचारित होती रही हैं। ऐसे समय जब कोई राजसभा का कवि किसी कुटिया के प्रांगण में नहीं, अपितु किसी बृहत् विशिष्ट सभा में गान गाने के लिए निमंत्रित होता है, तो वह उन्हीं ग्राम्य कथाओं को आत्मसात् करके सुंदर मार्जित छंदों में और गंभीर भाषा में बड़े रूप में खड़ा कर देता है। प्राचीन को नवीन बना कर, विच्छिन्न को एकत्रित करके दिखाने से समस्त देश मानों अपने हृदय को स्पष्ट और प्रशस्त रूप से देख कर प्रसन्न हो जाता है। इस के द्वारा वह अपने जीवन के मार्ग में एक क़दम और आगे बढ़ जाता है। ....इस प्रकार एक बड़े रूप में एक ही जगह अपने प्राणों को मिला कर ग्राम-साहित्य फल बनते ही फूल की पंखड़ियों के समान झड़ कर गिर जाता है।....अलग-अलग बिखरे भावों का एक बड़े रूप में बन उठने का प्रयत्न मानव-साहित्य में कई स्थानों में अत्यंत आश्चर्यमय विकास को प्राप्त हुआ है।....ग्रीस में होमर का काव्य और भारतवर्ष में रामायण और महाभारत। इलियड और ओडेसी में बहुत सी कथाएं क्रमशः आपस में मिल कर एक हो गई हैं।....किंतु जिस चौखट के अंदर इन काव्यों को जड़ा गया

है, वह एक ही महाकवि के द्वारा बनाया हुआ है। क्योंकि इस चौखट की गठन का अनुसरण कर के नए-नए जोड़े ऐक्य की परिधि से बाहर नहीं निकलने पाए हैं।" [१]

पर क्या राम और सीता संबंधी कहानियों में, जो रामायण की रचना के पूर्व लोकगीतों में गाई जा रही थीं, उर्मिला को कोई स्थान नहीं मिला था ? क्या लोक-मानस ने भी उर्मिला का व्यक्तित्व नहीं पहचाना था ? उर्मिला की चौदह वर्ष लंबी भावना-वेदना क्या किसी एक भी गीत में मूर्तिमान नहीं हो पाई थी ? करुण रस से अभिसिक्त, उर्मिला का हृदय अवश्य बरसा होगा। स्त्री-गीतों में उसे अवश्य निष्ठावती के रूप में गाया गया होगा। उस की विरह-वार्ता को कुछ एक ध्वनियों का सहारा भी न मिला होगा क्या ? दो चार टिकाऊ गीत तो उस के संबंध में बने ही होंगे। पर उन का क्या हुआ ?

मुझे ठीक याद है, बचपन में, परी-कथा की भाँति, रामायण की कथा का मेरे हृदय पर आधिपत्य जम गया था। ग्राम के अन्य बीसियों बालकों सहित, दशहरे से पहले, प्रति वर्ष रामलीला में , राम-बनवास की सुगठित, मार्मिक झाँकी के संपर्क में मैं एकदम जागरूक हो उठता था। वनवास खाली राम के लिए था। सीता आदर्श पत्नी थी; वह भी साथ हो ली। लक्ष्मण का आदर्श था भ्रातृ-भक्ति; वह भी साथ हो लिया। पर लक्ष्मण की पत्नी क्या आदर्श पत्नी न थी ? वह पति के साथ क्यों न गई ? वयोवृद्ध कथा-वाचक भी मेरा समाधान न कर सका। 'ओ भोले, उर्मिला का यहां अधिक काम नहीं। सीता का बखान सुनो। राम की महिमा सुनो।' ठीक समय से पूर्व ही बेर भले ही पक जायँ, शीघ्र परिपक्व हो रही हमारी सूझ कथा-वाचक महोदय को पसंद न थी। भीतर से मुझे एक संकेत मिल गया। हवा में उड़ते पानी के कण, जैसे पुष्प की पंखड़ियों का स्पर्श करते ही ओस के मोतियों में बदल जाते हैं; मेरे भाव भी एक पूरा दृश्य अंकित करने में समर्थ निकले। राम बन को चल पड़े; लक्ष्मण और सीता भी। इधर उर्मिला को मूर्च्छा आ गई। मांडवी दौड़ी आ रही है, पंखा करने; श्रुतकीर्ति उस के मुख में पानी की बूँदें टपका रही है। लो धीरे-धीरे मूर्च्छा टूटी; रघुकुल की यह कुलवधू, जिस के लाल लिबास पर स्वर्ण दीप्तिमान है, वियोग के आगामी चौदह वर्षों की वेदना का ध्यान उसे

---

[१] **'साहित्य', पृ० ८८-९**

तड़पा रहा है। इस के बाद क्या उर्मिला ने एकांतवास की पनाह ली थी ? दृश्य आगे नहीं बढ़ रहा था; और वयःसंधि समय की मेरी भावुकता लापरवाह होना भी पसंद न करती थी।

बाद में, मैं ने रवींद्रनाथ ठाकुर का उर्मिला-संबंधी लेख पढ़ा। मेरे लिए यह देववाणी से भी बढ़ कर था।

(२)

उर्मिला-संबंधी रवींद्रनाथ ठाकुर के विचार अत्यंत मार्मिक तथा जागरूक हैं:—

"कवि ने अपने कल्पना-निर्झर का जितना करुण जल है, वह सब केवल जनक-नंदिनी के पुण्याभिषेक में ही समाप्त कर दिया है। किंतु एक ओर जो म्लानमुखी तथा संसार के सारे सुखों से वंचित राजवधू सीता के पास घूँघट डाले खड़ी हुई है, उस के चिर संतप्त नम्र ललाट पर न जाने कवि के कमंडल से एक बूँद भी अभिषेक का जल क्यों नहीं पड़ा ! हाय अव्यक्त-वेदना की देवी उर्मिला, प्रातःकालीन तारा की भाँति महाकाव्य के सुमेरु शिखर पर एक बार तुम्हारा उदय हुआ था। उस के बाद अरुणालोक में तुम्हारे दर्शन नहीं हुए ! कहां तुम्हारा उदयाचल है और कहां अस्ताचल, यह प्रश्न करना भी सब लोग भूल ही गए।

"काव्य-संसार में ऐसी दो-चार स्त्रियां हैं जिन की कवियों ने अत्यंत उपेक्षा कर दी है, पर वे अमरलोक से भ्रष्ट नहीं हुई हैं। पक्षपात-कृपण काव्यों ने उन के लिए स्थान-दान में संकोच किया है, इसी से पाठकों के हृदय अग्रसर हो कर आसन बिछा देते हैं।

"किंतु इन कवि-परित्यक्ता ललनाओं में से किस को कौन अपने हृदय में आसन देगा, यह भिन्न-भिन्न पाठकों की प्रकृति और अभिरुचि पर निर्भर है। हम यह कह सकते हैं कि संस्कृत साहित्य में काव्य-यज्ञशाला की प्रांत-भूमि में जो दो-चार अनादृत होकर खड़ी हैं, उन में उर्मिला का ही प्रधान स्थान है।

"हो सकता है, इस का एक मुख्य कारण यह हो कि संस्कृत साहित्य में ऐसा मधुर नाम कोई दूसरा नहीं है। नाम को जो लोग केवल नाममात्र मानते हैं, उन के दल में मैं शामिल नहीं हूं। शेक्सपियर कह गए हैं कि गुलाब का भले ही कोई दूसरा नाम रख लिया जाय, पर उस के माधुर्य का तारतम्य नहीं हो सकता। गुलाब के संबंध में, हो सकता है, यह बात संघटित हो भी सके; क्योंकि गुलाब का माधुर्य संकीर्ण और सीमा-

बद्ध है। वह केवल कुछ स्पष्ट तथा प्रत्यक्षगम्य गुणों के ऊपर ही अवलंबित है। किंतु मनुष्यों का माधुर्य सर्वांश में ऐसा सुगोचर नहीं है। उन में से अनेक ऐसे हैं जो सूक्ष्म सुकुमार भाव से अनिर्वचनीयता का उद्रेक करते हैं। वह केवल हमारी इंद्रियों द्वारा गोचर नहीं है, उस की सृष्टि कल्पना द्वारा होती है। नाम उस सृष्टि-कार्य में सहायता करते हैं। ख़याल कीजिए कि यदि द्रौपदी का नाम उर्मिला रख दिया जाता, तो उस पंच-वीरपतिगर्विता क्षत्रिय नारी का दीप्त तेज इस तरुण कोमल नाम से पद-पद पर खंडित होता रहता।

"अतएव इस नाम के लिए हम वाल्मीकि के कृतज्ञ हैं। कवि-गुरु वाल्मीकि ने उर्मिला के प्रति अनेक अविचार के काम किए हैं, किंतु भाग्य से ही इस का नाम मांडवी और अथवा श्रुतकीर्ति नही रखा। मांडवी और श्रुतकीर्ति के संबंध में हम कुछ भी नहीं जानते, और हमें जानने का विशेष कुतूहल भी नहीं होता।

"हम ने जनकपुर की विवाह-सभा में केवल वधूवेश में उर्मिला को देखा है। उस के बाद जब से वह रघुकुल के विशाल अंतःपुर में पैठी, तब से एक बार भी उस के दर्शन नहीं किए। वही विवाह-सभा वाली वधूवेश की मूर्ति ही हमारे हृदय में अंकित हो गई। उर्मिला निर्वाक् कुंठिता और निःशब्दचारिणी होकर वधू की वधू ही रह गई। भवभूति के काव्य में भी उस की वही मूर्ति कुछ काल के लिए झलक गई थी।....रामचंद्र की इतनी विचित्र सुख-दुःख की चित्रावली में फिर कभी किसी की कुतूहल की उँगली इस मूर्ति के ऊपर नहीं पड़ी। वह तो थी वधू उर्मिला मात्र।

"जिस दिन उर्मिला ने अपने उज्वल ललाट में सिंदूरबिंदु धारण किया था, वह उसी दिन की नववधू सदा बनी रही। किंतु जिस दिन रामराज्याभिषेक के मंगलसाधनों का आयोजन करने में अंतःपुरवासिनी ललनाएं लगी हुई थीं, उस दिन यह नववधू क्या अपना घूँघट ऊपर उठा कर रघुकुल की लक्ष्मियों के साथ प्रसन्न मुख से मंगलरचना में अस्तव्यस्त नहीं थी? और जिस दिन अयोध्या में अँधेरा करके दोनों राजकिशोर सीता को साथ लेकर तपस्वियों-सा वेश बनाए वनवास के लिए बाहर हुए, उस दिन वधू राज-प्रासाद के किस एकांत कक्ष में वृंतच्युत कुसुमकलिका की भाँति धूल में लोट रही थी, यह क्या कोई जानता है? उस दिन के उस विश्व-व्यापी विलाप के भीतर इस विदीर्यमाण, क्षुद्र तथा कोमल हृदय के असह्य शोक को किस ने देखा था? जो ऋषि-कवि क्रौंचविर-

हिणी के वैधव्य दुःख को क्षण भर भी नहीं सह सके, उन्हों ने भी उस की ओर एक आँख नहीं उठाई।

"लक्ष्मण ने राम के लिए अपना अस्तित्व खो दिया था। यह गौरव-कथा आज भी भारत में घर-घर कही जाती है। किंतु सीता के लिए उर्मिला का अपना अस्तित्व खोना संसार में ही नहीं, काव्य में भी घोषित हो रहा है। लक्ष्मण ने अपने दोनों देवताओं—सीता और राम, के लिए अपने को उत्सर्ग कर दिया था और उर्मिला ने अपनी अपेक्षा अधिक अपने स्वामी को दान कर दिया था। यह कथा काव्य में लिखी नहीं गई। सीता के आँसुओं से उर्मिला एक दम बह गई।

"लक्ष्मण ने तो बारह वर्ष अपने उपास्य प्रियजनों के प्रिय कार्य करने में बिताए, पर नारी-जीवन के ये श्रेष्ठ बारहों वर्ष उर्मिला ने कैसे बिताए? सलज्ज, नवप्रेमामोदित और विकासोन्मुख हृदयमुकुल लेकर जब स्वामी के साथ प्रथमतम तथा मधुरतम परिचय आरंभ हुआ, तभी सीता देवी के अरुण-चरण-विक्षेप की ओर नम्र दृष्टि का लक्ष्य रखते हुए लक्ष्मण वन चले गए। जब वे फिरे तब वधू के चिरंतन प्रणयालोक-विरहित हृदय में क्या वह पहली नूतनता थी? पीछे सीता के सहित उर्मिला के दुःख की कोई तुलना करने लगे, इसी से क्या कवि ने इस शोकोज्ज्वला महादुःखिनी को सीता के स्वर्ण-मंदिर से बाहर कर दिया—जानकी के पादपीठ के पास भी उसे स्थान देने का साहस नहीं किया?"[१]

मुझे याद है, एक बार लाहौर में स्व० कविवर इक़बाल के साथ भारतीय साहित्य पर वार्तालाप करते हुए मैं ने कहा था—"जान पड़ता है उर्मिला निरी छुई-मुई ही थी। और शायद वाल्मीकि ने जान-बूझ कर अपने उदास दिल को उसे छूने से रोक रक्खा था। वरना और क्या वजह हो सकती है। जगह की कमी तो न थी। इतनी बड़ी रामायण में उस औरत की तसवीर मौजूद न हो जिस के ख़ाविंद ने राम के हुक्म को, उन की ख़िदमत को अपनी ज़िंदगी का मक़सद समझा हो, सचमुच यह एक भारी बेइंसाफ़ी है। और फिर हम यह नहीं जानना चाहते कि उर्मिला किस रंग की साड़ी अधिक पसंद करती थी, माथे

---

[१] **रवींद्रनाथ ठाकुर, 'प्राचीन साहित्य', १९२३ (बंबई, हिंदी ग्रंथ-रत्नाकर) पृ० ८९–९३**

पर खुश होकर कौन सा ज़ेवर पहनती थी, रंग की वह गोरी थी यां ज़रा साँवली; हम तो जानना चाहते हैं उस के दिल का हाल, चौदह साल की उस की आपबीती। आँसू बन बन बहते अपने दिल का मिलान सरयू से न किया होगा उस ने कभी क्या? पामाल अरमानों के बावजूद किस तरह दिल कड़ा कर लिया था उस ने? या क्या उस का दिल एकबारगी बुझ गया होगा? यह सब हम, न जाने क्यों, पता न चलने पर भी पूछने चलते हैं। ख़ाविंद की याद ने उसे हौसला दिया होगा, हम सोचने लगते हैं। रोते-रोते कभी कलेजा मुँह को आ जाता होगा, तो कौन उस की ढारस बँधाता था? घर में किसी के मुँह से लक्ष्मण का नाम सुन कर वह क्या सोचने लगती थी? वफ़ा की देवी बनी वह क्या-क्या गीत गा उठती थी? बरसात में, हां, हर साल बरसात में वह क्या-क्या मल्हार गाती थी? और सरयू के बहते पानी में उमड़ते बादलों के साये देख कर ख़ाविंद की याद में दिन गिनती उस दुलहन के दिल में कौन सी पुरानी याद नई हो उठती थी? और फिर हैरानी की हद नहीं रह जाती, जब चौदहवां साल ख़तम होने पर राम लक्ष्मण सीता और उन के कई नए दोस्त अयोध्या में लौटे वाल्मीकि हमें लक्ष्मण और उर्मिला की मुलाक़ात का बेहद ज़रूरी नज़ारा भी हमें नहीं दिखाते।" कविवर इक़-बाल इस पर कह उठे थे—"यह मैं भी कहूँगा कि उर्मिला के साथ वाल्मीकि की क़लम से भारी बेइन्साफ़ी हुई है। और मैं समझता हूं उर्मिला का हक़ उसे मिल कर रहेगा। मान लीजिए मैं आज रामायण नई रौशनी में लिखूं—और ऐसी ज़िंदा कहानियां जो एक तरह से मुल्क की तवारीख़ से पनपती हैं हमेशा से शायरी की नई से नई पोशाक पहनने की आदी रही हैं, तो मैं ज़रूर उर्मिला को उस का हक़ दूं, जितनी जगह वह माँगे (और वह देवी भला माँगेगी क्यों, मतलब, जितनी मैं समझूं कि उसे मिलनी ही चाहिए) उतनी जगह मैं उसे खुशी से दूं।"

(३)

संसार की बहुत-सारी कविता विरह का गान है। अनगिनत हृदयों को लाँघता हुआ विरह का गान, स्थान-स्थान पर निमंत्रण पाता हुआ, अपनी तलाश में अग्रसर होता रहता है। और जैसा कि एक अंग्रेज़ साहित्य-सेवी ने कहा है—'एक-एक आदमी एक-एक विच्छिन्न द्वीप ही तो है; आदमी-आदमी के बीच में बेअंदाज़ नमकीन आँसुओं का सागर मौजूद है। दूर से जब एक-दूसरे की ओर निहारता है, तो सोचता है, अहो हम

तो एक ही बड़े मुल्क के निवासी हैं; बीच में का यह समस्त रुदन किसी की बददुआ से झाग बन कर उमड़ पड़ा है !' प्रत्येक देश में, एक-एक भाषा में, स्त्री और पुरुष अपने बीच में एक बेरोक खिचाव महसूस करते जीवन की सड़क पर चले जा रहे हैं। कवि के शब्दों में, 'पक्षी-सी आँख देखने के लिए दौड़ती है';[1] फिर कभी-कभी एक हृदय दूसरे को पुकार कर कहता है—'किस ने निकाल बाहर किया मुझे तुम्हारे हृदय के भीतर से ?'[2] एक हृदय दूसरे हृदय का चित्र अपने भीतर की चित्रशाला में स्थापित करने का चिर अभ्यस्त है; पक्षी-सी उड़ती आँख अपनी प्रिय वस्तु का प्रतिरूप उतार लाती है। और यह प्रतिरूप असल वस्तु से भी प्रिय हो उठता है। स्त्री का हृदय पुरुष की मूर्ति को स्थापित कर के एक अनुपम पूर्णता को प्राप्त करता है। और पुरुष भी, शायद, अपने शरीर से बढ़ कर अपने हृदय को ही, जो प्रेयसी के भीतर बसता है, अपना सत्य रूप मानता है।

यह ठीक है कि लक्ष्मण चौदह साल उर्मिला से दूर रहे, पर उर्मिला के हृदय में उन की जो मूर्ति बन गई थी उसे तो वह अपने साथ नहीं लेते गए थे। उन का यह प्रतिरूप उसे ज़िंदा रख सका था; बार-बार वह इस पर प्रेम का रंग मलती थी और हर बार वह यह देख कर हैरान रह जाती थी—यह कल्पना से परे की वस्तु नहीं, कि उस के आँसुओं ने सब रंग बहा डाला है। फिर भी वह एकदम उदासीन हो गई थी, यह बात नहीं। प्रतिरूप में जान डालने की क्रिया ने ही तो उस चिर-विरहिणी को, एक तरह से, अपना दर्द भूल-भूल कर जीवित रह सकने में समर्थ किया था।

स्त्री और पुरुष के बीच का यह विरह कल्पना को नए-नए पंख दिया करता है। जीवन मरण की द्रुतगामिनी धारा में बहता हुआ मनुष्य इसी विरह का अमर इतिहास कहता जाता है। संसार की कविता, जहां देखो वहीं, आँसुओं से भीगी पड़ी है। सुख भी है; पर थोड़ा। देखे अनदेखे दुःख के आँसू कितने बेअंदाज़ हैं ! मिलन अति थोड़ा है। विरह एकदम विराट्। विरह का एकतारा तो बजेगा ही। मिलन लाख बार विरह की भाव-रचना का द्वार बंद करे, विरह की देववाणी तो बार-बार सिर उठाएगी ही। विरह

---

[1] बंग-कवि बलरामदास की एक कविता से: 'देखिवारे आँखि-पाखि धाय !'
[2] बलरामदास की एक दूसरी उक्ति: 'तोमार हियार भितर हैते के कैल बाहिर ?'

में ही प्रेम की शत-प्रतिशत सत्य उपलब्धि होती है, इसी अनुभूति को मनुष्य ने, प्रत्येक देश में, प्रत्येक भाषा में, गाया है । "रास्ते के दोनों ओर प्रत्येक घर में", रवींद्रनाथ ठाकुर का अनुभव है, "....बिल्कुल तुच्छ लोगों के छोटे-छोटे कार्यों के पीछे राम लक्ष्मण आ कर खड़े रहते हैं, अंधकार भरे घर के अंदर पंचवटी की करुणा-मिश्रित हवा बहती है । ....मनुष्य अपनी वास्तविक सत्ता को भावों की सत्ता के द्वारा अपने चारों ओर और भी बहुत दूर तक बढ़ा कर ले गया है । उस की वर्षा के चारों ओर कितनी गानों की वर्षा, काव्यों की वर्षा, कितने मेघदूत और कितने विद्यापति विस्तीर्ण हो रहे हैं, अपने छोटे से घर के सुख-दुःखों को उस ने कितने चंद्र-सूर्यवंशीय राजाओं की सुख-दुःखों की कहानी के अंदर बड़ा बना लिया है; उस की लड़की के चारों तरफ़ पार्वती की करुणा सर्वदा संचरण करती रहती है; ....इस प्रकार लगातार मनुष्य अपने चारों ओर जिस विस्तार की सृष्टि करता है, उस के द्वारा बाहर मानो अपने को स्वयं फैला कर, अपने आप को स्वयं बढ़ाता जा रहा है ।"[1] "प्रत्येक मनुष्य के बीच में अनंत विरह है । हम लोग जिस से मिलना चाहते हैं, वह अपने मानस-सरोवर के अगम तीर पर निवास कर रहा है । वहां केवल कल्पना पहुँच सकती है ।....हे निर्जन गिरिशिखर के विरही, स्वप्न में जिस को आलिंगन करते हो, मेघ द्वारा जिसे संवाद भेजते हो, उस से तुम्हारा संगम शारदीय पूर्णिमा की रात में होगा—ऐसा आश्वासन तुम्हें किस ने दिया ? तुम्हें चेतना-चेत का कुछ ज्ञान नहीं है । हो सकता है कि सत्य और कल्पना का भेद भी भूल गए हो ।"[2]

एक विरहिणी विलाप ही करे, यह ज़रूरी नहीं है । हो सकता है वह अपने ग़म को अंदर ही अंदर पी जाय, यह समझ कर कि रोने से भी आख़िर कौन उस के मर्म को देखेगा, कौन इसे सांत्वना देने की क्षमता पाएगा । उर्मिला की नींद,[3] एक आंध्र लोक-गीत, जिस की आंतरिक महत्ता समझने के लिए इतनी बड़ी पृष्ठभूमि तैयार करनी पड़ी

---

[1] **'साहित्य', पृ० ६३–४**

[2] **'प्राचीन साहित्य', पृ० ६८–७०**

[3] **'ऊर्मिलादेवी निद्रा' (ऊर्मिलादेवी की निद्रा) के नाम से यह गीत आंध्रदेश में एक असीम आस्था सहित गाया जाता है । हिंदी उर्मिला के स्थान पर संस्कृत 'ऊर्मिला' ही तेलुगू भाषा को प्रिय है, यह प्रत्यक्ष है; और इस का "ल" भी कोमल उच्चारण वाला है, जैसा कि प्रायः मराठी और पंजाबी आदि भाषाओं में अनेक शब्दों के उच्चारण में शामिल है ।**

है, उर्मिला की चौदह वर्ष की अटूट नींद का गान है। यहां उर्मिला रोई नहीं; चौदह वर्ष का दुरूह पति-विच्छेद उस ने निद्रा देवी की गोद में ही काट लिया; अपनी इस तपस्या से ही उस ने आंध्र देश की नारी से इतनी श्रद्धा पाई है, इसी से वह खाली उर्मिला न रह कर सचमुच की देवी बन गई है। आँसू उस की आँखों में उस समय आए थे जब लक्ष्मण ने उसे जगाया था। मांगलिक संयम की प्रतीक, उस की नींद उस के आँसुओं की पृष्ठभूमि में भरे हृदय के वेग को कितना गौरवमय बना डालती है! आँसुओं का सत्यतम रूप ही एक सती की आँखों में तैर सकता है।

युक्तप्रांत के एक लोकगीत में भी मैं ने उर्मिला की आँखों में आँसू देखे हैं। उर्मिला का नाम उस गीत में मौजूद नहीं; वहां वह केवल लक्ष्मण की पत्नी के रूप में ही चक्की पीसती हमें दिखाई दे गई है। जाँत (चक्की) पर आटा पीसते या दाल दलते समय स्त्री ने उर्मिला और लक्ष्मण के मिलन का ध्यान कर के एक सुंदर चित्र अंकित कर दिया है। किसी स्वप्न-जगत् में विचरते, देववाणी की स्पर्द्धा से गाए हुए भावचित्र-सा यह गीत साहित्य की एक अनूठी वस्तु है। जाँत-घर के साथ उर्मिला के आँसुओं का जो चिरस्थाई मेल यहां दिखाई पड़ रहा है उस से जाँत का इतिहास अतीत को छूने में समर्थ हुआ है। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि गाँव की नारी ने लक्ष्मण-पत्नी को गीत में उतारते समय अपने निजी दुःख की ही अभिव्यक्ति की है। मन की परतों में समा जाने वाले, इस गीत के करुण रस का आस्वादन कर के ही हम आगे बढ़ेंगे:—

केरे देले गोहुमां हो रामा, केरे देले चँगेरिया?
कउनी बइरिनिआ हो रामा, भेजल जँतसरिआ?
सासु देले गोहुमां हो रामा, ननदी चँगेरिया!
गोतनी बइरिनिआ हो रामा, भेजल जँतसरिया!
जँतवो न चलई हो रामा, मकरी न डोलइ!
जाँता के धइले हो रामा, रोवइ जँतसरिआ!
घोड़वा चढ़ल हो लछुमन करइ पुछसरिआ—
केकरी तिरिअवा हो रामा, रोवइ जँतसरिआ?
तोहूं नएं जानल हो लछुमन, तोहरे तिरिअवा?
जँतवा के दूखे हो रामा, रोवइ जँतसरिआ!

घोड़वा जे बँधलन हो लछुमन, बर रे बरुनिश्रा—
झरसि पइसल हो लछुमन, नैना पोंछे लोरवा !
केरे देले गोहुमां हो साँमर, केरे देले चँगेरिश्रा ?
कउनी बइरिनिश्रा हो रामा, भेजल जँतसरिश्रा ?
सासु देले गोहुमां जी परभू, ननदी चँगेरिश्रा !
गोतनी बइरिनिश्रा जी परभू, भेजले जँतसरिश्रा !
जँतवो न चलइ जी परभू, मकरी न डोलइ !
जाँता के धइले जी परभू, रोवौं जँतसरिश्रा !
बहिश्रां पकरलन लछुमन, जँघिया बइठश्रोलन !
श्रपने गँमछवे हो लछुमन, पोंछें नैना लोरवा ![1]

" 'अहो राम ! किस ने दिया गेहूं ? किस ने दी डलिया ?
किस बैरिन ने, अहो राम, (तुझे) जाँत-घर में भेजा ?'
'अहो राम ! सास ने गेहूं दिया, ननद ने दी डलिया !
अहो राम ! जेठानी बैरिन ने (मुझे) जाँत घर में भेजा !
अहो राम ! जाँत नहीं चल रहा, न हिलती है मकरी !
जाँत पकड़ कर, अहो राम, (पिसनहारी) जाँत-घर में रो रही है !'
अहो राम ! घोड़े पर चढ़ा लक्ष्मण पूछताछ कर रहा है—
'किस की स्त्री, अहो राम, जाँत-घर में रो रही है ?'
'तुम नहीं जानते, श्रो लक्ष्मण, तुम्हारी ही स्त्री तो है !
जाँत के दुःख से, अहो राम, वह जाँत-घर में रो रही है !'
घोड़े को लक्ष्मण ने बड़ की जटा से बाँध दिया है

---

[1] रामनरेश त्रिपाठी, 'कविता-कौमुदी', पाँचवा भाग, (ग्राम-गीत), संवत् १६८६, (प्रयाग, हिंदी-मंदिर), पृ० ३३०–१। गीत का अनुवाद मैं ने, बहुत कुछ, नए सिरे से किया है। समस्त पुस्तक में उर्मिला पर एक ही गीत रहने पर भी (यह बात शिकायत के रूप में न समझी जाय), त्रिपाठी जी ने इसे भूमिका के विशेष प्रकाश में रख कर उर्मिला की याद में दो शब्द लिखने का कष्ट नहीं किया। उर्मिला के हिमायतियों को क्या यह उर्मिला के प्रति उपेक्षा का भाव लगेगा ? ऐसा सुंदर गीत हमारे लिए ढूंढ़ निकालने का श्रेय तो उन्हें प्राप्त रहेगा ही।

झपट कर लक्ष्मण भीतर चला गया, (पिसनहारी) के आँसू पोंछ रहा है।
'किस ने गेहूं दिया, ओ साँवली, किस ने दी डलिया ?
किस बैरिन ने, अहो राम, तुझे जाँत-घर में भेजा ?'
'ओ स्वामी, सास ने गेहूं दिया, ननद ने दी डलिया !
जेठानी बैरिन ने, ओ स्वामी, मुझे जाँत-घर में भेजा !
जाँत चलता नहीं, ओ स्वामी, न हिलती है मकरी !
ओ स्वामी, जाँत पकड़ कर मैं जाँत-घर में रो रही हूं !'
बाँह पकड़ लक्ष्मण ने उसे अपनी जाँघ पर बिठा लिया,
अपने गमछे से लक्ष्मण उस की आँखों के आँसू पोंछ रहे हैं !"

सास, ननद तथा जेठानी की ओर जो संकेत यहां दीख रहा है, गाँवों के सम्मलित कुटुंब में अनादृता वधू की करुण कहानी भरसक कह सका है। मूर्तिमती उर्मिला, आज हज़ारों वर्ष बाद भी, पिसनहारियों की सखी है। अतीत के घनीभूत भाव, आज भी, आँसुओं में तैर रहे हैं! साँवली, छुईमुई-सी उर्मिला को स्वयं लक्ष्मण ही नहीं पहचान सके थे! इस का कारण शायद यह हो कि जाँत-घर के बाहर से लक्ष्मण उसे ठीक-से देख नहीं पाए थे; पर उन्हें उस की आँखों के आँसू कैसे नज़र आ गए थे ? या क्या उर्मिला ज़ोर से विलाप कर रही थी ? गीत का लक्ष्मण भी निरा गाँव का आदमी ही तो है; गमछे का शौक़ीन; अब वह इसी से नारी के आँसू पोंछ रहा है। इस से क्या उर्मिला के आँसू झट रुक गए होंगे ? लक्ष्मण भी चुप रहे; उर्मिला भी। उपमाएं यहां नहीं, न अलंकार। पर रस तो है इस चित्र-सुलभ गीत में। और रस भी अति स्वाभाविक। शुरू में प्रश्नोत्तर का जो क्रम बँधा था उस में फिर मूकता आ गई। हृदय की बात जैसे गमछे के सपुर्द की गई हो। मूक सही, गमछा अपने काम में लगा है, पर उस की गति भी तो मूक हाथ पर निर्भर है। उर्मिला अब भी रो रही है! जाँत का गीत आज भी उस के आँसुओं से भीग रहा है।

(४)

'उर्मिला की नींद' अब हमारे सामने है।

आंध्र देश की निष्ठावती स्त्रियां इसे रस लेकर गाती हैं। सैकड़ों वर्षों को पार करके यह गीत विकसित हुआ है; इसे स्त्रियों के हृदय में एक अपूर्व गौरव मिला है।

पर, जैसा कि कालिदास ने अपनी कविता संसार के सम्मुख रखते हुए कहा था, 'कोई कविता न पुरानी होने से प्रशंसनीय हो सकती है, न नई होने से निंदनीय; संतजन उस की परीक्षा करके उसे ग्रहण करते है, और कम समझ दूसरों के कहे पर विश्वास कर लेते हैं', इस गीत के वास्तविक मूल्य की परीक्षा करने के बाद ही इसे उत्तमतम भारतीय लोकगीतों में स्थान दिया जाना चाहिए।

शब्दों की अपार शक्ति, जो विकसित आत्मा की प्रतीक होने पर, बिना किसी मस्तिष्क-चमत्कार के, बिना पिंगल-ज्ञान के, सदा से हृदय की मातृ-भाषा का आशीर्वाद प्राप्त करती आई है, 'उर्मिला की नींद' में प्रत्यक्ष है। यह एक झरना है; पहाड़ चीर कर फूट पड़ा है। मस्तिष्क की भाषा इस के पास नहीं मिलने की; हृदय के बोल—सहानुभूति के चिर सखा, इस का सर्वस्व हैं। उर्मिला का विश्वास था कि भले ही लक्ष्मण उसे छोड़ कर वन को चले गए, एक दिन वह लौट कर उस से मिलेंगे ही, पर विरह की पीड़ा को सुलाती वह स्वयं सो गई; उसे आशा थी कि लक्ष्मण स्वयं आकर उसे जगाएगा; इस बात को खोल कर, गीत में प्रधानता नहीं दी गई। पर, इस से क्या, स्त्रियां इसे जानती हैं।

शब्द आदमी खुद बनाता है; हृदय के जादू से वह एक-एक शब्द के पीछे खुद मौजूद रहता है। सुख-दुःख की बाह्य परतों के भीतर लहू जिस चाल से बहता है, वही शब्दों को आगे-पीछे करने में जुटी रहती है; इन्हीं शब्दों में थिरकन का समावेश होता है, रस का जन्म होता है। हृदय और भाषा के पूर्ण सहयोग से—शब्दों की साधना से, लोक-जीवन की कोख से अनेक ऐसे गीतों के बीच में जिन्हें अक्षय आयु नसीब नहीं होती, कभी-कभी ऐसे गौरव-पूर्ण गीत का जन्म भी हो जाता है, जो युगों को पार करता, मृत्यु से होड़ लेता, अग्रसर होता है। 'उर्मिला की नींद' ऐसा ही चिरस्थाई गीत है।

चौदह वर्ष अयोध्या से दूर रहने के बाद, राम दरबार में बैठे हैं। यहीं से गीत शुरू होता है—

श्री राम भूपालड़ू, पट्टाभिषिक्तुड़इ कोलुवुण्डगा,
भरत शत्रुघ्नुलपुड़ू, सौमित्री वरुसा सेवलु सेयगा;
मारुतात्मजुलप्पुड़ू, राघवुला जेरिपादमु लोत्तगा,
सुग्रीवुड़ा कोलुवुलो, कूर्मितो नम्रुड़इ कोलुवुण्डगा;

तुम्बुरुलु नारदुलुनू, ऐतेञ्ची निलचि गानमु सेयगा ,
रम्भादुला सभाललो, इन्ति शुभ रम्यमुना नाटयमाड़ा ;
सनकादि मौनीन्द्रुलू, कोलुवुलो शास्त्रमुलु तर्किञ्चगा ,
सकला देवतलु गोलुवा, उदयाना पुष्पवर्षभु गुरिसेनू !

"सम्राट् श्री राम, अभिषेक के पश्चात्, दरबार में बैठे थे ।
भरत, शत्रुघ्न और लक्ष्मण[1] समुचित रूप से (राम की) सेवा में लगे थे;
हनुमान[2] तब राघव के पैर दबाने लगा;
सुग्रीव इस दरबार में प्रेम से नम्र हुआ खड़ा था;
तुंबुरु और नारद वहां पर उपस्थित हो कर खड़े-खड़े गान कर रहे थे;
रंभा और अन्य अप्सराएं—शुभ सुंदरियां, नृत्य कर रही थीं;
सनक तथा अन्य श्रेष्ठ मुनि-गण उस दरबार में शास्त्रीय तर्क कर रहे थे;
अब सब देवता-गण सेवा में लगे थे, उस सुबह वहां पुष्प-वर्षा हुई !"

यह दृश्य रूढ़ि पर आश्रित है । इस में काफ़ी खींचतान आ गई है, यह प्रत्यक्ष है । यह ठीक है कि रूढ़ि अनेक बार कल्पना के बचपन में उस की धात्री-रूप से सेवा किया करती है, पर जिस देव-अंश का प्रवेश, इस के द्वारा, रघुबर राम के दरबार में हुआ है, उस ने उन के मानव-अंतस्तल को तो हमारे सम्मुख आने ही नहीं दिया । तुंबुरु और नारद अलग गान कर रहे हैं । रंभा और उस की हमजोलियों ने अलग सौंदर्य और नृत्य का सामान बना रक्खा है । सब देवता भी सेवा में हाज़िर हैं । इस पर भी मुनियों की शास्त्रचर्चा में विघ्न नहीं पड़ा ! हमारा ख़याल था राम मुस्कराएंगे, दो-एक शब्द कहेंगे; पर वह कुछ नहीं बोले; उन के दरबार पर स्वर्ग से पुष्प-वर्षा होते देर न लगी !

लो, जनकनंदिनी आ रही हैं:—

सभयन्ता कलय जूचि, येतेञ्चे सन्तोषभुना जानकी ,
पतिमुखमु जूचि निलची, विनयमुन पट्टी अञ्जली अक्कुना ;

---

[1] मूल में लक्ष्मण के लिए 'सौमित्री' आया है ।
[2] हनुमान को मूल में 'मारुतात्मज' कहा गया है ।

देवदेवेन्द्र विनुमा, विन्नपमु तेलिपेनु चित्तगिम्पू ,
धराशेषुड़वध रिञ्चा, श्रोक पिन्ना मनवि गद्दनि पलिकेनु ;
मुन्वु मन मड़वु लकुनू, पोगानु मुद्दु मरदी वेन्टनू ,
पयन मइरागा जूची, तन चेलिय पयनमायेनु ऊर्मिला ;
वद्दुनी वुण्डु मनुचू, सौमित्री मनला सेविम्पा वच्चे ,
नाड़ु मोदलुगा शय्यपइ, कनुमूसि नाति पवलिञ्चु चुण्डे !

"समस्त दरबार की श्रोर देख कर इतमीनान से सीता श्रंदर श्राई ।

पति के मुख की तरफ़ देख कर, खड़ी हो कर, विनयपूर्वक शीघ्र श्रंजली बना कर वह बोली—

'हे देव, हे देवेंद्र, सुनो; मैं श्रपनी विनती करूँगी, विचार करना,

(जैसे कि) धरा को थामनेवाला शेषनाग भी सुनेगा; मेरी एक छोटी-सी विनती है।

तब जब हम वन को गए थे, प्रिय देवर के साथ,

उसे चलते देख उस की पत्नी उर्मिला भी चलपड़ी थी।

नहीं, तुम यहीं रहो, उसे यह कह लक्ष्मण हमारी सेवा में श्रा गया था ।

उस दिन से वह नारी, श्राँखें मीचे श्रपने पलंग पर सोई पड़ी है !"

सीता के शब्दों में हम ने सीता का हृदय देख लिया है । गीत में यह नहीं बताया गया कि जनकनंदिनी ने किस वर्ण की साड़ी पहन रक्खी थी, कौन-कौन श्राभूषण सुंदरता बढ़ा रहे थे, कैसा केश-विन्यास किया गया था; नपा-नपाया, सरल, सीधा वर्णन गीत की स्वाभाविकता का परिचायक है ।

सीता के शब्दों का राम पर बहुत श्रसर होता है । श्रौर वह लक्ष्मण को उर्मिला के पास जाने की श्राज्ञा देते हैं:—

यिकनइना यानतिच्ची, तम्मुनी इन्वुमुखिकडकम्पुड़ी ,
प्राण सति ईलागुना, कूर्मितो पलुकङ्गा अिनिरामुड़ू ;
तलपोसी चूड़ानेन्ते, तन मदिकि तगुविचारमु बुट्टेनू ,
श्राश्चर्य पड़ि रामुड़ू, प्रक्कुना श्रन्ना लक्ष्मणा रम्मने ;
रम्मि लक्ष्मण प्रक्कुना, युचितमा रमणि नेड़बासियुन्टा ,

तड़ु. वाये यिकनैननू, प्रियुरालि धग्गरकु नीवुबोई ;
सरस सल्लाप मुलचे, दुःखोप श्रमलेल्ला मान्पवइया !

" 'अब भी हुक्म दे कर अपने भाई को कृपया उस चंद्रमुखी के पास भेज दो !'
पत्नी प्रेमपूर्वक जब यों बोली, सुन कर,
इस पर विचार कर, राम के हृदय में यथेष्ट दुःख पैदा हुआ ।
दंग होकर राम लक्ष्मण से बोले—'आओ तो, भइया लक्ष्मण,
जल्द आओ, लक्ष्मण, उस सुंदरी से परे रहना वाजिब है क्या ?
बहुत समय हो गया ! अब भी अपनी प्रेयसी के पास जाकर,
रसीली बातचीत से उस की विरह-पीड़ाएं शांत करो, जाओ !' "

लक्ष्मण एक ख़ामोश आदमी है; चुपचाप भाई के वचन सुनता है; अपनी करनी पर वह पछताता नहीं । लौट कर उस ने उर्मिला की ख़बर-सार तो ली होती ! जैसे वह केवल भाई भर हो, पति नहीं ! अब भाई का हुक्म हुआ, वह चल पड़ा :

अन्ना माटलकु रामा अनुजड़ू महाप्रसादमनुचू ;
अनिपिञ्चुकुनि अक्कुना, सभाविड़िचि चनुदेञ्चे तन गृहमुकू ।

—"भाई के शब्द सुन राम का भइया 'महाप्रसादम्'[1] कह कर,
अब जब कि उन से यों कहलवा लिया, दरबार से विदा ले कर महल की ओर चला ।"

हम भी लक्ष्मण के साथ चल पड़ते हैं । अब उस चिर-विरहिणी, चंद्रमुखी उर्मिला को देखने का समय क़रीब है । हमारा कुतूहल जाग उठा है:—

वच्चे लक्ष्मणुड़ु चलवा, सत्रम्पु वाकिल्लु गड़चिवच्ची ,
केलि गृहमु जोच्चियू, लक्ष्मन्ना कीरवाणिनि जूचेनू;
कोमली पान्पु पइना, तोड़ावत्ति कोका सवरिञ्चि वेगा ,
तोड़ुगुला धरिञ्चि, वेगा चल्लनी तल्लु पूरिञ्चि मेना ;
प्राणनायिकि पान्पुना, कूर्चुण्डि भाषिञ्चे विरहम्मुना ,

---

[1] आजकल जैसे आज्ञा पाते समय सम्मानपूर्वक 'बहुत ठीक' कहते हैं; यहां बड़ों की आज्ञा की तुलना देवता के प्रसाद से की गई है ।

कोम्मनी मुद्दु योगमू, सेविम्पा गोरिनाड़े चन्द्रुडू ;
ताम्बूलमेड़ावासिना, वोप्पेने नगुमोवि चिगरू कोनगा ,
अमृतधारलु कुरियगा, पलुकवे आत्मा चल्लना सेयवे ;
चिटितामरलु बोलेड़ी, पादमुला कीलिञ्चवे स्वर्णमू !

"लक्ष्मण आया, संगमर्मर की धर्मशालाओं के आँगन पार करके;

शयन-गृह में दाखिल हो कर लक्ष्मण ने सुग्गे-सी वाणी बोलने वाली नारी को देखा।

कोमलांगी के पलँग पर, उस की जंघाओं को दबा कर, वेग से उस की साड़ी ठीक करके,

(स्वयं) शीघ्र यथोचित वस्त्र पहन, (उर्मिला के) शरीर पर शीतल जल के छींटे मार,

पत्नी के पलँग पर बैठ, वह विरह सहित बोला—

'ओ नारी, तुम्हारे चूमने लायक़ मुख को देखने का इच्छुक है चाँद !

पान चबाये बहुत समय हो चुकने पर भी तेरा मुस्कराता निचला होंठ पल्लव की नोक-सा (दीखता) है !

अमृत बरसाती, मेरे साथ बोल; मेरी आत्मा में ठंडक पहुँचा !

छोटे कमलों-से हैं तेरे पैर; इन पर स्वर्ण पहन !'"

अहो, लक्ष्मण तो योंही ख़ामोश दीखता था, वह तो प्यार के बोलों में निपुण है ! यहां गीत में निद्रालु उर्मिला जाग उठती है। अभी वह आखें नहीं खोलती। वह समझती है किसी ग़ैर आदमी ने वहां तक आने का साहस किया है। आँखें बंद रखती है; डरती नहीं एकदम; चेतावनी देती है, पड़ी-पड़ी। और फिर एक बार मुसीबत के ख़याल से डर जाती है:—

तम्रुता मरिचि उन्ना, आकोम्मा तमकमुना वणक दोड़गे ,
अइया मीरेवारइया, मीरिन्ता यागड़म्बुला कोस्तिरी ;
सन्वुगोन्दुलु वेताकुचू, मीरिन्ता तप्पु सेयगा वस्तिरी ,
एव्वरुनु लेनि वेला, मीरिपुड़ एकान्त मुला कोस्तिरा ;
मा तण्ड्री जनकराजू, विन्टेमिमु आज्ञा सेयका मानरू ,

मा अक्का बावा विन्ना, मीकिपुडु प्राणमुकु हानिवच्चू ;
मा अक्का मरिविन्नानू, मिम्मिपुडु अतुकनिव्वदु जगतिलो ,
हेंच्चइना वम्शनिकी, अपकीर्ति वच्चे नेनेमि सेतू ?
कीर्तिगला इन्टा बुट्टी, अपकीर्ति वच्चे नेनेमि सेतू ?

"वह नारी, जो अपने आप को भूली पड़ी थी, काँपने लगी !—
'ओ पुरुष ! तू कौन है ? शरारत करने आया है !
छोटे, तंग रास्तों से होकर, इतनी तलाश करता, तू आया है (शरारत) करने !
ईस वक़्त कोई भी तो यहां नहीं है; तू यहां ही आ रहा है क्या ?
मेरे पिता राजा जनक सुनेंगे तो तेरे विरुद्ध हुक्म नहीं टलेगा उन का !
मेरे बहन और बहनोई ने सुन लिया तो अभी तेरी जान पर जोखिम आ जायगा !
अकेली मेरी बहन ही सुनेगी तो धरती पर तेरी जान बाक़ी न छोड़ेगी !
(आह !) इतने महान वंश पर अपकीर्ति आई (चाहती) है ! मैं क्या करूं ?
मशहूर घर में मेरा जन्म हुआ, अपकीर्ति आई (चाहती) है ! मैं क्या करूं ?"

लक्ष्मण चुप रहता है। उर्मिला बोलती जाती है, पड़ी-पड़ी, बदस्तूर आँखें बंद किए। उर्मिला के अगले शब्दों से यह प्रत्यक्ष है कि उसे सीता के रावण द्वारा चुराए जाने की बात ज्ञात है। यों यह बात मूल किंवदंती के साथ मेल नहीं खाती; यदि उर्मिला की नींद इस बीच में कभी नहीं टूटी थी, जैसा कि लोक-मानस का विश्वास है, तो उर्मिला को सीता के चुराए जाने का कैसे पता चल गया ? और फिर इस से यह भी प्रत्यक्ष है कि यह गीत किसी विद्वान के मस्तिष्क का मोहताज न रह कर लोक-मानस से ही, जिस में कुछ-कुछ बेसिलसिलापन भी स्वाभाविक ही है, उपजा है। उर्मिला बोलती जाती है:—

ओकड़ालि कोरिगावा, इन्द्रुड़िकि ओड़लेल्ला हीनमाए ,
पर सतनिनी गोराकादा, रावणुडु मूलामुतो हत माएनू ;
इट्टि द्रोहमुलु मीरू, एरिगुण्डि इन्ता द्रोहमु कोस्तिरा ,
आड़ा तोड़ाबुद्दुलू, मावन्टि तल्ली लेदा मीकुनू ?

" 'बेगानी नारी पर मन रखने से ही इंद्र का समस्त शरीर हीन नहीं हो गया था क्या ?

पराई स्त्री पाने की इच्छा से ही क्या रावण अपने वंश सहित बरबाद नहीं हो गया ?

तू ऐसे द्रोहों (का फल) जानता हुआ ऐसे भारी द्रोह के लिए आ निकला है !
सहोदर बहनें और मुझ-सी मां नहीं हैं क्या तेरे यहां ?' "

उर्मिला आँखें नहीं खोलती। भीतर उस का खून खौल रहा है। भय भी लगा है। पुरुष के सनातन स्वभाव का—उस की अहंमन्यता का, शासन-ढंग अथवा समय पर स्त्री की चापलूसी कर सकने की क़दीमी आदत का, प्रतीक बना लक्ष्मण अपनी बात कह सकने की सतर्कता पा लेता है।

अनुचु ऊर्मिला पलुकगा, लक्ष्मणुडु विनिवगचि इटलानियेनु ,
श्रीरामु तम्मुण्डने, अतड़न्ता सृष्टि लो नोकरुगलरा ;
जनकुनल्लुगानटे, भूमिलो जनकुलनगा नेव्वरू ,
शतपत्रमुनाबुट्टिना, चेड़ेरो सीतकु मरदीगाना;
सीता अनगा नेव्वरू, भूमि लो सृष्टि शनेनु एरुगा,
भूमिनूर्मिलावन्दुरे, नी पेरू बोङ्कने ईपटलानू;
दशरधुलानेड़बासियू, अक्कड़ा जानकी चेराबोएनू,
रावणुनि सम्हरिञ्ची, आ धरणिदेवी तोड़कुवस्तिमी;
चेकोन्ना इन्दुवदना, लोकापकीर्तिके लोनाऊदुनु,
सीतामरदिनि गानटे, चेड़ेरो दयउञ्चि मेलुकोनवे;
निन्नु बासिनदीमोदलु, प्राणसखि निद्राहारमुलेरुगने !

"उर्मिला यों कह चुकी तो लक्ष्मण, जो ध्यान से सुन रहा था और खिन्न था,
बोला—'मैं तो श्रीराम का भाई हूं; कौन महान है उन सा, सृष्टि में ?
क्या मैं जनक का दामाद नहीं हूं ? (नहीं तो) भूमि पर जनक है कौन ?
ओ शतपत्र से उत्पन्न हुई नारी ! क्या मैं सीता का देवर नहीं ?
नहीं तो सीता है कौन, भूमि पर, मैं नहीं जानता, ओ सृष्टिकर्ता !
धरती पर उर्मिला कहते हैं तुझे ! तेरे नाम की (सौगंद), मैं झूठी बात नहीं कहता !
दशरथ[1] को (यहां) छोड़ (हमारे वन में जाने पर), वहां सीता चुरा ली गई थी !

---

[1] मूल में दशरथ के स्थान पर दशरध है; तेलुगू भाषा के असर तले प्रायः "थ" का "ध" बन जाता है।

रावण का संहार करके, हम अपनी धरनी देवी, सीता, को वापिस लाए हैं ।

यदि मैं ने (अनिष्ट के लिए) हाथ उठाया हो, ओ चंद्रमुखी, लोक में मेरी अपकीर्ति होगी ही !

मैं सीता का अपना देवर नहीं क्या ? ओ नारी ! दया कर; उठ जाग !

तुम से बिछुड़ कर, ओ प्राण-सखी, न मैं (कभी) सोया, न मैं ने कुछ खाया !"

फिर लक्ष्मण आत्म-हत्या की बात पर आ गया । उर्मिला के हृदय में प्रेम जगा कर वह उसे एकदम आँखें खोल कर सत्य और असत्य की विवेचना के लिए, अपने ज़ोरदार शब्दों द्वारा, एक ज़बरदस्त झटका दे देता है:

नीवुलेवका उन्ननु, ओ सखी प्राणमुलु निलुपलेने,
अनुचु कन्नुला जलमुलु, कारङ्गा लक्ष्मणुडु ताबलिकेनु;
कत्तिवरा दीसिअपुडु, लक्ष्मणुडु तानेसुकोन्दुननेनु !

" 'यदि तुम उठोगी नहीं, ओ सखी ! मैं प्राण नहीं थाम सकता !'
यह कहते, लक्ष्मण की आँखों में आँसू भर आए ।
म्यान से कटार निकाल, लक्ष्मण बोला—'मैं अपनी हत्या करूँगा !' "

यह उर्मिला की परीक्षा थी:

अनुचु वादमु शायगा, ऊर्मिला दद्दिरिलि पड़ि लेचेनू,
प्राणेशुडगुटा देलिसि, कोमलिकि प्राणमुलु तेजरिल्ले;
पति पाद पद्ममुलकू, अप्पुडू पङ्कजाक्षी ओक्केनू !

"उस के यों तर्क करने पर उर्मिला चौंक कर उठ खड़ी हुई !

यह जान कर कि वह उस का प्राणेश है, कोमल नारी के प्राण में दोबारा तेज आ गया !

पति के कमल-से पैरों पर, तब वह कमल-से नेत्रों वाली नारी झुक गई, साष्टांग !"

अब लक्ष्मण के हृदय में भी प्रेम और फ़र्ज़ की संधि हुई; उस ने उर्मिला को उठा लिया:

पादमुला पड़नी उन्ना, तनासतिनी करमुना लेव नेत्ति;
अच्ची कउगिटा चेर्चुकु, कान्ताकु कल्लाजलमुलु दुड़िचेनू !

"पैरों पर पड़ी अपनी पत्नी को अपने हाथों से उठा कर,

उसे आलिंगन कर, उस ने नारी की आँखों के आँसू पोंछे।"

उर्मिला ने इस बीच में सोच लिया था कि उसे अब बातचीत को कौन सा रुख देना चाहिए।

मा तण्ड्री जनकराजु, मिमु नम्मि मरचि कल्याण मिच्चे,
महिपति अल्लुड़नुचू, तेलिअका मदिनि उप्पोङ्गुचुण्डे;
चित्तमोका दिक्कुनुञ्चौ, समयमुना चिन्ना बुत्तुरू इन्तुला !

" 'मेरे पिता महाराज जनक ने आप पर भरोसा कर के मुझे ब्याह दिया !

यह सोच कर कि उन का दामाद महीपति है, बिना जाने ही वह मन में फूले न समाए थे !

अपने मन को किसी एक ओर लगा कर, अकसर (पुरुष) नारी के प्रति लाँछन-सूचक (शब्द बोल दिया करता है) !' "

अब लक्ष्मण की बारी थी:—

अनुचु ऊर्मिला बलुकगा, लक्ष्मणुड़ु मनसुलो चिन्तिम्पुचू,
दुःख वशामुना बलकुतू, वुण्डेटि सुदति भावम्मु;
चिन्तिम्पा निकानेटिके, ओ बाला अनि इटलु लालिम्पुचु,
तरूणि पदुनालुगेण्ड्लु, निनु विड़िचि धरिइस्तिने प्राणमू;
आहारा निद्रालूनु, एरुगने अतिवा नीमीदयाना,
पुण्य पुरुषुला स्त्रीलनू, एड़ाबापि पूर्वजन्मुनामनमू;
एन्नेन्नि युगमुलइना, इदिमनाकु अनुभविञ्चकातोरदू।

"जब उर्मिला यों बोल चुकी, लक्ष्मण मन ही मन खिन्न हुआ;
दुःख के वश में बोलने वाली, उस सुदंती का भाव समझ लिया उस ने;
'क्यों चिंतित हो, बाले !' यों ढारस बँधाते हुए, (बोला)—
'ओ तरुणी ! चौदह वर्ष, तुम से बिछुड़, मैं (किसी तरह) जीवित रहा;
आहार और निद्रा मैं ने नहीं जानी, ओ नारी, मुझे तुम्हारी सौगंद !
पुण्य पुरुषों की पत्नियों को, पूर्वजन्म में खंडित किया होगा हम ने !
अनेक युग क्यों न बीत जायँ, कर्म-फल भोगे बिना नहीं रह सकते हम !' "

इस के बाद इस नाट्य-सुलभ गीत की तीसरी झाँकी शुरू होती है। यों पहली

झाँकी में भी, जिस में हम ने सीता को भरे दरबार में शिकायत करते सुना था, रस की मात्रा कुछ कम नहीं है। इस नई झाँकी में हम उर्मिला और लक्ष्मण को क़द्दे-आदम आईने के सम्मुख खड़े देख सकेंगे:

सति पतुलं चिन्त जूचि, कउसल्या सम्पेङ्ग नूने देच्ची,
रत्न पीठमुला नुञ्ची, कउसल्या दम्पतुला सिरसन्टेनू;
गन्धमुलु कल्पि देच्ची, ओ चेलिया पन्नीटा जलाकामार्चे,
मेलइना वलिपट्टुतो, लक्ष्मणाकु मेनु तल्लोत्तिरपुडू;
बङ्गारू पूलापट्टू, ऊर्मिलाकु बागुमीरगा गट्टेनु,
कोटिसूर्युला दीप्तितो, वेलिगटि मेलइना रविका दोड़गू;
आभरणमुलु सोम्मुलू, आ आदिलक्ष्मीके अलङ्करिञ्ची,
मुत्याला तिरूचूर्णमू, लक्ष्मणा मुद्दमुखमुना तीर्चेनू;
वेलालोनि माणिक्यमू, पति गूड़िनिलुवुटद्दमु जूचेनू,
सिग्गुपड़ि सिरसोञ्चुकु, ऊर्मिला चिरु नव्वुतो निलाचेनू !

"पति पत्नी को चितातुर पाकर कौशल्या चंपक-सुगंधित तेल ले आई;
रत्न-भूषित पीढ़ों पर दंपति को बैठा कर, वह उन के सर पर मालिश करने लगी;
एक टहलनी चंदन-लेप तैयार कर लाई; 'पन्नीटा'-जल[1] से उस ने उन्हें स्नान कराया;
सुंदर, महीन रेशम से उस ने लक्ष्मण का शरीर पोंछा।
उर्मिला को टहलनी ने सुनहरे, पुष्प-खचित वस्त्र पहनाए;
एक करोड़ सूर्यों की दीप्ति उस की अँगिया पर चमक उठी !
आभूषणों और रत्नों द्वारा इस आदि-लक्ष्मी (उर्मिला) का सिंगार किया गया;
मुक्ता-मिश्रित त्रिचूर्ण से टहलनी ने लक्ष्मण के प्यारे माथे पर तिलक किया।
बहुमूल्य माणिक्य-सी (उर्मिला) ने पति के साथ क़द्दे-आदम आइने में अपनी मूर्ति निहारी !
लजा कर, सिर झुकाए, उर्मिला खड़ी-खड़ी मुसकरा रही थी !"

---

[1] **लैवेंडर जल।**

यहां से फिर नई झाँकी शुरू होती है:—

भोजनपुशाला लोनू, आ आणि मुत्याला पीटा मीदा,
राज शेखरूलप्पुडु, देवेन्द्र भोगमुतो गूर्चुण्डेनू;
मरदला माणिक्यमा, रम्मनी मगुवा ब्रडुकू वच्चेनू,
मुरिपेम्पु सिग्गुचेता, चिलकला कोलिकी मुखमटुवञ्चुकू;
हंस नड़कला चेड़ेता, पादमुला अन्देलटुरवमुसेआ,
वइआ रमुनु जूपुचू, युण्डे नोक ओप्पुला कुप्पावलेनू;
कुलुकु मुद्दुला गुम्मनू, सुमित्रा कोड़कु पोत्तुना युञ्चेनू,
वङ्गारू पल्लेरमुला, पञ्चापरमान्नमुलु वड्डिञ्चेने;
वेण्डि गिन्नेला नेतुलु, कउसल्या वेड्डुकतो वड्डिञ्चेनू,
आवुनेई अतिरसमुलु, सूमित्रा कोमरुनिकि वड्डिञ्चेनू;
सूमित्रा गारावुला, पट्टितो पुव्वुला शान्ता बलिके,
अन्ना पवुनालुगेण्ड्लु, अड़विलो आहारानिद्रलूनू;
उन्ना बड़ालिकलु दीरा, नेड्डुमना ऊर्मिलातोनारगिञ्चू,
पिण्डिवन्टला नेतुलू, बोब्बटलु, दण्डिगा नारगिञ्चु;
मीगड़ा पेरूगु मीरू, मज्जिगालु वाञ्छदीरगा आगुड़ी,
आरगिञ्ची लेचिरी, सम्पूर्ण मारगिञ्ची निलचिरी;
गङ्गा जलमुना हस्तमू, कड़िगीताम्बूलमुलु वेयेचुण्डी।

"भोजन-शाला में 'आणी' मोतियों के पीढ़े पर
तब वह राजशेखर (राम) देवता इंद्र के-से सुख-भोग सहित आ बैठे।
माणिक्य-सी भावज को 'अंदर आओ तो' कहते (राम) अंदर ले आए।
चित्ताकर्षक लज्जा सहित सुग्गे-सी (उर्मिला) ने मुख दूसरी ओर मोड़ लिया!
(और) वह हंसगामिनी पैजनियों से झनझन शब्द उत्पन्न करती आई!
सुषमा दिखाती, (उर्मिला) एक सौंदर्य-राशि ही तो दिखती थी!
मानिनी, प्रिय (उर्मिला) को सुमित्रा ने अपने पुत्र[1] की बग़ल में बैठाया;

---

[1] लक्ष्मण। सौमित्री या सुमित्रा का पुत्र आदि प्रयोग प्रायः लक्ष्मण के लिए आए हैं, शत्रुघ्न के लिए नहीं।

सोने के थालों में उस ने पाँच परमान्न[1] परोसे ।
कौशल्या ख़ुशी से चाँदी की कटोरियों में घी लाई ।
गोघृत और 'अतिरसमु'[2] सुमित्रा ने अपने पुत्र के सामने ला रक्खे ।
लाड़ले सुमित्रानंदन से फूलों (पर रीझी) शांता बोली—
'भइया, चौदह वर्ष बन में न तुम ने खाया न तुम सोये !
सब थकान दूर हो जावे जिस से, (खूब) खाओ हमारी उर्मिला के संग में आज !
ये मिठाइयां, घी, बोब्बट,[3] जी भर कर खाओ !
यह मलाई और यह दही और छाछ,[4] तुम सब जने, इच्छानुसार पान करो !'
भोजन पा कर, उठ खड़े हुए सब जने, जी भर खाकर;
गंगा-जल से हाथ धोकर, वे पान के बीड़े लेने लगे !"

अगली झाँकी में शांता और सीता का हास-परिहास ननद भावज की कहानी के पुराने पन्नों को छू रहा है । उर्मिला यों इस गोष्ठी में मौजूद है; शांता के प्रथम व्यंग्य में उर्मिला ही निशाना बनी है । वह मूक रही; चपल अट्टहास में भाग न लिया; क़रीब होकर भी पुलकन-स्पंदन के प्रति उस की यह ख़ामोश अनास्था न जाने कितनी करुणा जगा रहीं है ।

चेड़े त्रिनवे जानकी, नी चेलिय ऊर्मिला बुद्धुलन्नीं,
भमिड़ी पानपुना सोलासी, युण्डे नोका पद्दुनालुगेण्ड्लु पणती;
कुन्दनपु प्रतिमाकललू, ई कलालू एंदुन्डिदागुन्नवो,
दृष्टि तगुलाकुण्डनू, नीलालु निब्बालु लिब्वरम्मा;
अनिशान्ताबलुकगानू, विनि सीता नव्वुचु इट्लनिअनू,
इन्द्रादि चन्द्रूलनू, वल पिञ्चु चन्द्रुलू मी तम्मलू;

---

[1] खीर (जो आंध्र देश में प्रायः 'पायसम्' कहलाती है) एक लोक-प्रिय परमान्न है।

[2] एक मिठाई।

[3] एक पकवान।

[4] दही ('पेरुगु') और छाछ ('मज्जिगा') प्रायः भोजन के अंत में परोसे जाते हैं; यह इस प्रांत की पुरातन रूढ़ि है।

दृष्टि तगुला कुण्डनू, नीलाला निव्वालू लेत्तारम्मा,
अनि सीता पलुक गानू, विनि शान्ता नव्वुचू इट्लनिअनू;
अक्काचेल्लेण्डू मीरू, मिक्कोली सौंदर्यशालुरम्मा,
मा तम्मुलू नलुगुरी, वलापिञ्चु जाणालकु दृष्टि तगुलू;
अनि शान्ता पलक गानू, विनि सीतानव्वुचु इटलनेनु,
मायन्ना ऋष्यश्रृंगू, नीवनमु लोकूड़ि बायकुन्ना;
एमि येरुगनि तपसिनी, ओ वदिना केलिञ्चि विड़िचिनावू,
शान्ता विनि इटलानेनू, ओ सीता मा वदिना धरनी पुत्री;
ईश्वरुनि कृपवलननू, मा इल्लु जोच्चि युन्नावु नीवू,
कोमली सीता नीवू, कोड़लवू पावनम्माए गृहमू!

'''ओ नारी, ओ मीता, सुनो तो अपनी बहिन उर्मिला की बुद्धिमानी!
अपने स्वर्ण-पलंग पर मूर्छित हुई पड़ी रही वह चौदह साल लगातार!
इस स्वर्ण-प्रतिमा की सब छटा (इतने वर्ष) कहां छुपी रही थी!
कहीं उसे कुदृष्टि न लग जाय, उस पर 'नीलालु'[१] आरती कर, ओ नारी!'
शांता यों बोली, इसे सुन सीता हँस कर कहने लगी—
'इंद्र तक को मोह लेने वाले तुम्हारे चाँद-से भाई जो हैं!
कहीं उन्हें कुदृष्टि न लग जाय, उन पर 'नीलालु' आरती करो ना!'
सीता यों बोली, इसे सुन शांता हँस कर कहने लगी—
'तुम (सब) बहनें सुंदरियां हो, अनुपम!

मेरे चारों भाइयों को मोह लिया है तुम ने, कहीं कुदृष्टि न लगे तुम-सी होशियार स्त्रियों को!'

शांता यों बोली, इसे सुन सीता हँस कर कहने लगी—

'ऋष्यश्रृंग, जो मेरे लिए भाई-सम है, बन में तुझ से मिल कर कभी भी तो तुझे (तनहा) नहीं छोड़ता!

उस भोले तपस्वी का तुम बेहद मज़ाक़ उड़ाया करती हो!'

---

[१] आरती में प्रयोग में आने वाली एक वस्तु।

इसे सुन शांता बोली—'सीता! ओ मेरी भौजी! ओ धरणी-पुत्री!
ईश्वर की कृपा से तुम ने हमारे गृह में प्रवेश किया है!
ओ कोमलांगी सीता, तुम हमारी वधू बनी तो हमारा गृह पवित्र हुआ!"

यहां से फिर झाँकी बदलती है:

अलिसुन्ना सुतकपुडु, सुमित्रा हम्सु पानुपु परचेनु,
पट्टतलागड़ालु परची, पान्पुपइ पन्नीरू चिलिकिञ्चेनू;
वट्टी ब्रेल्ला सुरटिनो, कीरवाणी यक्कड़ नुञ्चेनू,
गन्ध कस्तूरी पुनुगु, जव्वादि गिन्नेलातो तेच्चुञ्चेनू;
पच्ची पोकलु याकलू, मुत्याला सुन्ना मक्कड़नुञ्चेनू,
सम्पेङ्गा पुवुला गाली, विसरगा शय्यापई गूरचुण्डरी;
मल्ले पुवुल्ला गाली यू, विसरगा शय्यापई गूरचुण्डरी,
पड़तीकी कोप्पा मरगा, लक्ष्मणुडु नेरुपुतो जड़लल्लीनू;
बोड्डु मल्लेलू जाजुलू, जड़पइनी श्रृंगारमुगा नुञ्वेन,
ताम्बूलमुलू वेयुचु, दम्पतुलु कलसी मुच्चटा लाडूचू,
'अक्का चेरबोवू विधमू, एमनी' अड़िगे नप्पुडु ऊर्मिला;
'सिम्ह विक्रमुलू मीरू, युण्डगा सीतेटलू चेरबोएनू,
राम लक्ष्मणुलु मीरू, युण्डगा रमणेटलु चेरबोएनू';
अनुचु ऊर्मिला पलुकगा, लक्ष्मणुडु विनि मगुड़ी इटलानिनु;
'काल विधि गडुपा वशमा, कड़कुना ब्रह्म के यइना गानी;
अइयोध्या वेड़लिमेमु, अन्दोक्का परणशालालोनुन्टिमी,
कनकम्पू माया मृगमू, आ परणशाला वाकिटकोच्चेनू;
आ मृगमू तेम्मनुचुनु, मीयक्का स्वामी काल्ला कु म्रोक्केनु,
विल्लम्बु चेता वट्टी, श्री राम चन्द्रुलु वेटा वेड़ले;
विल्लम्बु तोड़िगी वेया, मृगमू विन्तइना कूतगूसे,
हा सीता हा लक्ष्मणा, अनीकूया अतिवा भीतिल्ली पलिके;
नन्नु बोम्मनी पलिकेनु, येरुगवु तल्ली वहुन्टीनेनू,

करण सूल्लम्बु लइना, येन्नइना माटले नम्नाड़ेनू;
गिरिगी सीयाना बेट्टी, पोईतिनी मा यन्ना दग्गिरकुनु,
पोई नन्ता वेगमे, रावणुड़ु माया वेशमु वेसुकु;
नारायणनुचु वच्ची, नलिनाक्षी यदुटाने निलुचुण्डेनु,
हरि भक्तुड़नि तोचि, श्रामगु वा श्रति वेग भिक्ष वेट्टे;
पदितलालु चूपा नतड़ु, श्रा चेड़े मूर्च्छ पड़ि पोवगानु,
गेड्डा तो पेल्ला गिञ्ची, एतु कोनि पोएने तन लङ्क कु;
पसिड़ी मृगमुनु वट्टुकु, श्रीरामचन्द्रुलु एतेञ्चिरी,
सीताचटलेमि जूचि, परणशाला वनमु वेदकी वेदकी;
किष्किन्धा पर्बताना, कञ्चितिमी परमऋषि सुग्रीवुनी,
दशरधुनी तनयुलनुचु, सुग्रीवु कानुकलु तेञ्चिच्चेनु;
कानुकलु विप्पीचूड़ा, श्रन्दुलो जानकी तोड़गु लुण्डे,
तम्मुड़ा रम्मनुचुनु, ननु बिलिची नाकु जूपेनु तोड़गुलु;
इन्नी तोड़गुलु एरुगनु, श्रीराम श्रन्देलोक्कटे एरुगुदू,
केरली श्रोक्केड़ु वेल्ला, कान्तुनवि प्रति वुदयमन्दन्टिनी;
श्रञ्जनीसुतनी बिलिची, श्रारामुड़ुङ्गरमु चेतिकिच्ची,
श्राणयाल्लन्नि जेप्पी, श्रम्पेने देवि जूड़ा;
वारधि दाटि पाई, य सोक वन मेल्ला वेदकी जूची,
उङ्गरमु चेति किच्ची, माणिक्यमन्दुकोनि माटलाड़ी;
तिरिगी वच्ची वेगमें, श्री रामचन्द्रुला येदुटा निलिचे,
राज भूपाल चन्द्र, मन सीता ये विधम्मुना देत्तुनु;
तल लेल्ला जड़लु गट्टी, उन्नदी हृदयमुना श्रग्गी रगली,
तल्ली उण्डेटी विधमु, तलचिते ताल शक्यमु गादया';
दुःखवशमुना जेप्पिना, राघवुलु विनि मूच्छी बोई तेलसी,
श्रालङ्क गुट्टु तेलसी, रावणाक्षोहिणी बलमुलार्चे;
श्रृंगारमुनु चेसिए, तेम्मनेनु सीतनु तना एदुटाकी,
तेच्चि श्रीरामुलेदुटा, निलपा श्रच्युतुण्डिटलानेनु;

पदिंनेलालु चर उन्नदी, माम तो भाषिञ्चननि पलिकेनु,
ओट्टु सत्यमु लेटिकि, ओ राम चिच्चु गाविञ्चुमनेनु ;
आकास मन्ता एत्तु, मन्टलो मा वदिने मन्टालाड़े,
जगमुलु निण्डु नटलु, जलमुलु तटाक मइयोप्पेनु ;
परम पतिव्रता गनुकनु, मा वदिना पोन्दे मा यन्ना पोन्दू,
सीता श्रीरामलकुनु, सृष्टिलो कट्टि रइयोध्या पुरमु !

"अपने श्रांत पुत्र के लिए सुमित्रा ने हंसों के मुलायम पंखों का विस्तर बिछाया !
रेशमी तकिए रख, उस ने इस (बिस्तर) पर 'पन्नीरू' सुगंधि छिड़की !
सुग्गे-सी बोली बोलने वाली एक टहलनी ने 'वट्टी' पंखा ला रक्खा !
चंदन-लेप, कस्तूरी और 'पुनुगु' तथा 'जव्वादी'[1] कटोरियों में पास ला रक्खीं;
हरी सुपारियां, तांबूल, चूने (की बजाय) मुक्ता (भस्म), सब वहां ला रक्खे।

चंपक फूलों में बसी हुई हवा चल पड़ी; (लक्ष्मण ने) बाहर का द्वार बंद कर लिया !

चमेली-लदी हवा चल पड़ी; (लक्ष्मण और उर्मिला) सेज पर बैठ गए !

नारी का जूड़ा (फिर से) बाँधने के लिए लक्ष्मण होशियारी से उस की वेणी गूँथने लगा !

'बोड्डू', चमेली और 'जाजी' फूलों से उस ने वेणी का शृंगार किया !
पान चबाते पति-पत्नी हास-परिहास करने लगे।
'मेरी बहन किस प्रकार चुरा ली गई थी ?'—तब उर्मिला पूछ उठी,
'सिंह-से बहादुर, तुम वहां थे, फिर सीता कैसे चुरा ली गई थी?
आप राम और लक्ष्मण वहां मौजूद तो थे, फिर वह रमणी कैसे चुरा ली गई थी ?'
उर्मिला के यों पूछने पर, लक्ष्मण, इसे सुन, कहने लगा—
काल के विधान से कोई बच सकता है क्या, स्वयं ब्रह्मा भी क्यों न हो ?
अयोध्या से चल कर हम वहां एक पर्णशाला में जा टिके।
एक सुनहरा मायामृग उस पर्णशाला के द्वार की ओर आ निकला;

---

[1] **दो विशेष सुगंधियां।**

उस मृग को, (पकड़) लाने की इच्छा जताती हुई तुम्हारी बहन पति के पैरों पर झुक गई।

धनुष-बाण ले श्री राम शिकार को निकल पड़े।

धनुष कस कर (उधर) उन्हों ने तीर छोड़ दिया, मृग ने एक अजब आवाज़ निकाली—

'हा सीता! हा लक्ष्मण!!'—इसे सुन वह नारी डर गई और बोली।

उस ने मुझे जाने को कहा, 'तुम नहीं जानतीं, मा! मैं नहीं (जाऊँगा), मैं बोला।

कानों मे तीरों की तरह चुभने वाले कितने ही शब्द वह बोलती गई!

एक रेखा खीच कर, उस के लिए हद बाँध कर मैं भाई की ओर चला।

शीघ्र ही, रावण मायावी वेश में उधर आ गया।

'नारायण' कह, वह उस कमलिनि-सी आँखों वाली नारी के सम्मुख आ खड़ा हुआ।

उसे हरिभक्त समझ उस नारी ने उसे भिक्षा डाल दी।

जब (रावण ने) अपने दस सिर खोल दिखाए उस नारी को मूर्च्छा आ गई।

अपने नीचे की धरती का टुकड़ा उखाड़, वह उसे लंका को उठा ले गया।

सुनहरे मृग को उठाए श्री रामचंद्र आ रहे थे!

सीता को न पाकर, पर्णशाला और बन में ढूँढते-ढूँढते हम किष्किधा पर्वत पर परम ऋषि सुग्रीव से मिले;

'हम दशरथ के बेटे हैं', हम बोले; सुग्रीव ने हमारे (सम्मुख) उपहार ला रक्खा।

उपहार (का डब्बा) खोलने पर, उस में सीता के भूषण मिले;

'आओ तो, भइया!', यों कह मुझे बुला (राम ने) मुझे सब भूषण दिखाए।

'यह सब भूषण मैं नहीं पहचानता, भाई श्री राम, मैं तो केवल पैजनियां पहचानता हूं!

हर बार (सीता को) प्रणाम करते मैं इन्हें देखता था, प्रतिदिन प्रभात समय!' मैं ने कहा।

अंजना-सुत को बुला राम ने उसे अपनी अँगूठी दी।

सब निशानियां बता, उसे सीता[1] की तलाश में भेजा।

सागर पार जा कर, अशोक-वन तलाश करने पर सीता को पाकर, अँगूठी दे कर, (बदले में) माणिक्य पाकर, और (सीता से) वार्तालाप कर, शीघ्र लौट कर, (वह) श्री राम के सम्मुख खड़ा हो गया—

'हे राजभूपाल चंद्र! (कहिए) मैं सीता को किस प्रकार लाऊं!

उस के सर के सब बाल जटाएं बन गए है; उस के हृदय में आग जल रही है!

उस माता की दशा का विचार एकदम असहनीय है!

दुःख के वश में जब वह यों बोला, इसे सुन राघव को मूर्च्छा आ गई।

(फिर) उस लंका का भेद जान कर, रावण को अक्षौहिणी सेना सहित विध्वंस कर दिया!

'सजा कर सीता को यहां लाओ', उन्हों ने हुक्म दिया।

लाकर जब सीता को श्री राम के सम्मुख खड़ी किया गया, वह बोले—

'दस मास कारावास में थी यह, मैं इस नारी से बात न करूँगा!' जब वह यह बोले,

'सत्य की सौगंद क्यों (खाऊं)? ओ राम, जलाओ आग!' उस ने कहा!

आग की ज्वालाएं आकाश तक गई, मेरी भौजी इस आग से खेली!

जैसे सब ओर पानी ही पानी हो गया, झील बन गई जैसे!

चूँकि परम पतिव्रता है मेरी भौजी, मेरे भाई का हाथ उस ने फिर से पा लिया!

सीता और श्री राम के लिए ही तो सृष्टि में अयोध्या नगर बना है!' "

यहां एक प्रकार से गीत का अंत हो गया है। बाक़ी की चंद पंक्तियों में स्त्रियों ने अपनी बात कही है, और उर्मिला के पति लक्ष्मण में देवता की भावना प्रकाशित की है; उर्मिला का देवी रूप तो प्रत्यक्ष ही है उन के लिए, जिस पर, शायद इस लिए, अधिक कुछ नहीं कहा गया—बस उस की लंबी नींद की ओर ही फिर से संकेत कर दिया गया है; साथ ही इस गीत का माहात्म्य बतला दिया गया है:

---

[1] मूल में 'देवी' शब्द आया है।

ता बड्डु क्लेषम्मुलु, ऊर्मिला तो तप्पा कुण्डा जप्पेनु,
अक्करो विन्टी रटवे, नेड्डमना ऊर्मिला सति बुद्धलु;
चन्द्रमुखी तननाधुनी, एड़ाबासि पदुनालुगु एँडलापाटु,
पच्वी गङ्क्ष नेरुगके, पबलिञ्चे तन भमिड़ी पानपु पइना;
चिन्तिञ्चि चिन्तिञ्चि, मन मेल्ला अति दुःखमुनानुन्टिमी,
अइना कार्यमुकु मनमु, चिन्तिञ्चि कारणमु लेदु इङ्का;
ऊर्मिला विरहम्मुलु, इदियवरू पाड़िना विन्नागानी,
श्री विष्णु कैवल्यमु, सौमित्री विष्णु लोकमु निच्चनु!

"जो-जो कष्ट भोगे थे, उर्मिला को सब कह सुनाए, बिना एक भी भूल के।
ओ बहिनो! तुम ने सुनी क्या आज हमारी उर्मिला की बुद्धिमानी?
वह चंद्रमुखी अपने नाथ से विछुड़ चौदह वर्ष—
पानी की एक घूँट पिए बिना, वह सोती रही स्वर्ण-पलंग पर!
चिंता करती-करती, हम सब अति दुःखित होगई हैं!
जो बीत चुका, उस पर चिंता करने का तो कोई कारण नहीं है।
उर्मिला के विरह का गान जो कोई भी गायेगी, या सुनेगी,
लक्ष्मण उसे विष्णुलोक में निर्वाण देगा!"

गीत कैसा है, कितना सार्थक है, यह विद्वान साहित्य-सेवी स्वयं विचारें; मैं ने तो इसे आंध्र लोक-मानस की उर्वरता के प्रतीक-स्वरूप सुना है, और आंध्र भाषा की कठिनाई को, मित्रों की सहायता से लाँघ कर इसे हिंदी लिबास पहना दिया। मुझे यह सुंदर सरस लगा है।

उर्मिला के यह पूछने पर कि राम और लक्ष्मण सरीखे सिंह से वीरों के होते सीता कैसे चुरा ली गई थी, लक्ष्मण ने इतनी लंबी कहानी शुरू करदी, यह मुझें भला नहीं लगा। इस का उत्तर तो उस ने यों रूढ़ि-अनुसार एक ही कड़ी में दे दिया था—'काल के विधान से कोई बच सकता है क्या' लक्ष्मण को चाहिए थी अपनी बात कहनी और उर्मिला की सुननी।

"लंका-यागम" नामक एक दूसरे आंध्र गीत में एक मार्के की झाँकी मौजूद है, यदि वह, किसी तरह, लक्ष्मण ने अपने शब्दों में उर्मिला को दिखाई होती तो इस गीत में

और भी जान पड़ जाती। यों तो इस गीत में इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि लक्ष्मण बन में न सोया था, और न कभी उस ने कुछ खाया था। "लंका-यागम" में मूर्च्छा के बाद जब लक्ष्मण फिर-से युद्ध करने लायक़ हो जाता है तो राम कहते हैं—'मेघनाद से कौन लड़ेगा?' उस से दो हाथ वही ले सकता है जिस ने चौदह साल तक न कुछ खाया हो, और न कभी वह एक क्षण के लिए भी सोया हो।' यों शायद राम को यह ज्ञात था कि लक्ष्मण ऐसा 'नियमवान' पुरुष है और वह ज़रूर मेघनाद को पछाड़ सकेगा; उन्हें एक संदेह भी था। एक बार (जैसा कि जनश्रुति से प्रत्यक्ष है) सीता और राम पंचवटी में बैठे फल खा रहे थे। सीता बोली—'पतिदेव! हम भी कितने क्रूर हैं, निर्दयी हैं!' 'क्यों?' राम ने पूछा। 'क्यों?', सीता ने कहना शुरू किया, 'लक्ष्मण रोज़ हमारे लिए फल लाता है। रोज़ हमारे सम्मुख इन्हें रख कर बाहर पहरे पर जा बैठता है। हम कभी उसे नहीं पूछते कि उस भलेमानस ने स्वयं भी कुछ खाया है या नहीं!' राम बोले—'वाह! इस में हमारी क्या क्रूरता है? वह खुद समझदार है। भूख लगेगी तो खुद खा लेगा।' सीता ने उस दिन यह ज़िद की कि राम अपने हाथ से "अमृतपाणी" केले, जिन्हें लक्ष्मण उस दिन कहीं से उन के लिए ढूँढ़ लाया था, लक्ष्मण को देकर आएं! राम को पत्नी का कहना मानना पड़ा। लक्ष्मण इन्कार न कर सका; केले उस ने ले लिए, पर वह उन्हें खा कैसे सकता था? उस का व्रत था निराहार रहने का। उसे एक तरकीब सूझी। इन केलों को उस ने अपनी जंघा काट कर भीतर छुपा दिया; भाई के दिए केलों को भूमि पर गिराने से भाई का अपमान हुआ होता; भूमि-पुत्री सीता को यह राज़ मालूम भी तो हो जाता। लक्ष्मण का विश्वास था कि जंघा के बीच में, उस के चरित्र-बल और भगवान् की कृपा के मेल से, वे केले कभी ख़राब न होंगे, और समय आने पर वह इन्हें निकाल इन का उपयोग कर सकेगा।

"लंका-यागम" गीत में राम के 'नियमवान' पुरुष की तलाश प्रकट करने पर हम लक्ष्मण को यह कहते पाते हैं—'मैं नियमवान हूं। वर्षों से मैं ने न कुछ खाया है न सोया हूं!' राम पूछते हैं—'और वे अमृतपाणी केले, जो मैं ने खुद तुम्हें दिए थे?' इस पर लक्ष्मण अपनी जंघा काट कर वे केले निकाल कर दिखाता है।

(५)

उड़ीसा और आंध्र देश की सरहद पर, सन् १९३२ में, जब मैं "उर्मिला की नींद"

का पहले-पहल पता लगा सका था, श्री मैथिलीशरण गुप्त ने अपना 'साकेत', जो उर्मिला—रामायण की उस उपेक्षिता नारी—को हिंदी-जगत् के सम्मुख ला सकने में समर्थ हुआ है, मुझ तक पहुँचाने की कृपा की थी। यह एक विचित्र दैवयोग था!

'साकेत' में मैं ने उर्मिला को जी भर कर देखा।

अरुण-पट पहने हुए आल्हाद में ?
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में ?
प्रकट मूर्तिमती उषा ही तो नहीं ?
कांति की किरणें उजेला कर रहीं।

(पृष्ठ १०)

स्वर्ण का यह सुमन धरती पर खिला ;
नाम है इस का उचित ही उर्मिला।

(पृष्ठ १२)

उर्मिला बोली अजी तुम जग गए ?

(पृष्ठ १३)

इस पर लक्ष्मण बोल उठा—

मोहिनी ने मंत्र पढ़ जब से छुआ !
जागरण रुचिकर तुम्हें जब से हुआ !

(पृष्ठ १४)

यहां मैं सोचने लगा—ओ! कहीं यहां लक्ष्मण उर्मिला की आगामी चौदह वर्ष लंबी नींद–जिस पर "उर्मिला की नींद" गीत की सृष्टि हुई है, की ओर तो संकेत नहीं कर रहा! उर्मिला पूछ उठी—

जागरण है स्वप्न से अच्छा कहीं ?

लक्ष्मण झट बोला—

प्रेम में कुछ भी बुरा होता नहीं !'

(पृष्ठ १४)

उर्मिला यहां चित्रकला में निपुण है; लक्ष्मण कह रहे हैं—

मंजरी-सी उंगलियों में यह कला !
देख कर मैं क्यों न सुध भूलूं भला ?

(पृष्ठ २१)

उर्मिला का अपना चित्र कवि ने खींचा है—

चूमता था भूमितल को अर्द्ध विधु-सा भाल ;
बिछ रहे थे प्रेम के दृग-जाल बन कर बाल ।
छत्र-सा सिर पर उठा था प्राणपति का हाथ ;
हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ ।

(पृष्ठ २५)

और फिर लक्ष्मण के राम और सीता के साथ वन जाते समय का दृश्य—

उठी न लक्ष्मण की आँखें,
जकड़ी रहीं पलक-पाँखें ।
किंतु कल्पना घटी नहीं,
उदित उर्मिला हटी नहीं ।

(पृष्ठ ८८)

खड़ी हुई हृदयस्थल में—
पूछ रही थी पल-पल में—
"मैं क्या करूं ? चलूं कि रहूं ?
हाय ! और क्या आज कहूं ?"
आः कितना सकरुण मुख था,
आर्द्र-सरोज-अरुण मुख था,
लक्ष्मण ने सोचा कि—"अहो,
कैसे कहूं चलो कि रहो ! ....
प्रभुवर बाधा पावेंगे,
छोड़ मुझे भी जावेंगे ! ....
रहो, रहो, हे प्रिये ! रहो.....
यह भी मेरे लिए सहो ।"

लक्ष्मण हुए वियोगजयी,
और उर्मिला प्रेममयी।
वह भी सब कुछ जान गई,
विवश भाव से मान गई।

(पृष्ठ ८६)

श्री सीता के कंधे पर—
आँसू बरस पड़े झर झर।
पहन तरल-तर हीरे-से,
कहा उन्हों ने धीरे से—
"बहन! धैर्य का अवसर है,"
वह बोली—"अब ईश्वर है!"
सीता बोलीं कि—"हां, बहन!
सभी कहीं, गृह हो कि गहन।"

(पृष्ठ ६०)

फिर सुमित्रा से लक्ष्मण को आज्ञा मिलने के बाद—

लक्ष्मण का तन पुलक उठा,
मन मानो कुछ कुलक उठा।
मां का भी आदेश मिला,
पर वह किस का हृदय हिला-?
कहा उर्मिला ने—"हे मन!
तू प्रिय-पथ का विघ्न न बन!
भ्रातृ-स्नेह-सुधा बरसे,
भू पर स्वर्ग-भाव सरसे।

(पृष्ठ ६३)

और फिर जब लक्ष्मण के चलने का समय आया, यह आदर्श उस की मूर्च्छा को नहीं रोक सका; 'हाय' कह कर वह धड़ाम से गिर पड़ी। पर लक्ष्मण रुका नहीं।

षष्ठ सर्ग में फिर उर्मिला हमारे सम्मुख आ गई है—

पुरदेवी-सी यह कौन पड़ी ?
उर्मिला मूर्च्छिता मौन पड़ी !

(पृष्ठ ११३)

"उर्मिला की नींद" का पाठक सोच उठेगा—यह मूर्छिता क्या सचमुच चौदह साल यों ही बिता देगी ? कोई इसे उठाएगा नहीं ? सखियां उसे समझाती हैं——

बोली सुलक्षणा नाम सखी—
"है धीरज का ही काम सखी !"

(पृष्ठ १४४)

यहां उर्मिला चिर-मूर्च्छिता नहीं है। लक्ष्मण के चले जाने के अगले ही रोज़ हम साँझ समय उसे होश में पाते हैं—

फिर सूनी सूनी साँझ हुई,
मानों सब वेला बाँझ हुई।
उर्मिला कभी तो रोती थी,
फिर कभी शांत-सी होती थी।
देता प्रबोध जो, सुनती थी,
मन में अतर्क्य कुछ गुनती थी।

(पृष्ठ १४६)

और फिर नवम सर्ग तो है ही उर्मिला की आत्मकथा; यहीं 'साकेत' की आत्मा धन्य हुई है। कवि ने स्वयं लिखा है—"उर्मिला के विरह-वर्णन में मैं ने स्वच्छंदता से काम लिया है। यों तो 'साकेत' दो वर्ष पूर्व ही पूरा हो चुका था; परंतु नवम सर्ग में तब भी कुछ काम शेष रह गया था और मेरी भावना के अनुसार आज भी वह अधूरा है। यह भी अच्छा ही है।" (पृष्ठ ३)। यह अधूरापन ही तो इसे नित-नूतन बनाए रक्खेगा।

साकेत का लक्ष्मण आंध्र-गीत के लक्ष्मण-सा निर्मोही नहीं है; उर्मिला भी यहां राम, लक्ष्मण और सीता के वापस आने पर ख़ूब सचेत है, सयानी है :

हाय ! सखी, शृंगार ? मुझे अब भी सोहेंगे ?
क्या वस्त्रालंकार मात्र से वे मोहेंगे ?

नहीं, नहीं, प्राणेश मुझी से छले न जावें,
जैसी हूं मैं, नाथ मुझे वैसा ही पावें।

(पृष्ठ ४४३)

किंतु देख यह वेश दुखी होंगे वे कितने?
तो, ला भूषण-वसन, इष्ट हों तुझ को जितने।
पर यौवन-उन्माद कहां से लाऊँगी मैं?
वह खोया धन आज कहां सखि, पाऊँगी मैं?

(पृष्ठ ४४७)

और लक्ष्मण भी उस से भेंट कर कहता है—

जो लक्ष्मण था एक तुम्हारा लोलुप कामी,
कह सकती हो आज उसे तुम अपना स्वामी।

(पृष्ठ ४४६)

वह फिर कहता है—

वह वर्षा की बाढ़, गई, उस को जाने दो,
शुचि-गंभीरता प्रिये, शरद की यह आने दो।

(पृष्ठ ४४४)

जो हो, "उर्मिला की नींद" की अपनी रूप-रेखा है। मुझे यह प्रिय है। और प्रिय हैं मेरे चार आंध्र-देशीय मित्र, जिन की असीम सहायता से मैं इस का अध्ययन कर सका : श्री सिंगराचार्य, श्री श्रीनिवासाचार्य, श्री एम० कृष्णामूर्ति और श्री एम० सुब्बारायो। चारों मित्र अभी नवयुवक हैं; पर उन के दिल कितने सजीव, यह मैं जान गया हूं।

तुलसीदास-संबंधी प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों की खोज

[लेखक—श्रीयुत भद्रदत्त शास्त्री]

शूकरक्षेत्र (सोरों), ज़िला एटा में कितने ही वर्षों से पंडित गोविंदबल्लभ जी भट्टशास्त्री तुलसीदास-संबंधी हस्तलिखित प्राचीन ग्रंथों की खोज कर रहे हैं। उसी के फल-स्वरूप कतिपय ग्रंथ प्राप्त हुए थे जिन की सूचना कई पत्रों में प्रकाशित हो चुकी है।

हाल में भी उक्त भट्टशास्त्री एवं आयुर्वेदाचार्य पंडित वेदव्रत जी शास्त्री सोरों निवासी की खोज में निम्न-लिखित ग्यारह महत्वपूर्ण ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं।

(१) रत्नावली-चरित—तुलसीदास जी की पत्नी रत्नावली की जीवनी। कविवर श्री मुरलीधर जी चतुर्वेदी द्वारा निर्मित तथा उन्हीं के हाथ से संवत् १८२९, श्रावण शुक्ला १ शुक्रवार को लिखित। उक्त पुस्तक के प्रथम पृष्ठ पर ५ दुकड़ियों वाला एक 'गणपति-स्तवन' संस्कृत भाषा में उल्लिखित है जिस का प्रारंभ 'वन्देगणपतिमीशम्' टेक से हुआ है और अंत में निम्न दुकड़ी है—

मौलिमिलितबद्धाञ्जलिनाऽहम् गायन्संस्तवपद्यम्।
अधियाचे मुरलीधर विप्रो मतिवैभवमनवद्यम् ॥वन्दे०॥

इस के अनंतर 'श्रीगणेशायनमः' और 'सरस्वत्यैनमः' लिख कर निम्न-लिखित दो श्लोक लिखे हैं—

हरिहर गुरुभक्तः कर्मधर्मानुरक्तः।
त्रिभुवनगतकीर्तिः कान्तिकन्दर्पमूर्तिः ॥
रघुवरगुणगाथा गानशीलो महात्मा।
सजयति सुकुलात्मारामसूनुः कवीन्द्रः ॥१॥

रत्नावलीबदनचन्द्रचकोररूप ।
श्रीरामचन्द्रपदपङ्कजचञ्चरीकः ॥
श्रीशुक्लवंशतिलकस्तुलसी द्विजेन्द्रो ।
बन्द्यो बुधो जयति शौकरतीर्थतीर्थः ॥२॥

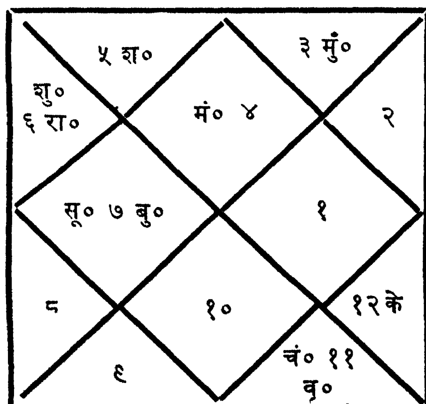
इस से आगे भाषापद्यों में 'रत्नावली-चरित' लिखा है । अंत में दो छप्पै छंद तुलसीदास एवं नंददास के विषय में और तीन शूकरक्षेत्र की प्रशंसा में हैं, तथा अपने विषय में भी निम्न छप्पै लिखा है—

सुषदुष बीते असी लगे मुरली इक्यासी ।
बसत सौकरव आस कटै बन्धन चौरासी ॥
दीठि भई अब मन्द ढुरत सिर कँपत कछुक कर ।
तदपि न मानत लिखन कहत मन कविता सुन्दर ॥
सो अब कस बानक बनहि मन बहलावन करि रहे ।
जिमि जन बिन दसनन चनक पीसि पीसि मुष भरि रहे ॥

पुनः कृष्णदास कृत 'कृष्णदास वंशावली' के १० दोहे लिख कर वर्ष-पत्रिका बनाने के चार छप्पै और अपना वर्षपत्र भी निम्न प्रकार लिखा है—

अथ शुभ सम्वत् १८२६ मिते वर्षे वैक्रमे कार्तिक शुक्ला १० दशम्याम् बुधवासरे घ० ५६। २८ शतभिषामे ४६।४३ वर्षेष्टम् ४२।१५ तुलार्क गतांशाः २२ कर्कट लग्नोदये चतु० मुरलीधरस्य ८१ मितहायने प्रवेशः गताब्दाः ८० ॥

वर्ष ल० चक्रम् ।



पञ्चवर्गी

ज०	व०	मु०	त्रि०	स०
७	४	३	४	११
स्वा०	स्वा०	स्वा०	स्वा०	स्वा०
शु०	चं०	बु०	मं०	श०

उक्त पुस्तक के उल्लेखों से यह निष्कर्ष निकलता है कि श्री मुरलीधर चतुर्वेदी का जन्म संवत् १७४६ वि० में (रत्नावली के स्वर्गगमन से ६८ वर्ष पीछे और तुलसीदास जी के मोक्षधाम जाने से ६६ वर्ष पीछे) हुआ। उक्त पुस्तक के लेखन-काल सं० १८२६ में यह ८० वर्ष के थे। इस पुस्तक को लिखे हुए इस वर्ष १६७ वर्ष हो गए। पुस्तक के रचयिता संस्कृत और भाषा दोनों के कवि थे।

(२) **भक्तमाल**—श्री नाभादास कृत। सेवादास कृत टीकासहित। पृष्ठ-संख्या २१८। लंबाई १२॥"; चौड़ाई ६॥"। संवत् १८६४ वि० में लिखित। इस में तुलसीदास जी और नंददास जी की वार्ता का उल्लेख है। तुलसीदास जी ने नंददास जी से कहा है कि "ब्रज में मति जाहि", तब नंददास जी ने अनेक श्लोक और भाषापद्यों में ब्रज की प्रशंसा करते हुए तुलसीदास जी को अंत में यह कह कर "जब विधि चुक्यो तब जाइवो आइवो कहां" निरुत्तर कर दिया है। टीकाकार ने अपना परिचय पुस्तक के अंत में निम्न प्रकार दिया है:—

वृंदावन...... (शेष अक्षर कट गए हैं)
बंशीबट गोपेश्वर पास। ज्ञानगूदरी आगे बास॥
तहां क्षेत्तर रतलाम को जानो। सब सुखधाम सुबासहि मानो॥
मूरति ३० रहें जहँ छाये। सुखप्रद वास जानि सब आये॥

दोहा

तिनमधि संत सिरोमनी, सब परिपूरन काम।
सरणागत प्रतिपाल हैं, नाम श्री१०८ साधूराम॥
तिनकी पादत्राण को, रक्षक सेवादास।
जन्म जन्म यह बंदगी, बोजै और न आस॥
सदा जाय आनन्द में, घड़ि पल छिन दिन रैन।
कबहूँ दुख व्यापै नहीं, रहत हैं सुख के ऐन॥

सेवादास दसकत लिखे, तामें खोट अपार।
पंडित मुरता संत जन, लीजौ टूट सुधार ॥

(३) **श्रीविष्णुस्वामिचरितामृत**—संस्कृत मूल, श्री हरिहर भट्ट विरचित। पृष्ठ-संख्या ११५, साइज़ उक्त भक्तमाल के लगभग, श्लोक-संख्या १२५०। अंतिम पृष्ठ नहीं है। यह ग्रंथ अनुमानतः सवा सौ वर्ष से पूर्व का लिखा जान पड़ता है। इस में श्री विष्णुस्वामी (जो कि गोकुलस्थ श्री वल्लभाचार्य्य स्वामी के गुरु कहे जाते हैं) का चरित्र उन के शिष्यों की नामावली तथा उन की तीर्थयात्रा का वर्णन है।

कतिपय आधुनिक लेखक वाराहपुराण आदि प्राचीन ग्रंथों का अवलोकन न करते हुए भ्रम से सूकरक्षेत्र को सोरों ज़िला एटा के अतिरिक्त अन्यत्र कहने लिखने लगे हैं। उन के भ्रम-निवारणार्थ उक्त पुस्तक परमोपयोगी है। उक्त पुस्तक के निम्नलिखित श्लोकों में सोरों, ज़िला एटा ही शूकरक्षेत्र प्रकट होता है—

श्री नैमिषं तत्र पुनर्विलोकयन्,
स गोमतीं रामनदीं च जाह्नवीम्।
उत्तीर्य गत्वा च मनोः पुरीं परां,
ददर्श मार्गे किल कान्यकुब्जकम् ॥१॥
स कम्पिलां तत्र पुनर्विलोक्य,
तीर्थं वराहस्य ततो जगाम।
स्नात्वा हि गङ्गां च ततो द्विजेभ्यः,
दत्वा सुवर्णं प्रययौ मधोः पुरीम् ॥२॥

उल्लास ३०, श्लोक ४--५

श्री विष्णुस्वामी तीर्थाटन करते हुए नेमिषारण्य को देखते हुए गोमती, रामगंगा और गंगा भागीरथी को पार कर बिठूर गए, वहां से चल कर मार्ग में कान्यकुब्ज (कन्नौज) और कंपिला[1] (पांचाल देश की राजधानी राजा द्रुपद की नगरी, ज़िला फ़र्रुखाबाद) का

---

[1] जनपदमण्डले पाञ्चालक्षेत्रे द्विजातिभिरध्युषिते काम्पिल्य राजधान्यां भगवान् पुनर्वसुरात्रेयोऽन्तेवासिगणपरिवृतः पश्चिमे घर्ममासे गंगातीरे वन विचार मनु विचरन् शिष्यमग्निवेशमब्रवीत्। चरक-संहिता। वि० स्थान। अध्याय ३

अवलोकन कर वराह तीर्थ में पधारे वहां गंगास्नान कर ब्राह्मणों को सुवर्णदान देकर मधुपुरी (मथुरा) को चले गए।

उक्त श्लोकों में वर्णित वराहतीर्थ (शूकरक्षेत्र) वही है जो कन्नौज से पश्चिम की ओर कंपिल (ज़िला फ़र्रुख़ाबाद) और मथुरा के मध्य में है और जहां गंगा जी भी हैं। वह गंगा संयुक्त वराहतीर्थ सोरों ज़िला एटा ही हो सकता है। सोरों से कंपिल (पांचालक्षेत्र) २२–२३ कोस पूर्व की ओर है।

सारांश यह है कि श्री विष्णुस्वामी एवं श्री वल्लभाचार्य जी के समय में भी सोरों ज़िला एटा ही शूकरक्षेत्र माना जाता था तथा उस से पूर्व काल में भी जैसा कि पुराणों से सिद्ध होता है। एवं वर्तमान काल में भी प्रायः भारत के सभी प्रांतवासी लाखों की संख्या में सोरों को शूकरक्षेत्र मानते हुए आते हैं।

ऊपर के (२)–(३) संख्या वाले ग्रंथ देशप्रसिद्ध नैयायिक पंडित अंगदराम जी शास्त्री बदरिया के पुस्तकालय से उन के पौत्र पंडित कुंजविहारीलाल जी शर्मा द्वारा प्राप्त हुए हैं।

(४) **दोहावली**—तुलसीदास-कृत। कासगंज निवासी पंडित हरगोविंद जी पंड्या से प्राप्त। इस के आदि के ४ पृष्ठ और अंत के न जाने कितने पृष्ठ नष्ट हो गए हैं। परंतु पुस्तक अवश्य १२५ वर्ष से पूर्व की लिखी जान पड़ती है। इस में ६०० दोहे से १ या १॥ दोहा अधिक है। शेष पृष्ठों में नहीं कहा जा सकता कि सब कितने दोहे थे, दोहे प्रायः अशुद्ध हैं। भार्गव पुस्तकालय, काशी द्वारा प्रकाशित 'दोहावली' के क्रम से इस का क्रम नहीं मिलता है। उस में ५७२ ही दोहे हैं, इस में ६०० से भी अधिक थे।

(५) **विनयपत्रिका**—जान पड़ता है कि यह ३६ पृष्ठों तक ही लिखी गई है आगे लिखना बंद कर दिया है। इस में ६१ पद पूर्ण और ६२वां अधूरा है पुस्तक प्रायः शुद्ध है। संवत् १८७६ वि० के लगभग लिखी गई है। उक्त पुस्तक के लेखक की लिखी अन्य पुस्तकें जैसे 'आदित्य-हृदय' एवं 'विष्णुसहस्रनाम' तथा श्री नंददास-कृत 'भ्रमरगीत' भी हैं जो संवत् १८७६ में लिखी गई हैं।

(६) **विनयपत्रिका**—(२ प्रतियां) इस के १२–१३–१४–१७–१८–१९–२१–२२–२३–२५–२६–२८–२९ संख्यावाले कुल १३ पृष्ठ विद्यमान हैं शेष सब नष्ट

हो गए हैं। पुस्तक अनुमानतः १५० वर्ष पूर्व की लिखी जानी जाती है। अंतिम पृष्ठ २६ में पदों की संख्या २१६ पर्यंत उल्लिखित है। २१७वां पद अधूरा है। पुस्तक शुद्ध है। पदों से पूर्व लाल स्याही में रागों के नाम भी दोनों प्रतियों में लिखे गए हैं। दूसरी प्रति के पृष्ठों की लंबाई १२॥" और चौड़ाई ६॥" है।

(७) **हनुमानबाहुक**—पृष्ठ संख्या १६। छंद संख्या ४०। संवत् १८७२ में लिखित है। कासगंज निवासी ठाकुर बनवारीलाल भगवान् सिंह जी कंठश्रिया के यहां विद्यमान है।

(८) **भक्तमाल**—नाभादास जी कृत मूल। पृष्ठ सं० ७२। इस में बीच के दो पृष्ठ नहीं हैं। इस में १९७ छप्पै और १७ दोहा, कुल छंद संख्या २१४ है। संवत् १८७३ की लिखी हुई है।

(९) **रासपंचाध्यायी**—नंददास जी कृत। यह पुस्तक १७ पृष्ठों में समाप्त हुई है। आदि के क्रमशः ७ पृष्ठ नहीं हैं। संवत् १८०१ की लिखी हुई है। ३३५ पद्य पर्यंत संख्या है। साइज़ १०॥"×६॥" है। अशुद्धियां अधिक हैं।

(१०) **भ्रमरगीत**—नंददास जी कृत। १ पृष्ठ से क्रमशः ७ पृष्ठ तक विद्यमान हैं; शेष पृष्ठ नष्ट हो गए। ५१ संख्या तक गीत उल्लिखित है। संवत् १८७६ लिखा हुआ है।

(११) **कालज्ञान**—संस्कृत और भाषा टीका सहित यह वैद्यक ग्रंथ है। इस की पुष्पिका में लिखा है—

इति श्री कालज्ञान संपूर्ण समापतः सं० १८३८ वर्षे पौषसुदि चतुर्दसी १४ शनिवासरे इदं पुस्तकं लिषितं इछाराम उपाध्याय बदरिया में गंगा निकटे पठनार्थ दिलेराम सुभमस्तु।

उक्त पुस्तक की पुष्पिका से यह बात सिद्ध होती है कि संवत् १८३८ में बदरिया ग्राम (गोसामी तुलसीदास जी की पत्नी श्री रत्नावली की जन्मभूमि) गंगा जी के तट पर था पर अब गंगा जी बदरिया और सोरों से ३ मील दूर पर बहती हैं। इस वर्ष १ मील और आगे बढ़ गई हैं।

तुलसीदास-नंददास संबंधी ग्रंथों की खोज करने वाले जो सज्जन उक्त ग्रंथों तथा

पूर्व प्राप्त ग्रंथों का अवलोकन करना चाहते हों वे सोरों (शूकरक्षेत्र) ज़िला एटा में पधार कर अवलोकन कर सकते हैं। कुछ नंददास संबंधी पुस्तकें कासगंज और सोरों से श्री मयाशंकर जी याज्ञिक अलीगढ़-वासी के यहां पहुँच गई थीं, वहां देखी जा सकती है।

पृथ्वीराज की सभा में जैनाचार्यों के शास्त्रार्थ

[लेखक—श्रीयुत अगरचंद नाहटा और श्रीयुत भँवरलाल नाहटा]

अंतिम हिंदू सम्राट् चौहान वंश के मुकुट महाराज पृथ्वीराज न्यायवान्, विद्या-व्यासंगी, कौतूहल-प्रिय और प्रकृत वीर थे। उन की सभा वागीश्वर, जनार्दन गौड़, विद्यापति आदि प्रकांड विद्वानों से सुशोभित थी। प्रतिदिन काव्य, साहित्य, अलंकार आदि नाना विषयों की चर्चा वहां हुआ करती थी। महाराज स्वयं उस में बहुत रस लिया करते थे। आए दिन विदेशी विद्वानों के शास्त्रार्थ हुआ करते थे। सं० १२३९ में खरतर-गच्छ के आचार्य श्री जिनपति सूरि जी[1] और उकेश-गच्छीय चैत्यवासी पंडित पद्मप्रभ का बहुत ही मनोरंजक शास्त्रार्थ भी उन की सभा में हुआ था। उस का प्रामाणिक वर्णन श्री जिनपतिसूरि जी के शिष्य श्री जिनपालोपाध्याय[2] रचित 'खरतर-गच्छ

---

[1] तेरहवीं शताब्दी के उद्भट विद्वानों में आप का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। आप के रचित (१) 'संघपट्टकवृत्ति', (२) 'प्रबोधोदय-वादस्थल', (३) 'समाचारी' और कई स्तवनादि इस के स्पष्ट निदर्शन हैं। शास्त्रार्थ में आप की प्रतिभा अद्वितीय थी, ३६ शास्त्रार्थों में आप के विजय प्राप्त करने का उल्लेख साह रयण और भत्तउ कृत 'श्रीजिनपति सूरि गीत' में इस प्रकार मिलता है:—

पामिव जेत्रु छतीस विवादहिं जयसिह पुहविय परिसद्दइए।
बोहिय पुहवियपमुह नरिंदह, जासुवयणि जिण आवरइ ए ।।

विशेष जानने के लिए हमारे संपादित 'ऐतिहासिक जैनकाव्य-संग्रह', और श्रीजिनपालोपाध्याय कृत 'खरतर गच्छ गुर्वावली' देखना चाहिए।

[2] आप प्रकांड विद्वान थे। सं० १२२५ में पुहकरण नगर में श्रीजिनपति-सूरि जी ने इन्हें दीक्षा दी थी। सं० १२५१ कुहियप ग्राम में ये वाचनाचार्य पद से अलंकृत हुए। आप का विद्याध्ययन त्रिभुवन गिरि में यशोभद्राचार्य के पास हुआ था सं० १२४४ में अजमेर से तीर्थयात्रार्थ संघ निकला तब आप त्रिभुवनगिरि से आकर उस यात्रीसंघ में सम्मिलित हुए थे। सं० १२६९ में जाबालिपुर में आप को उपाध्याय पद मिला। सं० १२७३ में बृहद्द्वार में नगरकोट के राजा पृथ्वीचंद्र के समक्ष उन के सभा-पंडित मनोनानंद को शास्त्रार्थ में परास्त कर विजय प्राप्त की थी। आप के रचित (१) 'उपदेश रसायन विवरण' (सं० १२९२), (२) 'चर्चरी विवरण' (सं० १२९४),

गुर्वावली[१]" में बहुत ही विस्तार से मिलता है। वह बहुत ही रोचक और ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, अतएव पाठकों को इस निबंध में उस शास्त्रार्थ का दिग्दर्शन कराया जाता है।

भगवान् महावीर का उपदिष्ट त्याग-मार्ग अत्यंत कठिन व दुर्द्धर्ष था। उस की साधना जिस प्रकार आत्मोन्नति के चरम शिखर पर आरूढ़ करने वाली थी, उसी प्रकार जन-साधारण के लिए दुश्चरणीय भी थी। मानव-प्रकृति सदा सुखशील और पुद्गलानंदी है। अतएव उतने कठिन मार्ग को पालन करना सब के लिए, सहज नहीं था। फलतः परिस्थिति के प्रबल झकोरों से उस के साधकों में क्रमशः शिथिलता प्रविष्ट होने लगी। आगे चल कर वही शिथिलता चैत्यवास के रूप में परिणत हो गई और उसी कारण से त्यागी साधुवर्ग "सुविहित" और "चैत्यवासी"[२] इन दो भागों में विभाजित हो गए।

कई शताब्दियों तक "सुविहित" मार्ग बहुत मंद और "चैत्यवास" प्रबल शक्ति-शाली रहा, परंतु ग्यारहवीं शताब्दी में चैत्यवासियों में जब शिथिलता की पराकाष्ठा हो गई, तब परिस्थिति ने सुविहितों में एक नया बल पैदा कर दिया। जन-साधारण की

ये दोनों ग्रंथ गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज, बड़ौदा से प्रकाशित "अपभ्रंश काव्यत्रयी" में छपे हैं। सं० १२९३ में रचित 'द्वादशकुलकवृत्ति' आदि श्रीजिनदत्तसूरि ज्ञानभंडार, सूरत से प्रकाशित हो चुके हैं। 'स्वप्नसप्तत्तिकावृत्ति' एवं गुर्वावली बीकानेर के ज्ञान-भंडार में विद्यमान है। सं० १३११ प्रल्हादनपुर में आप का स्वर्गवास हुआ।

[१] प्रस्तुत गुर्वावली की रचना सेठ साहुलि पुत्र सा० हेमा की अभ्यर्थना से हुई है। सं० १३०५ आषाढ़ सुदि १० तक की घटनाओं का इस में वर्णन लिखा है। श्री वर्द्धमान सूरि जी से श्रीजिनदत्तसूरि जी तक का चरित्र तो सं० १२९५ में बने हुए श्री सुमतिगणि कृत 'गणधरसार्धशतकवृहद्वृत्ति' से मिलता जुलता है। इस के पश्चात् श्री-जिनचंद्र सूरि, श्रीजिनपतसूरि और श्रीजिनेश्वर सूरि जी के चरित्र उपाध्याय जी की स्वतंत्र रचना है। इस गुर्वावली के ऐतिहासिक और भौगोलिक महत्व के संबंध में हम शीघ्र ही एक निबंध प्रकाशित करेंगे। ऐतिहासिक महत्व के विषय में २ लघु लेख श्री दशरथ शर्मा एम्० ए० के "इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, जिल्द नं० ४" एवं "दि पूना ओरियंटलिस्ट, जिल्द २" में प्रकाशित हुए हैं।

[२] जो लोग जैनमंदिरों में रह कर मठाधीश महंतों की तरह गद्दी तकिए लगाना, पान खाना आदि साध्वाचार के प्रतिकूल आचरण करने लगे थे। इन के आचार-विचारों के संबंध में 'संघपट्टक' और उस की वृत्ति में खूब घटस्फोट किया गया है।

भावना चैत्यवासियों के अकृत्यों से तिलमिला उठी, इसी भावना ने सुविहितों के प्रचार-कार्य में बहुत वेग भर दिया।

वि० सं० १०७० के लगभग पाटण नरेश दुर्लभराज की सभा में सुविहित आचार्यों के प्रमुख विद्वान् श्री वर्द्धमानसूरि और श्री जिनेश्वरसूरि द्वारा चैत्यवासियों के सुराचार्य प्रमुख ८४ आचार्यों ने बड़ी हार खाई[1]। श्री जिनेश्वर सूरि जी के उत्कृष्ट चरित्र और विद्वत्ता से प्रभावित होकर श्री दुर्लभराज ने इन्हें "खरतर" (कठिन आचार वाले) नाम से संबोधित किया। तभी से खरतर गच्छ और चैत्यवासियों के बीच द्वंद्व युद्ध प्रारंभ हो गया।

उपर्युक्त संघर्ष बहुत अरसे तक ज़ोर-शोर से चला। श्री जिनवल्लभसूरि[2] जी ने चैत्यवासियों के हृदय को हिला दिया। उन की नींव एक दम खोखली हो गई। श्री जिनदत्त सूरि[2] जी ने भी इस दिशा में बड़ा भारी काम किया उस से प्रभावित होकर बहुत से चैत्यवासी आचार्य उन के शिष्य होकर सुविहित दल में सम्मिलित हो गए।

श्री जिनदत्त सूरि[3] जी के प्रशिष्य श्री जिनपति सूरि जी संघर्षकारकों में अंतिम आचार्य थे। इन की प्रतिभा बहुत बढ़ी-चढ़ी और सर्वतोमुखी थी। भिन्न-भिन्न छत्तीस शास्त्रार्थों में आप ने विजय प्राप्त की थी। संवत् १२३९ में आप फलवर्द्धि पधारे। वहां उपकेश-गच्छीय चैत्यवासी पंडित पद्मप्रभ रहते थे, वे सूरि जी के प्रभाव और लोकमान्यता की ईर्ष्या से जल-भुन गए। पर सूरि जी जब तक वहां रहे, उन का कुछ भी ज़ोर न चला। उन के विहार करके अजमेर चले जाने पर पद्मप्रभ ने अपने आश्रित भाट लोगों द्वारा यह मिथ्या घोषणा करा दी कि "पद्मप्रभ ने जिनपति सूरि को जीत लिया"। तब श्रावक लोगों को इस मिथ्या प्रलाप से रोष हुआ। उन्हों ने पद्मप्रभ से पूछा "आप क्यों मिथ्या प्रचार करते हैं, जिनपति सूरि जी को आप ने कब जीता ?" उत्तर में पद्मप्रभ ने कहा, "यदि आप मेरी बात मिथ्या समझते हों तो अपने गुरु को पुनः बुलाइए। मैं जीतने को

[1] **इस शास्त्रार्थ का उल्लेख सं० १२९५ में रचित 'गणधरसार्धशतकवृहद्वृत्ति' में श्री सुमति गणि ने खूब विस्तार से किया है।**

[2-3] **इन का चरित्र "गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज़" से प्रकाशित "अपभ्रंश काव्यत्रयी" में देखना चाहिए।**

तैयार हूं।" इस प्रकार उभयपक्ष में वाद-विवाद बढ़ गया। यह संवाद जब श्री जिनपति सूरि जी के पास पहुँचा तो उन्हों ने शास्त्रार्थ के लिए अपनी ओर से श्री जिनमतोपाध्याय[1] को वहां भेजा। परंतु श्रावकों ने यह विचार कर कि पद्मप्रभ मिथ्याभाषी है, कल यह कह बैठेगा कि मैं ने जिनपति सूरि जी को जीता है; स्वयं मुझ से शास्त्रार्थ करने में अशक्त होने के कारण उन्हों ने अपने शिष्य को भेजा है, उपाध्याय जी के साथ अजमेर जाना निश्चय किया। और वहां जाकर सूरि जी के समक्ष राजमान्य श्रावक रामदेव को सारी बात कह सुनाई। रामदेव तत्काल महाराजा पृथ्वीराज की सभा में पहुँचा और उन से प्रार्थना की कि "हमारे गुरु महाराज अपनी शिष्यमंडली के साथ यहां आए हुए हैं। हम ने आप की सभा में एक विपक्षी के साथ उन का शास्त्रार्थ कराने का विचार किया है, आप की क्या आज्ञा है ?" कौतूहल-वश सम्राट् ने कहा, "हां! क्या हरज है; इसी समय हो सकता है।" रामदेव श्रेष्ठि ने कहा "स्वामिन्! प्रतिपक्षी पद्मप्रभ फलौधी में है" नृपति ने कहा, "उसे मैं बुला लूँगा, तुम अपने गुरु को तैयार करो!" रामदेव ने कहा "हमारे गुरु तैयार ही है!"

महाराज श्री पृथ्वीराज ने अपनी ओर से भट्ट लोगों को भेज कर फलौधी से पद्म-प्रभ को अजमेर बुलाया। इसी बीच महाराजा ने दिग्विजय करने के निमित्त नरानयन से अपनी विशाल सेना के साथ प्रस्थान किया। दिग्विजय कर वापिस लौटने पर सेठ रामदेव ने पुनः अपनी विज्ञप्ति का ध्यान दिलाया। महाराजाधिराज ने कहा, "शास्त्रार्थ का दिन कातिक शुक्ला १० (७) निश्चित किया गया है अपने गुरु से कह दो!"

निश्चित समय पर श्री जिनपति सूरि जी जिनमतोपाध्याय पंडित स्थिरचंद्र[2],

---

[1] वि० सं० १२३४ फलवर्द्धि में इन्हें उपाध्याय पद दिया गया था। इस समय आप आचार्य पद के सर्वथा योग्य थे पर आप के इस पद को अस्वीकार करने से उपाध्याय पद ही दिया गया। इन की विद्वत्ता बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। सं० १२४२ माघ सुदि १५ के दिन इन का स्वर्गवास हुआ।

[2] इन की दीक्षा श्री जिनदत्तसूरि जी के करकमलों से हुई थी। सूरि जी ने इन्हें विद्याध्ययनार्थ धारा नगरी भेजा था और उन्हों ने ही विद्याध्ययन कर के आने के अनंतर वाचनाचार्य पद दिया था। अतः उन की दीक्षा सं० १२०० के पूर्व होनी चाहिए।

मानचंद्र[1] आदि के साथ नरानयन की राजसभा में पधारे। उधर पद्मप्रभ भी भट्टपुत्रों के साथ आ गया। महाराजा ने मंत्रीश्वर कैमास को आज्ञा दी कि मैं थोड़ा विश्राम करके आता हूं, इस बीच तुम वागीश्वर, जनार्दन गौड़ और विद्यापति आदि पंडितों के समक्ष इन का शास्त्रार्थ होने दो।

मंडलेश्वर कैमास[2] ने सूरि महाराज की भव्य मूर्ति देख कर हर्षान्वित होकर कहा, "अहो! इन महात्माओं के दर्शन से ही आनंद मिलता है। कई दिगंबर ऐसे देखने में आते हैं, जो दूर से ही पिशाच की भाँति आँखों को उद्वेग करते हैं।" यह सुन कर सूरि जी ने कहा :—

पञ्चैतानि पवित्राणि सर्वेषां धर्मचारिणाम्।
अहिंसा सत्यमस्तेयं त्यागो मैथुनवर्द्धनम्॥

अर्थात्—"सब धर्माचार्यों ने अहिंसा, सत्य, अचौर्य, त्याग और ब्रह्मचर्य को ही पवित्र माना है।" अतः मंडलेश्वर! इन पाँचों को पालन करने वालों की—नग्न या सवस्त्र कोई भी हों—निंदा न करनी चाहिए!

इस प्रकार श्री जिनपति सूरि जी कैमास को समझा रहे थे, इसी बीच उन की बात को काट कर पद्मप्रभ ने मंत्रीश्वर को यह श्लोक सुनाया :—

प्राणा न हिंसा न पिबेच्च मद्यं वदेच्च सत्यं न हरेत् परस्वं।
परस्य भार्यां मनसा न वांछेत्स्वर्गं यदीच्छे विधिवत् प्रविष्टुः॥

यह श्लोक सुन कर सूरि जी ने कहा—"अहा, कैसा शुद्ध उच्चारण है!"

पद्मप्रभ—"क्या आप मेरी हँसी उड़ाते है?"

सूरि जी—"महानुभाव! इस कलिकाल में लोगों का ज्ञान अपूर्ण है। किस की हँसी की जाय और किस की नहीं?"

---

[1] इन को सं० १२१८ में उच्च नगर में श्री जिनचंद्र सूरि जी ने दीक्षित किया था। सं० १२४४ में लवणखेटक (खेड़ नगर) में श्री जिनपति सूरि जी ने इन्हें वाचनाचार्य पद दिया था।

[2] मंडलेश्वर कैमास महाराजा पृथ्वीराज के प्रधान थे, ये दाहिमा जाति के थे। पुरातन प्रबंधसंग्रह गत 'पृथ्वीराजप्रबंध', 'पृथ्वीराज-विजय' और 'पृथ्वीराजरासो' आदि ऐतिहासिक ग्रंथों में इन का नाम आता है।

पद्मप्रभ—"तो फिर आप ने 'कैसा शुद्ध उच्चारण है !' यह आक्षेप कैसे किया ?"

सूरि जी—"महाशय ! पंडितों की सभा में शुद्धोच्चारण करना ही शोभास्पद है ।"

पद्मप्रभ—"तो क्या कोई ऐसा है कि मेरे बोले हुए श्लोक में अशुद्धि निकाल सके ?"

सूरि जी—"यदि इतना ही घमंड है तो उस श्लोक को फिर से बोलिए ।" जनार्दन, विद्यापति आदि राजपंडितों से कहा—"पद्मप्रभ श्लोक बोल रहा है, आप भी ज़रा ध्यान से सुनें !"

इतने ही में पद्मप्रभ मन ही मन क्रुद्ध कर उद्दंडता से बोलने लगा । सब सदस्यों की साक्षी से सूरि जी ने उस श्लोक में दस अशुद्धियां बतलाई और उस का शुद्ध उच्चारण इस प्रकार बतलाया :—

प्राणान्नहिंस्यान्न पिबेच्च मद्यं वदेच्च सत्यं न हरेत् परस्वम् ।
परस्य भार्यां मनसा न वांछेत् स्वर्गं यदीच्छेद्विधिवत्प्रविष्टुम् ॥

पद्मप्रभ कुछ लज्जित हो कर बोला, "इस वचन-चातुरी में क्या रक्खा है ! यह तो केवल भोलों को ठगना है ।"

सूरि जी—"शक्ति हो तो आप भी ऐसा करें !"

कैमास—"आप लोगों ने पहले-पहल यह शुष्क वाद क्यों छेड़ा ? अच्छा हो, किसी एक विषय को आप दोनों में से एक सज्जन स्थापित करे, और दूसरा खंडन करे !"

सूरि जी—"पद्मप्रभ जी ! मंडलेश्वर का कथन बहुत ठीक है, आप किसी एक पक्ष का आश्रय लेकर बोलिए !"

पद्मप्रभ—"पूछने की बातें तो बहुत सी हैं पर उन में से मैं केवल एक ही बात पूछता हूं, कि आप ने 'दक्षिणवर्त्तारात्रिकावतारणविधि'[1] का परित्याग क्यों किया ? यह तो अनेक आचार्यों के सम्मत है ।"

---

[1] देवमंदिरों में आरती उतारने की प्रथा बहुत प्राचीन काल से है । आरती को दाहिनी ओर से घुमाने को दक्षिणावर्त्त और बाएं तरफ़ घुमाने को वामावर्त्त कहते हैं । चैत्यवासियों के समय में दक्षिणावर्त्त की प्रथा थी उसे बदल कर श्री जिनदत्त सूरि जी ने वामावर्त्त की परिपाटी प्रचलित की ।

सूरि जी ने "वक्रोक्त्यैव निर्लोढ्य:" की उक्ति के अनुसार कहा—"क्या आप के कथनानुसार बहुजनसम्मत वस्तु को ही आदरणीय समझना चाहिए ? यदि ऐसा ही है तो मिथ्यात्व का भी आदर करना चाहिए क्योंकि उसे भी तो बहुतों ने अपना रक्खा है।"

पद्मप्रभ—"वृद्ध-परंपरागत जो कुछ भी हो हम उस का आदर करते हैं।"

सूरि जी—"चैत्यवास (देवमंदिरों में रहना) तो वृद्ध-परंपरागत नहीं है, आप के पूर्वजों ने उसे क्यों अपनाया ?"

पद्मप्रभ—"चैत्यवास वृद्ध-परंपरागत नही है—यह कैसे जाना ?"

सूरि जी—"भगवान् महावीर के समौशरण या किसी जिनमंदिर में गणधर गौतम स्वामी के भोजन-शयन का कहीं वर्णन आया है ?"

(चैत्यवासी लोग मंदिरों में ही निवास भोजन और शयन करते थे जोकि शास्त्र-विरुद्ध था, इसी लिए यह प्रश्न किया गया।)

इस बात का उत्तर न आने से लज्जित होकर पद्मप्रभ जी कहने लगे—"कर्णे स्पृष्ट: कटिं चालयसि ? याने कान छूने पर कटि प्रदेश को हिलाना कहां का न्याय है ? मैं ने तो पूछा था कि वृद्ध-परंपरागत दक्षिणावर्त्तारात्रिकावतारण विधि आप ने क्यों छोड़ी, पर आप ले चले चैत्यवास के प्रसंग को।"

सूरि जी—"मूर्खचक्रे काष्टे च वक्रोवेध: क्रियते अर्थात् मूर्खमंडल और काष्ट में टेढ़ा वेध किया जाता है। क्या आप को यह न्याय याद नहीं है ? अच्छा ! अब आप के विषय को ही लें। दक्षिणावर्त्तारात्रिकावतारण विधि, वृद्ध-परंपरागत है यह कैसे जाना ? सिद्धांतों में तो आरात्रिक दक्षिणावर्त्त या वामावर्त्त से करना चाहिए, इस का कोई विचार नहीं है। अब प्रश्न यह होता है कि पिछले बहुश्रुतों से अनुष्ठित विधि दक्षिणा-वर्त्त थी या वामावर्त्त ? इस संशय को दूर करने के लिए किसी युक्ति का अनुसरण करना चाहिए। 'न शवमुष्ठिन्याय: कर्त्तव्य:' (मुर्दे की बंद मुट्ठी खुलती नहीं) हठ नही कर के युक्ति-युक्त बात माननी चाहिए।"

यह बात सुन कर सभासद लोग कहने लगे—"पद्मप्रभ ! आचार्य श्री ठीक कहते हैं।"

तत्पश्चात् सभ्यों की सम्मति से सूरि जी ने प्रमाण-पूर्वक धारा-प्रवाही शब्दों में

"वामावर्त्तारात्रिकावतारण विधि" सिद्ध कर के बताई जिसे सुन कर सभों ने सूरि जी का जयजयकार किया। इस का अधिक विवरण प्रद्युम्नाचार्य के 'वादस्थल' के प्रत्युत्तर में सूरि जी का बनाया हुआ 'प्रबोधोदय वादस्थल'[१] ग्रंथ में देखना चाहिए। लेख-विस्तार के भय से यहां नहीं देते हैं।

इतने ही में महाराजाधिराज पृथ्वीराज भी सभा में आ पहुँचे और सिंहासन पर बैठ कर पूछने लगे—"मंडलेश्वर! कहो, कौन जीता और कौन हारा?" मंडलेश्वर ने सूरि जी की ओर अँगुली निर्देश कर कहा—"ये जीते"। इसी से ईर्ष्यावश पद्मप्रभ बोले—"राजन्, मंडलेश्वर रिश्वत लेने में प्रवीण हैं। गुणियों के गुण-ग्रहण में नहीं।" अपनी निंदा सुन कर मंडलेश्वर कहने लगे—"हे मुंड! अभी कुछ नहीं बिगड़ा, ये आचार्य बैठे हैं, सभासद भी उपस्थित हैं, मैं ने रिश्वत ले ली है तो मैं मौन धारण करता हूं। बड़ी खुशी हो यदि आप अब भी इन आचार्य महोदय को जीत लें!"

पद्मप्रभ मंडलेश्वर कैमास को रुष्ट हुआ जान कर कुछ सहम कर कहने लगे—"महानुभाव! मेरे कथन का यह आशय नहीं कि आप ने आचार्य से रिश्वत ले ली है, पर मेरा कथन यह है कि आप के समझने में भूल हुई है। इन आचार्य जी ने ज़बरदस्ती गला फाड़ कर समस्त आचार्यों के अभिमत 'दक्षिणावर्त्तारात्रिकाविधि' को अमान्य ठहरा कर आप के हृदय में विपरीत विश्वास जमा दिया है।"

यह सुन कर सूरि जी कहने लगे—"पद्मप्रभ! यह विधि सब आचार्यों के सम्मत है। आप का कथन सत्य नहीं है, क्योंकि हमारे पूर्वाचार्य और वर्तमान आज्ञानुवर्ती आचार्यों को यह मान्य नहीं है।"

पद्मप्रभ—"क्या आप और आप के पूर्वाचार्य, हमारे पूर्वाचार्यों से अधिक ज्ञानवान हैं? जो उन के अभिमत अर्थ को नहीं मानते?"

सूरि जी—"क्या अन्य आचार्य हमारे आज्ञानुवर्ती आचार्यों से विशेषज्ञ हैं जो हमारे आचार्यों के सम्मत वामावर्त्तारात्रिकाविधि को नहीं मानते।"

---

[१] इस की एक प्रति श्री क्षमाकल्याण ज्ञानभंडार, बीकानेर में उपलब्ध है। इस ग्रंथ का कुछ परिचय "गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज़" से प्रकाशित "जेसलमेर भांडागारीय ग्रंथानां सूचीः" में छपा है।

इस प्रकार वक्रोक्तियों से सूरि जी ने महाराजा के समक्ष पद्मप्रभ जी को निरुत्तर कर दिया।

सैद्धांतिक विषयों में अपनी दाल गलती न देख कर पद्मप्रभ ने महाराजा को प्रसन्न करने के लिए कहा—"यदि आप की आज्ञा हो तो मै सब के मनोरंजनार्थ कुछ कुतूहल दिखलाऊं, जैसे आकाश-मंडल से उतर कर अत्यंत सुंदर विद्याधरी को आप की गोद में बैठी हुई दिखा सकता हूं। बड़े से बड़े पहाड़ को अंगुल प्रमाण बना कर दिखा दूं? हरिहरादि देवों को आकाश में नृत्य करते दिखला दूं? बड़ी-बड़ी तरंगों वाले समुद्र और इस नगरी को आकाश में निराधार दिखला दूं!"

इस कथन को सुन कर सभासद लोग कहने लगे—"यदि आप ने ऐसी ही कलाएं सीखी हैं तो फिर इन आचार्यों के साथ शास्त्रार्थ के पचड़े में क्यों पड़े? महाराजा से इनाम पाने के लिए लाखों ऐंद्रजालिक सदा आते रहते हैं। उन के साथ आप भी अपना खेल दिखाते!"

प्रसंगवश सूरि जी ने मुस्करा कर कहा—"राजपंडितो! ये अपने को समस्त कलाओं में पारंगत मानते हैं, इस लिए सैद्धांतिक विषयों में पराजित हो जाने पर ऐंद्रजालिक विद्या का आश्रय ढूँढने लगे, अतः अब इन की इसी विद्या की परीक्षा की जाय!"

पद्मप्रभ—"आचार्य जी! हँसते क्या हैं? यह हँसी का समय नहीं, परीक्षा का समय है। यदि शक्ति है तो सब लोगों के चित्त में चमत्कार पैदा करने वाला कोई कला-कौशल आप भी दिखलाइए, नहीं तो सभा से बाहर निकल जाइए!"

सूरि जी—"पहले तो आप को ही अपनी गर्वपूर्ण ऐंद्रजालिक विद्या दिखानी चाहिए! फिर हम जैसा समयोचित होगा, करेंगे"।

कौतूहलप्रिय महाराजा ने इंद्रजाल देखने की उत्कंठा से कहा—"पद्मप्रभ जी! आचार्य श्री ने अनुमति दे दी है, अब शीघ्र ही स्वेच्छानुसार कोई चमत्कार दिखलावें।" पद्मप्रभ के पास दिखाने को क्या धरा था? वह केवल लंबी-चौड़ी हाँकने में ही कुशल था। सूरि जी के पुण्य-प्रभाव से आकुल-व्याकुल होकर पद्मप्रभ कहने लगा—"आज रात को देवी की पूजा कर अभीष्ट देवता का आह्वान करके एकाग्र चित्त से मंत्रों का ध्यान करूँगा और कल प्रातःकाल अनेक प्रकार के इंद्रजाल दिखलाऊँगा!"

इस कथन से पद्मप्रभ की पोल खुली जान कर सभासदों में हँसी के फ़व्वारे छूटने

लगे। सब लोगों ने दुर्वाक्य कह कर उस की हँसी उड़ाई।

पद्मप्रभ ने अपना उपहास होते देख सूरि जी से कहा—"यदि आप भले हैं तो अब भी कुछ दिखलाएं !" सूरि जी मुस्कुराते हुए कहने लगे—"अच्छा ! पहले यह तो बतलाओ इंद्रजाल किसे कहते हैं ?"

पद्मप्रभ—"आप ही बतलावें !"

सूरि जी—"मूर्खराज ! क्या इतना भी नहीं जानते कि असंभव वस्तु की सत्ता के आविर्भाव को इंद्रजाल कहते हैं ? क्या आप ने हमारा एक इंद्रजाल अभी नहीं देखा ?"

पद्मप्रभ—"कौन सा ?"

सूरि जी—"अभी जो आप के सामने हुआ है।"

पद्मप्रभ—"वह क्या ?"

सूरि जी—"महानुभाव ! क्या आप ने यह बात स्वप्न में भी सोची थी कि बड़ी-बड़ी गद्दी पर बैठनेवाला मैं, महाराज पृथ्वीराज की सभा में इस प्रकार पराजित हो कर हास्यास्पद होऊँगा ! परंतु दैवयोग से वह असंभव बात भी हमारी उपस्थिति में तुम्हारे लिए संभव हो गई। क्या यह इंद्रजाल नहीं है ?"

पद्मप्रभ अपने उपहास की परवाह न कर के ईर्ष्यावश महाराजाधिराज से कहने लगे—"आप ने अपने अतुल पराक्रम से अनेक प्रतापी राजाओं को पराजित कर उन्हें आज्ञाकारी बना लिया है, समस्त भूमंडल में आप ही अद्वितीय शासक हैं, अतः आप युग-प्रधान हैं। परंतु बड़े आश्चर्य की बात है कि आप के रहते हुए ये सूरि महोदय भट्ट लोगों द्वारा अपने को 'युगप्रधान' घोषित कराते हैं।"

महाराजा ने पूछा—"युगप्रधान शब्द का क्या अर्थ है ?"

पद्मप्रभ ने अपना मनोरथ पूर्ण होते देख कर तत्काल कहा—"युग अर्थात् काल, प्रधान सर्वोत्तम। अर्थात् वर्त्तमान काल में जो सर्वोत्तम हो वही युगप्रधान है। अब सोचें कि युगप्रधान आप हैं कि ये हैं ?"

सूरि जी—"राजन् ! अपने-अपने श्रद्धेय के प्रति सब लोग सम्मान-सूचक शब्द व्यवहार करते हैं, इस में क्या बुरा है ? जिस प्रकार आप को, मंडलेश्वर कैमास आदि आदर-सूचक शब्दों से संबोधन करते हैं, उसी प्रकार भक्त लोग भी अपने गुरुओं को योग्य विशेषण दें तो क्या अनुचित है ?"

महाराजा ने पद्मप्रभ के ईर्ष्याभाव को जान लिया, उन्हों ने कहा—"हां, यह तो लोकाचार है। इस में कोई हरज नहीं! पंडितो! इन दोनों विद्वानों की विद्वत्ता की परीक्षा कर लीजिए। इन में जो अधिक योग्य हों उन्हें जयपत्र दिया जाय।" पंडितों ने कहा—"महाराजाधिराज! हम ने तो इन की परीक्षा कर ली है, न्याय, व्याकरणादि सभी विषयों में जिनपति सूरि जी ही प्रौढ़ विद्वान् हैं; फिर भी आप की आज्ञा से इन दोनों के साहित्य-विषयक अनुभव की परीक्षा कर लेते हैं।"

तत्पश्चात् राजपंडितों ने सूरि जी और पद्मप्रभ के प्रति कहा—"राजा पृथ्वीराज ने 'भद्दानक' नाम द्वीपपति को जीत लिया इस विषय को लेकर कविता बनाइए!" सूरि जी ने तत्काल फ़रमाया :—

यस्यान्तर्बाहुगेहं बलभृतककुभः श्रीजयश्रीप्रवेशे।
द्वीप्रप्रासप्रहारप्रहतघटतटप्रस्तमुक्तावलीभिः॥
नूनं भद्दानकीयैं रणभुविकरिभिः स्वस्तिको पूरितोच्चैः।
पृथ्वीराजस्य तस्यातुलबलमहसः किं वयं वर्णयामः॥

अर्थात्—"अतुलबल शाली महाराज पृथ्वीराज का हम कहां तक वर्णन करें जिन्हों ने अपने सैन्यबल से तमाम दिशाओं को जीत लिया है; अतएव जयलक्ष्मी ने आकर इन की भुजाओं को अपना घर बना लिया है। जब सर्वप्रथम नवोढ़ा बधू घर में आती है तब गृहद्वार में स्वस्तिक किया जाता है, वैसे ही इन की भुजाओं में जयलक्ष्मी के प्रवेश के समय रणभूमि में भद्दानक राजा के हाथियों ने तीखे भालों की मार से फटे हुए अपने कुंभस्थल से निकलते हुए गजमुक्ताओं से स्वस्तिक किया है।"

इस श्लोक को पढ़ कर सूरि जी ने इस की विस्तृत व्याख्या की। देखा-देखी पद्मप्रभ ने भी पूर्वापर बिना सोचे ही शीघ्रता से पाँच चरण वाला श्लोक कह सुनाया। सूरि जी ने कहा—"पंडित महानुभावो! आज तक श्लोक तो चार चरणों का ही देखा और सुना है, इन पाँच चरणों वाले श्लोक-रचयिता पंडितशेखर (!) की बलिहारी है।" फिर सूरि जी ने उस श्लोक की पाँच अशुद्धियों का दिग्दर्शन कराया।

अपने श्लोक की अशुद्धियां सुन कर सूरि जी को नीचा दिखाने की इच्छा से पद्मप्रभ ने कहा—"'यस्यान्तर्बाहुगेहं' श्लोक इन की तात्कालिक रचना न होकर पूर्व अभ्यस्त है।"

पंडितों ने कहा—"आप धैर्य धारण करें ! व्यर्थ की टीका टिप्पणी न कर आप दोनों पृथ्वीराज की सभा का गद्य में वर्णन करें। पंडितों के कहने पर सूरि जी ने मन ही मन विचार कर सभामंडप की कल्पना कर खड़िया से ज़मीन पर लिखना प्रारंभ किया।

चञ्चन्मेचकमणिनिचयरुचिररचनारचितकुट्टिमोच्चरन् मरीचिप्रपञ्चखचित-दिक्चक्रवालम् सौरभभरसम्भूतलोभवशबम्भ्रभ्यमाणझङ्कारभृतभुवनभवनाभ्यन्तरभूरि-भ्रमरसम्भृतविकीर्णकुसुमसम्भारविभ्राजमानप्राङ्गणम्, महानील श्यामलनीलपट्टचेलोल्लं-सदुल्लोचाञ्चललम्बमानानिलविलोलबहलविमलमुक्ताफलमालाकुलितजलपटलाविरलस-मुज्ज्वलसलिलधारम्, दिग्विक्षिप्तवलक्षचक्षुः कटाक्षविक्षेपक्षोभितकामुकपक्षामुक्तमौक्ति-काद्यनर्घपञ्चवर्णान्रत्नरत्नालङ्कारविसरनिःसरत्किरणनिकुरम्बचुम्बिताम्बरारब्धनिराल-म्बनविचित्रकर्म, प्रविशत्कुसुमायुधराजधानीविलासवारविलासिनीजनम्, क्वचिच्चू-ताङ्कुररसस्वादमत्तकलकण्ठरवसमाना नवगीतगानकलाकुशलगायकजनप्रारब्धललितका-कलीगेयम्, क्वचिच्छुचिचरित्रचारुवचनरचनाचातुरीचञ्चुनीतिशास्त्रविचारविचक्षण-सचिवचक्रचर्यमाणाचारानाचारविभागम्, क्वचिदासीन्नोद्दामप्रतिवाद्यमन्दमन्दभिदुरोद्य-दनवद्यहृद्यसमग्रविद्यासुन्दरीचुम्ब्यमानावदातवदनारविन्दकोविदवृन्दारकवृन्दम्, उद्धत-कन्धरविविधमागधवर्ण्यमानोद्धुरधैर्यगाम्भीर्योदार्यवर्द्धिष्णु, सुधाधामदीधिति साधारण-यशोराशिधवलितवसुन्धराभोगनिविशमानसामन्तचक्रम्, प्रसरन्नानामणिकिरणनिकरविर-चितवासवशरासनसिंहासनासीनदोर्दण्डचण्डिमाडम्बरखण्डिताखण्डवैरिभूममण्डलनमन्म-ण्डलेश्वरपटलमस्तकोद्भूटकिरीटतटकोटिसंटकविघटितविसंकटपादविष्टरभूपालम्, अपि च, उद्यानमिव पुन्नागालङ्कृतम्, श्रीफलोपशोभितं च महाकवि काव्यमिव वर्णनीय वर्णा-कीर्णम्, व्यञ्जितरसं च सरोवरमिव राजहंसावतंशम्, पद्मोपशोभितम्, पुरन्दरपुरमिव सत्येऽधिष्ठितम्, विबुधकुलसंकुलं च गगनतलमिव विलसन्मङ्गलम्, कविराजितं च कान्तावदनमिव सदलङ्कारम्, विचित्र चित्रं च।"

अर्थात्—"राजा पृथ्वीराज का सभामंडप कैसा है ? चमकती हुई सुंदर मणियों से इस की भीत और अंगन बनाए गए हैं। उन्हीं मणियों की रुचिर रचना से रचित फ़र्श से निकलने वाली किरणों से इस के चारों ओर दिशाएं जगमगा रही हैं। जिन की सुगंध के लोभ से आगत भ्रमरों के गुंजाररव से सारे ही सभाभवन का मध्य भाग भर गया

हैं; ऐसे फूलों के गुच्छे सभामंडप के प्रांगण में बिखरे हुए हैं। इस सभा में नीले रंग का रेशमी शामियाना तना हुआ है। हवा से हिलती हुई उस के चारों तरफ़ की चंचल मुक्त मालाएं ऐसी प्रतीत होती हैं मानो किसी जलाशय के चारों ओर निर्मल जलधारा टपकती हो। जिस में कामदेव की राजधानी के उपयुक्त सुंदरी वेश्याएं विद्यमान हैं उन के सुंदर कटाक्षों से कामीजनों का हृदय क्षुब्ध हो रहा है। वेश्याओं के धारण किए हुए अनेक वर्ण वाले रत्नजटित आभूषणों से विस्फुरित रंग-बिरंगी किरणों के समूह से निरालंब ही आकाश में चित्रकारी-सी हो रही है। सभाभवन में किसी स्थान पर आम की मंजरी खाने से मस्त हुई कोयल के कलरव के समान संगीतकला में निपुण कलावंत लोगों से सुंदर गायन किया जा रहा है। कहीं पर सदाचार-संपन्न सुंदर वचनों की रचना-चातुरी प्रसिद्ध नीतिशास्त्र को विचारने में विचक्षण, मंत्रि-मंडल आचार-अनाचार का विवेचन कर रहा है। इसी सभा में किसी स्थान पर उत्कट प्रतिवादियों को परास्त करने में समर्थ उत्तमोत्तम समस्त विद्याएं जिन की जिह्वा पर नृत्य कर रही हैं, ऐसा विद्वद्वृंद विद्यमान है। यहां पर उद्धत कंधरा वाले अनेक मागध, राजाओं की धीरता गंभीरता और उदारता का व्याख्यान कर रहे हैं। चंद्रमा के समान श्वेत यश द्वारा धवल की हुई पृथ्वी को भोगने वाले अनेक छोटे बड़े सामंत राजा आ-आ कर जिस में प्रवेश कर रहे हैं। जिस में राजा, नानावर्ण की मणियों के जड़ाव से बनाए हुए इंद्र धनुषाकार सिंहासन पर बैठे हुए हैं। जिस ने अपने बाहुबल से समस्त शत्रु-समुदाय को छिन्न-भिन्न कर दिया है ऐसे राजा पृथ्वी-राज के चरणकमलों में अनेक राजा लोग किरीट मुकुटाच्छादित मस्तक को झुकाते हैं। जैसे बगीचा पुन्नाग और श्रीफल के बगीचों से शोभित होता है वैसे ही यह सभा-भवन हस्ति तुल्य पुष्टकाय पुरुषों तथा लक्ष्मी के वैभव से शोभित है। जिस प्रकार महाकवियों का काव्य व्याख्या करने योग्य वर्णों से पूर्ण तथा हास्य, शृंगार, करुण आदि रसों से युक्त रहता है—उसी तरह यह सभाभवन ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों से युक्त है तथा अभिलाषा को व्यंजित करने वाला है। जैसे सरोवर की शोभा, राजहंस और कमलों से होती है वैसे ही आप के सभाभवन की शोभा राजा और पद्मा(लक्ष्मी)से है। इंद्र की नगरी अमरावती में कोई भी मिथ्याभाषी नहीं है तथा सदैव उस में देवताओं की भीड़ बनी रहती है; वैसे हीं इस भवन में सब सत्यवक्ता हैं और इस में विद्वानों की सदैव भीड़ लगी रहती है। आकाश में जिस प्रकार मंगल और शुक्र नाम के ग्रह शोभावृद्धि करते हैं वैसे ही आप की

सभा में गायनादि मांगलिक कार्य तथा कवि लोग शोभा बढ़ाने में हेतु है। कांता के मुख की शोभा अच्छे-अच्छे अलंकारों से है तथैव इस सभामंडप की शोभा भी सुदर सजावट से है। विविध प्रकार के चित्रों से यह चित्रित है।"

सूरि जी इस प्रकार का धारावाही वर्णन कर रहे थे, तब बीच ही में राजपंडित बोले, "पकते हुए अनाज के एक दाने की तरह हम ने आप की साहित्यिक योग्यता पहिचान ली है। अब आप कृपया इस वर्णन को अंतिम क्रियापद देकर समाप्त कीजिए! सूरि जी ने तत्काल सभावर्णनात्मक निबंध का उपसंहार इस प्रकार कर दिया:—

श्रीपृथ्वीराजसभामण्डपमवलोक्य कस्य न चित्रीयते।

अर्थात्—"महाराज पृथ्वीराज के ऐसे सभामंडप को देख कर किस पुरुष का चित्त आश्चर्यमग्न नही होता।" सूरि जी से यह वर्णन व्याख्या-सहित श्रवण कर पंडितमंडली आश्चर्यमग्न हो कर सिर धुनने लगी।

पद्मप्रभ ने कहा—"यह रचना कादंबरी, वासवदत्ता आदि से ली हुई जान पड़ती है।" पंडितों ने उत्तर दिया—"बस! चुप रहिए! कादबरी आदि ग्रंथ हमारे अच्छी तरह परिशीलन किए हुए हैं ऐसी व्यर्थ की बातें कह कर क्यों हास्यास्पद बनते हैं।"

पडितो ने सूरि जी को लक्ष्य कर कहा अब आप प्राकृत भाषा मे द्व्यर्थक गाथा रच कर महाराज पृथ्वीराज के अंतःपुर और वीर योद्धाओं का वर्णन करें। सूरि जी ने तत्काल यह गाथा कह सुनाई:—

वर करवाला कुवलय पसाहणा उल्लसंत सत्तिलया।
सुंदरि विंदुव्व मरिंद मंदिरेनु हासहंति भड़ा॥

अर्थात्—"हे राजन्, आप के महल में सुंदर हाथों वाली कमल के फूलों से शृंगारित ललाट तट पर केसर कस्तूरी के तिलक धारण करने वाली सुंदरियां विराजमान हैं।" या "अच्छे-अच्छे खड्गधारी भू-मंडल के अलंकार, जिन की शक्ति-लता दिनोंदिन बढ़ रही है, ऐसे शूरवीर योद्धा आप के महल में सुंदरियों के ललाटस्थ बिंदु की भाँति शोभायमान हैं।"

इस गाथा की व्याख्या सूरि जी ने बड़े विस्तार से की। पूज्यश्री का पांडित्य-प्रवचन सुन कर सभी लोग उन की ओर श्रद्धा-पूर्वक निहारने लगे। ऐसा देख कर पद्म-प्रभ ने कहा—"आचार्य जी! मेरे साथ वाद शुरू करके अब दूसरों के आगे अपनी विद्वत्ता

दिखाते हो ?" सूरि जी ने तत्काल ही नंदिनी छंद में एक श्लोक बना कर कहा—

पृथिवीनरेंद्रसमुपाददे रिपोरवबोधनेन महासिन्धुरावली ।

भवता समीपमनुतिष्टता स्वयं नहि फल्गुचेष्टितमहोमहात्मनाम् ॥

अर्थात्—"हे पृथ्वीराज ! आप ने शत्रुओं को क़ैद कर के हाथियों की कतार छीन ली, महापुरुषों का पुरुषार्थ कभी व्यर्थ नहीं जाता ।" और पद्मप्रभ से "इस नूतन श्लोक का छंद कौन सा है ?" पूछा, उसे निरुत्तर देख कर राजपंडितों ने कहा—"इस अज्ञानी के साथ संभाषण करना निरर्थक है । अब आप खड्गबंध चित्रकाव्य रचना कर दिखलावें ।"

सूरि जी ने उसी समय ज़मीन पर तलवार की रेखा बना कर दो श्लोकों द्वारा उस की पूर्ति कर दी—

लसद्यशः सिताम्भोज-पूर्ण सम्पूर्ण विष्टप ।

पयोधिसम गाम्भीर्य-धीरिमा धरिताचल ॥१॥

ललाम विक्रमाक्रान्त-परक्ष्मापालमण्डल ।

लब्धप्रतिष्ठभूपाला-वतीमव कलामल ॥२॥

अर्थात्—"आप के निर्मल यशःसरोज से सारा जगत भरा है । आप गंभीरता में समुद्र के समान और धैर्य में समुद्र जैसे हैं । अपने प्रशंसनीय पराक्रम से अन्य नृपतियों को दबा कर आप ने विश्व में प्रतिष्ठा प्राप्त की है । हे कलाविद् राजन् ! आप चिर-काल पृथ्वी का शासन करते रहें !"

इस चित्रकाव्य को सुन कर सभी पंडित सूरि जी की प्रशंसा करने लगे । ईर्षालु पद्मप्रभ ने पंडितों से कहा—"हज़ार मुद्रा मैं भी दे सकता हूं, मेरी भी आप लोग प्रशसा करें ।" ऐसी ऊटपटांग बातें सुन कर मंडलेश्वर कैमास चुप न रह सके, उन्हों ने पद्मप्रभ से कहा—"रे मुडिक ! महाराज पृथ्वीराज के सामने यद्वातद्वा बोलते तुझे लज्जा नही आती ?"

यह सारा दृश्य देख कर महाराजा पृथ्वीराज कहने लगे—"आप सभ्यों को सम-दृष्टि रखनी चाहिए ! इस विचारे को भी बोलने का मौक़ा दें ।"

मंडलेश्वर ने कहा—"राजन् ! यह क्या बोलेगा ? कुछ ज्ञान भी तो नहीं है ।"

महाराजा ने कहा—"आप का कहना यथार्थ है, यह तो इस की आकृति ही कह

रही है। पर हमारी न्यायमयी सभा में किसी को पक्षपातादि का आक्षेप लगाने का अवसर न मिले, इस लिए सब विषयों में पद्मप्रभ की भी परीक्षा करनी चाहिए।"

पंडितों ने कहा—"कृपानाथ ! पद्मप्रभ को कविता करने का ज्ञान नही है, आचार्य-रचित श्लोकों में यह छंद भी नहीं पहचानता। आचार्य श्री ने तर्क और युक्तियों से 'वामावर्त आरात्रिक अवतारण' को सिद्ध कर इसे निरुत्तर कर दिया। यह तर्कशास्त्र से बिल्कुल अनभिज्ञ है। इसे आता है—केवल विरुद्ध बोलना। खैर, जो हो; हम श्रीमान् की आज्ञा से सविशेष रूप से समान बर्ताव करेंगे। अच्छा आचार्य जी ! और पंडित पद्मप्रभ जी ! आप निम्नोक्त समस्यापूर्ति करें :—

चकर्तदन्तद्वयमर्जुनःशरैः क्रमादमुं नारद इत्यबोधिसः।"

सूरि जी ने कहा :—

चकर्तदन्तद्वयमर्जुनः शरैः क्रमादमुं नारद इत्य बोधिसः।
भूपाल सन्दोह निसेवितक्रम-क्षोणीपते केन किमत्र संगतम्॥

पंडितो ने कहा—"आचार्य जी ! ऐसी समस्यापूर्ति से कोई लाभ नही। परस्पर असंगत पद का समस्यापूर्ति के रूप मे उत्तर पाने के लिए ही हम ने आप से पूछा था। आप ने उसी को पूर्ति में लगा दिया। सरस काव्य-रचना की अपेक्षा असंगत दोष को हटा कर संगत बनाना ही तो समस्यापूर्ति की कठिनता है।"

सूरि जी—"महानुभावो ! इस प्रकार की भी तो समस्यापूर्ति होती है। देखिए—एक वार राजा भोज की सभा मे विदेशी पंडित ने समस्या-पूर्ति के लिए निम्नोक्त तीन चरण कहे—'साते भवतु सुप्रीता', 'वद्य चित्रक नागरैः', 'आकाशे नवका पान्ति' इति। भोज की सभा के राजकीय पंडित ने 'देव किं तेन सङ्गतम्' कह कर समस्यापूर्ति कर दी।"

पंडित—"हां ! इस प्रकार भी समस्या पूर्ण की जाती है, परंतु पद्मप्रभ जैसों के लिए। आप जैसे काव्यरचना की शक्ति रखने वालों के लिए यह पूर्ति शोभास्पद नहीं है।" ऐसा सुन कर पूज्य श्री ने क्षण भर गंभीरता-पूर्वक सोच कर इस प्रकार की पद-योजना कर सुनाई :—

चकर्तदन्तद्वयमर्जुनः शरैः, कीर्त्या भवान् यः करिणो रणाङ्गणे।
विहक्षया यान्त मिला स्थितोहरिः क्रमादमुं नारदइत्यबोधिसः॥

अर्थात्—"रणांगण में अर्जुन ने अपने तीक्ष्ण बाणों से हाथी के दोनों दाँत काटे। और हे राजन् ! आप ने अपनी धवलकीर्ति से रणांगण में हाथी के दाँतों को भी मात कर दिया (अर्थात्—शत्रुओं को हराने से फैली हुई आप की कीर्ति हाथी दाँत से भी अधिक उज्ज्वल है)। पृथ्वी पर स्थित श्रीकृष्ण ने आकाश मार्ग से आते हुए नारद को एकाएक नहीं, क्रम-क्रम से जाना कि यह नारद है।"

इस की व्याख्या सुन कर आश्चर्य-रस में सराबोर राजपंडितों ने कहा—"आचार्य जी ! भगवती सरस्वती की आप पर बड़ी भारी कृपा है। आप जिस विषय को लेते हैं, उसी में भगवती आप का साहाय्य करती हैं।"

जिनमतोपाध्याय—"पंडित महोदयो ! आप लोगों का यह कथन अक्षरशः सत्य है। इन पर यदि श्री वाग्देवी प्रसन्न न होतीं, तो आप सरस्वती-पुत्र विद्वानों से इन की कैसे मुलाक़ात होती ?"

पंडितों ने पद्मप्रभ से कहा—"महाशय ! आप भी कुछ कहिए।"

पद्मप्रभ—"आप एक क्षण ठहरें, मैं कुछ सोच रहा हूं।"

पंडितवर्ग—"अच्छा छः मास तक सोचते रहिए !"

फिर मंडलेश्वर से कहा—"कैमास जी ! आप ने श्री जिनपति सूरि जी के समान कोई विद्वान् देखा ?"

कैमास—"आज तक नहीं देखा।"

महाराजा पृथ्वीराज ने सामने के तबेले में बँधे हुए घोड़ों की ओर अँगुली निर्देश कर कहा—"आचार्य श्री इधर देखिए, ये हमारे प्रधान घोड़े किस प्रकार उछल रहे हैं, इन का वर्णन करें !"

सूरि जी ने कुछ सोच कर कहा—"राजन् ! सुनिए—

ऊर्द्धस्थितश्रोत्रवरोत्तमाङ्गा जेतुं हरेरश्वमिवोत्तरङ्गाः।
खमुत्प्लवन्ते जवनास्तुरङ्गास्तवावनीनाथ यथा कुरङ्गाः॥"

अर्थ—"हे पृथ्वीपते ! आप के ये तेज़ घोड़े हरिणों की तरह आकाश की ओर उछलते हैं। इन के कान खड़े है और मस्तक ऊँचे हैं। मालूम होता है कि ये ऊँचे हो-कर सूरज के घोड़ों को जीतना चाहते हैं।"

इस अर्थ को सुनने से प्रसन्न हुए राजा को देख कर पंडित लोगों ने कहा—"आचार्य

महोदय ! उदयगिरि नामक हाथी पर बैठे हुए महाराज पृथ्वीराज किस प्रकार शोभते हैं ?" पूज्य श्री ने मन ही मन कल्पना कर के कहा—

विस्फूर्जद्दन्तकान्तं लसदुरुकटकं विस्फुरद्धातुचित्रं-
पादैर्विभ्राजमानं गरिमभृतमलं शोभितं पुष्करेण ।
पृथ्वीराजक्षितीशोदयगिरिमभिविन्यस्त पादो विभासि
त्वं भास्वान्ध्वस्तदोषः प्रबलतरकराक्रान्तपृथ्वीभृदुच्चैः ॥

अर्थ—"हे पृथ्वीराज भूपति ! आप जब अपने उदयगिरि नामक हाथी पर आरूढ़ होते हैं, तब आप की शोभा उदयाचल पर स्थित सूर्य की भाँति हो जाती है । सुनहरी कड़ों वाले हाथीदाँत सूर्यकिरण से चमचमाते हुए उदयाचल की तरह शोभित हैं । जैसे उदयगिरि गेरु आदि नाना रंग-बिरंगे खनिज पदार्थों से मनोहर लगता है वैसे ही हाथी अपने शरीर पर की हुई सजावट और सुंदर चित्रकारी से । यह अपने चार चरणों से अच्छा लगता है और वह आस-पास के छोटे पहाड़ों से । दोनों ही गुरुता (भारीपन) को लिए हुए हैं । पर्वत कमल और जलाशयों से सुंदर है, गजेंद्र शुंडादंड से । हे राजन् ! आप निर्दोष और देदीप्यमान हैं, सूर्य चमकीला और रात्रि को मिटाने वाला है । आप ने अपने प्रबल भुजदडों से बड़े-बडे राजाओं को दबा लिया है, और सूर्य ने अपनी किरणें, बड़े ऊँचे-ऊँचे पर्वतों पर पहुँचा दी हैं ।"

यह श्लोक दो अर्थ वाला है । सूर्यराजा, पर्वत और हाथी इन की समता इस श्लोक में बतलाई गई ।

इस श्लोक का भावार्थ सुन राजराजेश्वर अत्यंत प्रसन्न हुए । राजपंडितों ने भी कहा—"नृपते ! सर्वदेशों में अपने विद्याबल से राजाओं के पास स्वर्णपट (पदक) पाए हुए जो विद्वान् है उन सब से भी व्याकरण, धर्मशास्त्र, साहित्य, तर्क, सिद्धांत और लोक-व्यवहार को जानने में ये आचार्य बढ़े-चढ़े हैं । ऐसी कोई भी विद्या नहीं, जो इन के मुख-कमल में विराजमान न हुई हो ।"

असहिष्णु पद्मप्रभ ने अपने करने की समस्यापूर्ति को बिना किए ही सूरि जी की आलोचना करनी प्रारंभ कर दी—"राजन् ! कलहप्रिय मनुष्यों के पास विद्या का न होना ही अच्छा है, क्योंकि वे विद्याबल से कलह कर उलटा बुरा आदर्श खड़ा करते हैं । कहा है कि—

विद्या विवादाय धनं मदाय, प्रज्ञाप्रकर्षा परवञ्चनाय
अभ्युन्नतिर्लोकपराभवाय, येषां प्रकाशे तिमिराय तेषां।"

यह श्लोक सुन कर सूरि जी ने कहा—"भद्र पद्मप्रभ ! यदि आप रुष्ट न हों तो हम एक हित की बात कहें !"

उस ने कहा—"कहिए !"

सूरि जी ने कहा—"इस प्रकार का अशुद्ध उच्चारण करते हुए देख कर अन्य लोग क्या समझेंगे, कि श्वेतांम्बर साधुओं को शुद्ध बोलना भी नहीं आता। अतएव कम से कम लोकोपहास से बचने के लिए तो अब से 'प्रज्ञाप्रकर्षः परवञ्चनाय'—'येषां प्रकाशास्तिमिरायतेषाम्' ऐसा उच्चारण किया करें।"

और इस प्रसंग में आप ने जो 'विद्या विवादाय' श्लोक कहा है वह अप्रासंगिक है क्योंकि हम ने आप को शास्त्रार्थ करने का आह्वान नहीं दिया; आप ने ही तो फलोधी में श्रावकों के समक्ष कहा कि, "अपने गुरु को लाओ ! मै जीत लूंगा" कंधा हिलाते हुए पद्मप्रभ कहने लगे—"हां, मैं ने कहा था।"

सूरि जी—"किस शक्ति के भरोसे पर ?"

पद्मप्रभ—"अपनी निजी शक्ति के भरोसे पर।"

सूरि जी—"अब आप की वह शक्ति कहां चली गई, क्या उसे कौवे खा गए ?"

पद्मप्रभ—"नही, नहीं।"

सूरि जी—"तो फिर गई कहां ?"

पद्मप्रभ—"मेरी भुजाओं में विद्यमान है, परंतु बिना अवसर प्रकाशित नहीं की जाती।"

सूरि जी—"आखिर उस के प्रकाशन का अवसर कब आवेगा ?"

पद्मप्रभ—"अभी है।"

सूरि जी—"तो फिर विलंब क्यों ?"

पद्मप्रभ—"महाराजा की आज्ञा लेकर अभी अपनी शक्ति प्रकट करता हूं।"

सूरि जी—"शीघ्रता कीजिए।"

इस गरमागरम बहस के पश्चात् पद्मप्रभ सोचने लगा अब तो जिस किसी उपाय से अपनी मानरक्षा करनी ही पड़ेगी, अन्यथा लोगों के अपवाद से इस देश में रहना भी

दुश्वार हो जायगा ! फिर करूं भी क्या ? आज तो सब काम उलटा ही उलटा हो रहा है। इन्हों ने तो अपने विद्याबल और वचन-चातुरी से सब लोगों को प्रभावित कर लिया है। सोचते-सोचते आख़िर एक उपाय हाथ लगने से महाराजा से कहा—"पृथ्वीपते ! मैं ने छत्तीस प्रकार की शस्त्रविद्या और मल्लविद्या का अभ्यास किया है; इस लिए इन आचार्य के साथ मेरी कुश्ती करा दीजिए।" महाराज पृथ्वीराज जैन साधुओं के आचार-व्यवहार से अनभिज्ञ थे, और मल्लविद्या देखने की उत्कंठा से उन्हों नें सूरि जी की ओर दृष्टिपात किया।

सूरि जी ने आकृति और चेष्टा से महाराजा का अभिप्राय जान कर कहा—"राजन् ! बाहुयुद्ध आदि की क्रीड़ाएं हाथियों की हैं। वे अपने शुंडादंड से अंधे ज़ोर की आज़मायश किया करते हैं। एक-दूसरे से गले चिपट कर जूझना बालकों के लिए शोभास्पद है, बड़ों के लिए नहीं। शस्त्र लेकर परस्पर लड़ते हुए राजपूत ही अच्छे लगते हैं ब्राह्मण नहीं। दंत-कलह करना वेश्याओं का काम है राज-रानियों का नही। अतः आप ही बतलाइए कि पद्मप्रभ का यह आह्वान हम कैसे स्वीकार कर सकते हैं—यह हमारा काम ही नही है। विद्वान् लोग तो शास्त्र एवं बुद्धिबल से ही उत्तर प्रत्युत्तर करते अच्छे लगते हैं।"

सूरि जी के इस कथन के बीच ही में राजपंडित भी महाराजा से कहने लगे—"राजेश्वर ! हम पंडित लोग विद्वत्ता के गुण से ही आप श्रीमान् से आजीविका पाते हैं, मल्लविद्या से नहीं। कदाचित् आप हमें मल्लयुद्ध करने की आज्ञा दें तो हम उस के पालन में असमर्थ हों।" सूरि जी ने पद्मप्रभ से कहा—"पद्मप्रभ ! साधुवेषधारी होकर ऐसी बातें कहना, तुम्हारे लिए उचित है ?" ऐसा कह कर महाराजा के प्रति अपने पूर्वकथन का अवशेष भाग कहना प्रारंभ किया—"यदि इन की शक्ति हो तो हमारे साथ प्राकृत, संस्कृत, मागधी, पैशाची, शौरसेनी, अपभ्रंश आदि भाषाओं में गद्य-पद्य की रचना करें। व्याकरण, छंद, अलंकार, नाटक, तर्क, ज्योतिष और सिद्धांत-संबंधी विचार करें। परंतु यदि यह हम से लोक और धर्म विरुद्ध मल्लयुद्धादि कराना चाहता है, तो हम इस कार्य को कदापि नहीं करेंगे। और इस के न करने से हमारी कोई लघुता भी नहीं है। इसी तरह कल कोई किसान कह बैठेगा कि 'अगर आप पंडित हों तो हमारे साथ हल चलाइए' तो क्या हम उस का कथन मान लेंगे ? और न मानने से क्या पंडिताई चली जायगी? यदि

इस में सामर्थ्य है तो कूटश्लोक, प्रश्नोत्तर, गुप्त क्रिया, कारकादि विषयों में कोई भी बात हम से पूछे। या वह स्वेच्छानुसार किसी भी सांकेतिक लिपि में कोई श्लोक लिखें यदि हम इस के हृदय में स्थित छंद को न बतला दें तो हमें हारा हुआ समझें ! शर्त यह है कि वह उस छंद को किसी सभ्य पुरुष को बता दे । जिस से फिर वह अपनी बात बदल न सके। अथवा किसी छंद के केवल स्वर या व्यंजन को लिख दे, यदि हम उस के मनोगत श्लोक को न बता दें तो हमें हारा समझें। एक बार सुने हुए श्लोक या श्लोकाक्षरों को यह आनुपूर्विक लिख बताए या हम बता दें । या वर्तमान समय में प्रचलित बाँसुरी से गाई जाने वाली राग-रागनियों का नाम-परिचय देते हुए तत्कालिक गायन स्वरूप कविता द्वारा अन्य किसी के बनाए हुए कोष्टक की पूर्ति यह दिखलावे या हम दिखाते हैं ।"

सूरि जी के इस प्रवचन से चमत्कृत होकर राजा ने कहा—"आप सब राग-रागिनियों को भी पहिचानते हैं ?"

सूरि जी—"महाराजाधिराज ! किसी पंडित के साथ शास्त्रार्थ हो तो बात करें, इस अज्ञ के साथ विवाद करना केवल गला सुखाना है ।"

महाराजा—"अच्छा, आप अपनी कोष्टकपूर्ति संबंधी कला को ही दिखावें !"

सूरि जी—"हां, इसी प्रकार की आज्ञा से हमें संतोष है !" राजाज्ञा से उसी समय बाँसुरी बजाई गई। सूरि जी ने उस से निकलती हुई नई-नई रागरागिनियों का परिचय दिया और अपनी आशु काव्य-कला द्वारा राजा पृथ्वीराज के गुणवर्णनात्मक श्लोंको की रचना कर सर्वप्रधान मंडलेश्वर कैमास से निर्दिष्ट कोष्टकों की पूर्ति की।

सूरि महाराज की सर्वतंत्रों में स्वतंत्र प्रतिभा देख कर ऐसा कौन मनुष्य था जिस के हृदय-कमल पर आश्चर्य-लक्ष्मी विराजमान न हुई हो ? अति प्रसन्न होकर महाराजा ने कहा—"वाह ! महाराज ! आप जीत गए हैं, हम आप के विजय की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं । मैं ने अपने धर्म और न्याय के प्रभाव से हज़ारों स्थानों पर प्रभुता प्राप्त की है। सत्तर हज़ार घोड़ों पर मेरा आधिपत्य है; मैं समझता हूं कि कोई भी प्रतिपक्षी मेरे समान दरजे को अभी तक प्राप्त नहीं कर सका है । परंतु इसी देश में मैं आप को अपने समान श्रेणि का मानता हूं, क्योंकि आप ने भी समस्त देशों के धर्माचार्यों को जीत कर उन पर प्रभुता प्राप्त की है । आचार्य महोदय ! अब तक हमें ऐसा मालूम नहीं था कि आप इस प्रकार के रत्न हैं । इस लिए जान या अनजान में मुझ से अनुचित व्यवहार

हुआ हो तो हमें क्षमा करें।" इस प्रकार कहते हुए नरपति ने आचार्य श्री के समक्ष क्षमा-याचनार्थ दोनों हाथ जोड़े। सूरि जी ने भी प्रसन्न मुख से निम्नोक्त श्लोक द्वारा आशीर्वाद देते हुए महाराजा की भूरि-भूरि प्रशंसा की—

बम्भ्रम्यन्ते तवैतास्त्रिभुवन भवनाऽभ्यन्तरं कीर्तिकान्ताः
स्फूर्जत्सौन्दर्यवर्या जितसुरललना योषितः संघटन्ते।
प्राज्यं राज्यं प्रधानप्रणमदवनिपं प्राप्यते यत्प्रभावात्
पृथ्वीराज क्षणेन क्षितिपसतनुतां धर्मलाभःश्रियन्ते॥

अर्थ—"हे पृथ्वीराज नृपते ! जिस धर्म-लाभ के प्रभाव से आप की कीर्ति तीन लोक में फैल गई है, जिस धर्म के प्रभाव से ही सौंदर्य गुणवाली देवांगनाओं के सदृश सुंदरी स्त्रियां आप को मिली हैं, और जिस धर्म के प्रताप से प्रधान-प्रधान राजाओं को जीत कर विशाल राज्य प्राप्त किया है वह धर्मलाभ आप की राज्य-लक्ष्मी को उत्तरोत्तर बढ़ावे !"

महाराजा और सूरि जी दोनों में परस्पर इस प्रकार का शिष्टाचार होते देख कर पद्मप्रभ डाह से कहने लगा—"महाराज ! इस सभा में अब तक केवल आप ही समदृष्टि थे पर अब तो मंडलेश्वर आदि की तरह आप भी इन आचार्य का पक्ष करने लग गए हैं।"

महाराजा—"पद्मप्रभ ! आप हम से क्या कराना चाहते हैं ! यदि आप में कुछ सामर्थ्य हो तो इन आचार्य के साथ वाद कीजिए, हम न्याय करेंगे। अगर कुछ जानते ही न हों तो व्यर्थ बकवाद न कर अपने स्थान चले जाइए।"

पद्मप्रभ—"राजन् ! न्यायप्रधान आप की सभा में यदि कोई कलाकौशल का अभिमान रखता हो, वह मेरे साथ आवे।" इस प्रकार रण-निमंत्रण देता हुआ कहने लगा—"मैं ने लाठी चलाने के छत्तीस भेद सीखे हैं; यदि वह सीखी हुई कला आप की सभा में फलवती न हुई तो कहां होगी ?"

इस अवसर पर महाराजाधिराज का कृपापात्र, मंडलेश्वर कैमास का समकक्ष और श्री जिनपति सूरि जी का अनन्य भक्त सेठ रामदेव बोला—"पृथ्वीनाथ ! कृपया मेरी भी एक बात सुनें, मेरे जन्म-समय में पिता जी को ज्योतिषी लोगों ने कहा था कि सेठ वीरपाल ! आप के पुत्र की जन्मपत्री से ज्ञात होता है कि वह राजमान्य और दानी होगा। ज्योतिषी लोगों के कथन पर विश्वास करके पिता जी ने एक विश्वासी पंडित

द्वारा बाल्य-काल से ही मुझे बहत्तर कलाओं का अभ्यास कराया है। उन में से बहुत-सी कलाओं का परिणाम मैं ने देख लिया है पर मेरे पिता जी ने यह विचार कर कि राज-सभा में अनेक प्रकार के लोग आया करते हैं, कोई किसी बात में मेरे पुत्र का अनादर न कर सके (अतः) बाहुयुद्ध कला भी सिखाई थी। परंतु आप की कृपा से आज तक राजसभा में मेरी ओर किसी ने वक्र दृष्टि से नहीं देखा अतएव बाहुयुद्ध के उपयोग का अवसर ही नहीं मिला। आज पद्मप्रभ मानों मेरे पुण्य से खिंचा हुआ आप की सभा में आ गया है, आप की आज्ञा हो और पद्मप्रभ को स्वीकार हो तो उस सीखी हुई बाहुयुद्ध कला का भी फल देख लिया जाय।" केलिप्रिय राजा ने कहा—"क्या हरज है! तुम दोनों शीघ्रता से तैयार हो कर अपनी अभ्यस्त कला का फल दिखाओ!"

राजाज्ञा पाकर दोनों ने लंगोट कस लिए। गुत्थंगुत्थी होकर अपने-अपने बल की जाँच करने लगे, थोड़ी ही देर में सेठ रामदेव ने पद्मप्रभ को पछाड़ दिया। राजा पृथ्वीराज ने रामदेव सेठ को संबोधित करते हुए व्यंग्य वचनों से कहा—"सेठ! सेठ! इस के कान लंबे हैं तोड़ना मत!" हास्य में कहे हुए इस निषेध को एक प्रकार की आज्ञा मान कर पद्मप्रभ के कान को हाथ में पकड़ कर सूरि जी की ओर देखा। सूरि जी ने कहा—"इस कार्य से जिन-शासन की निंदा होती है, ऐसा मत करो!"

इस दृश्य को देख कर लोगों में काफ़ी हलचल मच गई, कोई कहने लगा—"मैं ने तो पहले ही कह दिया था कि, सेठ जीतेगा", दूसरा बोला, "पद्मप्रभ ने ३६ दंडकलाओं का अभ्यास किया है और सेठ जी ने इस से दुगुनी ७२ सीखी हैं। अतः पद्मप्रभ का पराजित होना स्वाभाविक ही है।" इस प्रकार एकत्र भीड़ में से लोग अपनी-अपनी इच्छानुसार बातें करने लगे।

महाराजा की आज्ञा से सेठ रामदेव पद्मप्रभ को छोड़ कर अलग हो गया। पद्मप्रभ भी खड़ा होकर वस्त्रों की धूलि झाड़ने लगा। राजा का इशारा पाकर राजकीय पुरुषों ने पद्मप्रभ का गला पकड़ कर धक्का दिया। उस विचारे का एक पैड़ी से दूसरी पैड़ी पर गिरने से सिर फूट गया। पैड़ियों के पास ज़मीन पर गिरने से कुछ क्षण के लिए मूर्छित-सा हो गया, इतने ही में पास में खड़े किसी मनुष्य ने उस के लात मार दी।

सूरि महाराज से यह अनौचित्य न देखा गया। इस कार्य को उन्हों ने धर्म की अवहेलना समझ कर अपने भक्त श्रावक कृष्णदेव से उस को पिछोड़ी (वस्त्र) दिलाई। एकत्र

भीड़ में से किसी ने हाथ का सहारा देकर उसे बैठा लिया दूसरे हाथ से उस के सिर पर यह कहता हुआ थपकियां देने लगा कि हमारे ठाकुर ने खूब शास्त्रार्थ किया ! वहां खड़े हुए हज़ारों आदमियों में से कई धूर्तों ने विचारे पद्मप्रभ को ठोकरें देते हुए धक्का देकर धवलगृह नामक राजमहल से बाहर निकाल दिया।

सूरि जी ने श्वेत वस्त्रखंड पर किसी सिद्धहस्त चित्रकार से श्लोकाकार प्रधान छत्रबंध की रचना कर राजा को दिया। राजा ने बड़े चाव से उस छत्रबंध श्लोक को पढ़ा—

पृथ्वीराजपृथुप्रतापतपनप्रत्यर्थिपृथ्वीभुजां।
का स्पर्द्धा भवता पराद्धंच सहसा सार्द्धं प्रजारञ्जन।
ये ना जौ हरिणेन खड्गलतिका संपृक्तिमत्यागिना।
दुर्वारापि विदारिता करिघटा भादानकोर्वीपिते॥

अर्थात्—"हे पृथ्वीराज ! आप का प्रताप सूर्य के समान है, आप का पराक्रम प्रशंसनीय है। आप प्रजा का रंजन करने वाले हैं, शत्रुपक्ष के राजा क्या आप की बरावरी कर सकते हैं ? आप ने हाथ में तलवार लेकर संग्राम में सिंह की तरह 'भद्दानक' नामक राजा के दुर्जय हाथियों की क़तार को छिन्न-भिन्न कर दिया है।"

पंडितों ने इस छत्रबंध वृत्त का दो प्रकार से व्याख्यान किया। उसी चित्रपट में चित्रित दो राज-हंसिकाओं के ऊपर लिखी हुई दो गाथाएं भी महाराज ने पढ़ीं:—

कय मलिण पत्त संगह म सुद्ध वयणं मलीमसकमंच।
माणस हियं पि अवरं परिहरियं राजहंस कुलं॥
पर सुद्धोभय पक्खं रत्त पयं राजहंस मणुसरइ।
तं पुहविराय रण सरसि जयसिरि राय हंसिव्व॥

अर्थात्—"हे पृथ्वीराज नृपते ! जिन्हों ने (नृप) मलिन—दुराचारी पात्रों को एकत्र कर रक्खा है, पक्षांतर में जिन की पांखें मलिन और जिन की वाणी शुद्ध नहीं है (हंस), जिन का कार्यक्रम दोषपूर्ण है (नृप) कीचड़ से जिस के पंजे मैले हैं (हंस) जो मानी घमंडी हैं (नृप) मानस नामक सरोवर जिन को प्रिय है (हंस), ऐसे मनुष्य ही जिन को प्रिय हैं (नृप) ऐसे राजसमुदाय को तथा राजहंस पक्षियों के झुंड को छोड़ कर, जिन के मातृपितृपक्ष शुद्ध हैं, पक्षांतर में जिन की पाँखें अच्छी हैं (हंस) जिन के चरण

लाल हैं ऐसे राजाओं में हंस के समान श्रेष्ठ आप का, राजहंस की तरह रणरूपी सरोवर में जयलक्ष्मी राजहंसी की तरह अनुगमन करती है।"

इन राजहंस और महाराजा के तुलनात्मक वर्णन वाली दो गाथाओं की व्याख्या सूरि जी ने बड़े विस्तार से की। गाथाओं के अर्थ को श्रवण कर प्रसन्न हो महाराजा मन ही मन सोचने लगे कि—"इन आचार्य श्री की कोई अभीष्ट सिद्धि करनी चाहिए"। प्रगट-रूप से कहा—"आप मुझ से कुछ वांछित पदार्थ की याचना अवश्य करें, जिस देश या नगर में आप का मन मानता हो उसी का पट्टा आप मुझ से ले लीजिए!"

सूरि जी—"राजन्! विक्रमपुर के मेरे चाचा साहब माणदेव[1] ने, जिन्हों ने अपने बाहुबल से एक लाख रुपए उपार्जन किए हैं, मुझे दीक्षा लेने के समय बड़े प्रेम से कहा बेटा! मैं अपने बालबच्चों को अनेक प्रकार के आनंद करते देखूँगा—इसी अभिप्राय से मैं ने अनेक कष्ट सह कर इतना धन कमाया है। बेटा! तू ने यह क्या मन में सोचा, जो तू गृहस्थावास से उद्विग्न सा दिखाई देता है। तेरी इच्छा हो तो दस-बीस हज़ार रुपए देकर तुझे विदेश भेज दूं, या यहीं कोई दुकान खुलवा दूं! सुंदर कन्या से तेरा विवाह कर दूं! और भी जो मनोरथ हों तत्काल पूर्ण कर दूं! इस प्रकार अनेक प्रकार से मुझे समझाया परंतु मैं ने इन बातों का कोई ख़याल न कर गुरु श्री के उपदेश से उत्पन्न प्रबल वैराग्य-वश सर्वसंगपरित्याग कर दिया। आज मैं आप के दिए हुए देश या नगर की कैसे इच्छा कर सकता हूं?"

राजा ने कहा—"तो और कोई सेवा फ़रमाइए!"

महाराजा और सूरि महाराज का इस प्रकार संभाषण सुन कर परम उत्कंठित

---

[1] आप का निवासस्थान विक्रमपुर था। सं० १२३३ के आषाढ़ मास में कन्यानयन के विधिचैत्यालय में इन्हों ने मानदेव श्री महावीर भगवान की प्रतिमा स्थापित की थी। पीछे से कन्यानयन प्रसिद्ध जैनतीर्थ कहलाने लगा था। चौदहवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध खरतर गच्छाचार्य श्री जिनप्रभ सूरि जी अपने 'विविध तीर्थकल्प' नामक ऐतिहासिक ग्रंथ में इस तीर्थ व उपर्युक्त प्रतिमा के संबंध में एक स्वतंत्र कल्प ही लिखा है। गुर्वावली व इस कल्प में इस महावीर प्रतिमा का प्रतिष्ठापक श्री जिनपति सूरि जी को लिखा है।

सेठ रामदेव ने कहा—"कृपानाथ ! आप गुरु महाराज को विजयपत्र भेंट करने की कृपा करें।"

राजा—"आज तो समय अधिक हो गया है, दो दिन पश्चात् मैं कार्यवश अजमेर आऊँगा तब अवश्य ही सूरि जी को जयपत्र भेंट कर दूँगा।"

रामदेव—"जैसी आप की आज्ञा ! एक बात और है—अजमेर में गुरु महाराज का प्रवेशोत्सव बड़े समारोह से हो ऐसी आज्ञा दीजिए !"

महाराजा ने मंडलेश्वर कैमास को आज्ञा दी—"मंडलेश्वर ! तुम सब प्रबंध अच्छी तरह कर देना ! जिस से रामदेव के गुरु महाराज बड़े समारोह से अजमेर के उपाश्रय में पधारें।"

सूरि महाराज वहां से उठ कर कैमास आदि राज-प्रधान पुरुषों के साथ वार्तालाप करते हुए नगर की ओर चले। हज़ारों घुड़सवार और पैदल राजसेना के साथ महाराजा के आग्रह से मेघाडंबर छत्र धारण किए हुए सूरि महाराज चल रहे थे। अनेक लोग उन की कीर्ति का यशोगान कर रहे थे, स्थान-स्थान पर राजा की ओर से नृत्य हो रहे थे, श्रावक लोग बड़ी खुशी से दीन-दुखियों को दान दे रहे थे, भाट लोग गौतम स्वामी आदि पूर्वाचार्यों के गुणवर्णन की विरुदावली पढ़ रहे थे। "पृथ्वीराज की सभा में श्री जिनपति सूरि जी ने पद्मप्रभ को जीत लिया।" इस आशय की नई चौपाइयां पढ़ी जा रही थी। राजाज्ञा से नगर ख़ूब सजाया गया, अनेक प्रकार के वाजित्रों के साथ अजमेर पहुँच कर चैत्यपरिपाटी[1] करते हुए सूरि महाराज पौषधशाला में पहुँचे।

दो दिन के पश्चात् अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करने के लिए महाराजा पृथ्वीराज ससैन्य अपने अजमेर के महलों में आए। वहां से हाथी के हौदे पर जयपत्र रख कर नगर के मध्य-मध्य होते हुए पौषधशाला पधारे और सूरि जी के हाथ में जयपत्र समर्पण किया। सूरि जी ने धर्मलाभ रूपी आशीर्वाद दिया। श्रावकों ने राजा साहब को ख़ूब बधावा दिया। इस महोत्सव में सेठ रामदेव ने १६०००) व्यय किए थे।

---

[1] नगर के समस्त जिनालयों को संघ के साथ समारोह-पूर्वक सविधि वंदन करने को चैत्यपरिपाटी कहते हैं।

इस के पश्चात् चातुर्मास पूर्ण होने पर श्री जिनपति सूरि जी महाराज वहां से विहार कर सं० १२४० में विक्रमपुर पधारे।

इस शास्त्रार्थ का सारा वर्णन श्री जिनपति सूरि जी के विद्वान् शिष्य जिनपालोपाध्याय विरचित 'गुर्वावली' से लिया गया है जो कि उसी समय की रचना है। अतः इस की प्रामाणिकता में किंचित् भी संदेह नहीं रह जाता। प्रस्तुत शास्त्रार्थ मनोरंजक होने के साथ-साथ कई ऐतिहासिक तथ्यों पर भी बहुत अच्छा प्रकाश डालता है।

यह शास्त्रार्थ सं० १२३९ कार्तिक शुक्ला ७ (१०) के दिन हुआ था, इस से पूर्व शास्त्रार्थ के निश्चित होने पर महाराजा ने पद्मप्रभ को बुलवा भेजा और स्वयं दिग्विजय के लिए बड़ी भारी सेना के साथ नरानयन से प्रस्थान किया था और विजय करके वापिस लौटने पर शीघ्र ही शास्त्रार्थ हुआ था। अतः दिग्विजय का समय इसी के लगभग होना चाहिए। संभवतः यह चढ़ाई भादानक राजा पर की गई थी क्योंकि शास्त्रार्थ में दो-तीन बार भादानक-विजय संबंधी प्रशंसात्मक वर्णन आए हैं। विद्वानों को इस पर विशेष प्रकाश डालना चाहिए।

दसवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध काव्यमर्मज्ञ राजशेखर ने अपने ग्रंथ 'काव्यमीमांसा' में एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है, जिस में भादानक-निवासी अपभ्रंश भाषा का प्रयोग करते हैं, लिखा है। सं० १६५४ में जैन कवि हेमाणंद ने अपनी 'भोजचरित्र चौपाई' की रचना भी भट्टाणइ स्थान में करने का उल्लेख किया है। संभवतः उपर्युक्त भादानक और इन ग्रंथद्वय में निर्देश किया हुआ भट्टाणा, एक ही स्थान होंगे।

महाराजा पृथ्वीराज उस समय अजमेर के निकटवर्ती नरानयन नाम के स्थान के राजप्रासादों में रहते थे, एवं शास्त्रार्थ भी वहीं हुआ था। यह नरानयन आजकल नारायणा ग्राम नाम से प्रसिद्ध है।

महाराजा पृथ्वीराज की सभा में वागीश्वर, जनार्दन गौड़ और विद्यापति प्रभृति प्रकांड विद्वान् राजपंडित थे, और शास्त्रार्थ के समय मंडलेश्वर कैमास भी उपस्थित थे।

महाराजा पृथ्वीराज ने अपने मुँह से अपनी सेना में ७०००० (सत्तर हज़ार) घोड़े का होना कहा है, यह विशेष महत्वपूर्ण बात है। इतना ही नहीं किंतु यहां तक कहा है कि इतना ऊँचा पद अन्य किसी को भी प्राप्त नहीं है। इस से सम्राट् के प्रभाव एवं चक्रवर्तित्व का स्पष्ट परिचय मिल जाता है।

संवत् १२४४ में अणहिल्लपुर के अभयकुमार श्रावक ने तीर्थयात्रा का संघ निकाला। राजा भीमसिंह, प्रधान मंत्री जगदेव पड़िहार आदि के आग्रह से श्री जिनपति सूरि जी भी सघ में सम्मिलित हुए थे। तीर्थयात्रा के अनंतर आशापल्ली में सूरि जी ने चैत्यवासी प्रद्युम्नाचार्य को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया, इस से उन के पक्षपाती नगर के अभयड़ नामक कोतवाल ने संघ को हैरान करने के लिए मिथ्या राजाज्ञा बतला कर संघ को १४ दिन तक अटकाए रक्खा। और जगदेव पड़िहार को, जो मालव देश में ससैन्य गया हुआ था, पत्र द्वारा कहलाया कि संघ से रुपया ऐंठने का समुचित अवसर है। यदि आप की आज्ञा हो तो सपादलक्ष देश (अजमेर) के संघ से उल्लू सीधा करूं। जगदेव ने अपने सेवक की इस उद्दंडता से आग बबूला होकर आज्ञापत्र लिखा कि, "मैं ने बड़े कष्ट से अजमेर-नरेश पृथ्वीराज के साथ संधि की है, यह संघ भी अजमेर सपादलक्षीय है अतः संघ के साथ तनिक भी छेड़-छाड़ मत करना! यदि करोगे तो तुम्हें गधे की खाल में सिला दिया जायगा।" अभयड़ को जब यह पत्र मिला तो तत्काल ही संघ से माफ़ी माँग कर उसे रवाने किया।

इस घटना से सम्राट् पृथ्वीराज का कितना प्रभाव और आतंक जमा हुआ था, भली भाँति प्रमाणित हो जाता है।

इस शास्त्रार्थ से महाराज पृथ्वीराज संबंधी ऐतिहासिक तथ्यों के अतिरिक्त उन की प्रकृति के विषय में भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। 'गुर्वावली' में कई जगह महाराजा को केलिप्रिय, कौतुकार्थी विशेषण से संबोधित किया है। शास्त्रार्थ, इंद्रजाल एवं मल्ल-युद्ध देखने की उत्सुकता उन की विनोदप्रियता का ही प्रतीक है। वे बड़े समभावी और न्यायी थे। मंडलेश्वर कैमासादि जिस समय पद्मप्रभ से रुष्ट हो गए थे उस समय भी महाराजा ने उन्हें समभाव-पूर्वक परीक्षा एवं न्याय करने की आज्ञा दी थी। और स्वयं भी बहुत निष्पक्ष रहे थे। चित्रबंध काव्यादि पर भी आप का अच्छा प्रेम था। इस से आप की विद्या-प्रियता का भी अच्छा परिचय मिलता है।

श्री जिनपति सूरि जी के अनन्य भक्त श्रावक रामदेव महाराजा के विशेष कृपा पात्र एवं मंडलेश्वर कैमास के समकक्ष थे। ये सेठ वीरपाल के पुत्र थे। ये वीर, धनवान् और सर्वकलासंपन्न थे। राजसभा में इन की ओर वक्र दृष्टि से देखने की किसी की सामर्थ्य नहीं थी। शास्त्रार्थ के दो दिन पश्चात् जब महाराजा अजमेर के धवलगृह प्रासाद में

पधार कर जयपत्र हाथी के हौदे पर रख कर पौषधशाला पहुँचे उस समय इन्हीं रामदेव ने बधाई में १६०००) व्यय किए थे ।

इस शास्त्रार्थ में राजसभा आदि का वर्णन भी महत्व का है, और भी कई दृष्टियों से प्रस्तुत शास्त्रार्थ अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है ।

मंहाभारत की लड़ाई कब हुई ?

[लेखक—डाक्टर देवसहाय त्रिवेद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०]

भारतीय परंपरा और उस का ऐतिहासिक महत्व

गत साठ वर्षों से महाभारत युद्धकाल के विषय में विद्वानों में लगातार वादविवाद चल रहा है। कुछ लोगों ने यह भी सिद्ध करने का यत्न किया कि युद्ध एक दम हुआ ही नहीं, और 'महाभारत' नामक महाकाव्य कुरुपांचालों के मामूली झगड़े-टंटों के आधार पर रचा गया, और यह झगड़ा उतने विशाल रूप में नहीं था जैसा कि 'महाभारत' में दिखलाने का यत्न किया गया है। प्रिंसपल थडानी उन विद्वानों में से एक हैं जो कहते हैं कि युद्ध हुआ ही नहीं। उन्हों ने अपने ग्रंथ[1] में सिद्ध करने का यत्न किया है कि यह महाकाव्य भारतीय षड्दर्शनों का विवादात्मक नाटक है जिस में वेदांत की विजय हुई। किंतु हज़ारों वर्षों से भारतीय जनता का दृढ़ विश्वास केवल एक मामूली झगड़े के आधार पर स्थिर नहीं रह सकता और इस युद्ध की सत्यता का दृढ़ विश्वास ही इस बात का प्रमाण है कि यह निराधार परंपरा नहीं है। इस युद्ध के कुछ वीरों के नाम उपनिषद्[2], पाणिनीय सूत्र,[3]

---

[1] 'दि मिस्ट्री अव् दि महाभारत', एन० बी० थडानी रचित, ४ भाग; कराची; (१९३१-३४)

[2] तद्धैतद्घोर आंगिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वो वाचा पिपास।—छान्दोग्योपनिषद्, ३।१७।६

[3] वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्।—पाणिनि, ४।३।९८
गवियुधिभ्यां स्थिरः।—वही, ८।३।९५
भीमादयोऽपादाने।—वही, ३।४।७४
स्त्रियामवन्तीकुंतीकुरुभ्यश्च।—वही, ४।१।१७६
कुरूनादिभ्यो ण्यः।—वही, ४।१।१७२

कात्यायनीय वार्तिक[1] और पातंजल महाभाष्य[2] में भी पाए जाते हैं। राजाओं ने इस का उल्लेख शिलालेखों[3] में किया है, और इस घटना के आधार पर विशाल साहित्य[4] पाया जाता है। और यदि होमर, सौफ़ोक्लिज़, एचिलिस, यूरीपीडिज़ इत्यादि के ग्रंथ ट्रोजन युद्ध की सत्यता को सिद्ध करते हैं तो कोई कारण नहीं कि इस युद्ध की सत्यता में शंका की जाय। पाश्चात्य विद्वानों को भी हार मान कर भारतीय परंपरा से मात खानी पड़ी है, और अंत में उन को लाचार होकर कहना पड़ा है[5] :—

"हिंदुओं के कथन प्रायः सर्वरूपेण शिक्षित और अंधविश्वासी जनता की गप्पों से विभिन्न माने गए हैं, और वे बहुत सावधानी के साथ आंतरिक अनुसंधान के अधिकारी हैं।"

भारत युद्ध की पारंपरिक तिथि

भारतीय परंपरा के अनुसार भारत युद्ध कलि प्रारंभ के पहले हुआ। कलि का प्रारंभ विक्रम से ३०४४ वर्ष पूर्व ज्ञात है। आगे के पृष्ठों में मैं पुष्ट प्रमाणों के आधार पर, जिन की ऐतिहासिक महत्ता पर किसी प्रकार शंका नहीं की जा सकती, यह दिखलाने का यत्न करूँगा कि यही विचार ठीक है, यद्यपि अनेक प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों के इस जटिल प्रश्न पर परंपरा के और एक दूसरे के विरुद्ध विभिन्न सिद्धांत हैं।

---

[1] व्यासवरुडनिषादचाण्डालविम्बानां चेति वक्तव्यम्।—पाणिनि, ४।१।९७ का पाण्डोढर्चण्।—पाणिनि, ५।१।१६८ का वार्तिक।

[2] कंसवधमाचष्टे—पाणिनि, ३।१।२६ का भाष्य। साधुः कृष्णो मातरि, असाधुर्मातुले। वही, २।३।३६ का भाष्य। यजतिस्म युधिष्ठिरः। वही, ३।२।११८ भाष्य।

[3] श्री जान फ़ेथफ़ुल फ़्लीट रचित 'कारपस इन्सक्रिप्सन इंडिकेरम्', तृतीय भाग, कलकत्ता, (१८८८)

(क) संख्या २६ पंक्ति १३; २७।१५; २८।२२; ३०।३
उक्तं च महाभारते भगवता वेदव्यासेन व्यासेन।

(ख) संख्या ३१ पंक्ति १९;
उक्तं च महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां परमर्षिणा पराशरसुतेन वेदव्यासेन व्यासेन।

[4] 'शकुंतला', 'बालभारत', 'पंचरात्र', 'उरुभंग', 'नैषध', 'बालचरित' इत्यादि।

[5] इतिहासकारों का विश्वेतिहास ('हिस्टोरियन्स हिस्ट्री अव् दी वर्ल्ड'), भाग २, पृ० ४९५

विद्वानों के विभिन्न विचार

पार्जिटर के[1] अनुसार नवनंदों का राज्य ३४५ विक्रमपूर्व (३२२ ईसापूर्व या २६५+८०) के लगभग आरंभ हुआ। उसे २० वर्ष अपने समकालीन राजाओं के नाश करने में लगे। अतः उन के नाश का मध्यमान ३२५ वि० पू० (३४५−२०) होना चाहिए। अब दस क्षणिक राज्यों का काल ४६८ वर्ष (२६×१८) हुआ। इस लिए ७९३ वि० पू० (३४५+४६८) अधिसीम कृष्ण, दिवाकर और सेनाजित् के राज्य प्रारंभ का समय हुआ। भारत युद्ध के समय को ज्ञात करने के लिए इन राजाओं के पूर्व के राजाओं को (पाँच पौरव राजाओं क्योंकि युधिष्ठिर का भी राज्यकाल शामिल करना चाहिए) भी जोड़ना चाहिए। अतः हमें १०० वर्ष (२०×५) जोड़ना चाहिए और इस प्रकार भारत युद्ध का समय ८९३ वि० पू० (७९३+१००) के लगभग निर्धारित किया जा सकता है।

सीतानाथ प्रधान[2] रिपुंजय का सिंहासनारूढ़काल ५०७ वि० पू० मानते हैं। वह प्रत्येक राजा के लिए २८ वर्ष मध्यमान लेते हैं। इस कारण उन के अनुसार १०९५ वि० पू० (५०७+५८८ (२८×२१)) महाभारत युद्ध का काल है।

रमेशचंद्र दत्त के[3] अनुसार कुरु-पांचाल युद्ध के समय से भगवान् बुद्ध तक ३५ राजाओं ने राज्य किया। भगवान् बुद्ध[4] विक्रम पूर्व छठीं शताब्दी में हुए। प्रत्येक राजा के लिए २० वर्ष मान कर युद्ध विक्रम पूर्व १३वीं शताब्दी में माना जा सकता है।

श्यामा शास्त्री कहते हैं—[5] दुष्यंत के पुत्र भरत ने द्वादश अतिरात्र में यज्ञ किया

---

[1] प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक गाथाएं ('एंश्यंट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशंस'), एफ़० ई० पार्जिटर विरचित, लंदन (१९२२), पृ० १७९

[2] प्राचीन भारतीय वंशावली ('क्रानोलाजी अव् एंश्यंट इंडिया')। श्री-सीतानाथ प्रधान विरचित, कलकत्ता, (१९२७) पृष्ठ २४८

[3] 'प्राचीन भारतीय सभ्यता', ('सिविलाइजेशन अव् एंश्यंट इंडिया) श्री-रमेशचंद्र विरचित, कलकत्ता, १९१०, भाग १, पृ० १०।

[4] भगवान् बुद्ध के काल के लिए मेरा लेख देखिए। 'दि डेट अव् लार्ड बुद्ध, १८८५ ईसा पूर्व', 'डेली हेराल्ड', लाहौर।

[5] श्यामा शास्त्री रचित 'गवामयन' वैदिक संवत् पृ० १५५, कृष्णमाचार्य द्वारा अपनी पुस्तक 'क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' मद्रास (१९३७) में उद्धृत।

('आश्वलायन गृह्यसूत्र', १०।५।८)। इस के अनुसार १४८८ (३७२×४) कलि संवत् या १५५६ वि० पू० (३०४४—१४८८) भरत का काल हुआ। 'विष्णुपुराण' में दी हुई वंशावली के अनुसार महाभारत का नेता और श्रीकृष्ण का समकालीन युधिष्ठिर भरत की पच्चीसवीं पीढ़ी में है, और वह १२०३ वि० पू० स्वर्गवासी हुआ। तदनुसार भरत और युधिष्ठिर का मध्यकाल २४८ वर्ष हुआ और यदि वंशावली ठीक है, तो प्रत्येक राजा के लिए लगभग १० वर्ष हुआ (२४८÷२५)। परीक्षित युधिष्ठिर का पौत्र है। 'मत्स्यपुराण' के अनुसार परीक्षित और नंद का मध्यकाल १५० वर्ष कम सहस्र वर्ष अर्थात् ८५० वर्ष है। नंद चौथी शताब्दी विक्रम पूर्व में हुए अर्थात् वे (१२०३—८५०) ३५३ वि० पू० गद्दी पर बैठे।

"कर्नल विल्फ़र्ड की गणना से ('एशियाटिक रिसर्चेज़', भाग ९, 'क्रानालॉजिकल टेबुल', पृ० ११६) महाभारत युद्ध का अंत १३७० ई० पू० या १३१३ वि० पू० हुआ। वुकानन के अंदाज़ से १३वीं सदी ईसा पूर्व हुआ। कोलब्रुक ज्योतिर्गणना से निर्धारित करते हैं कि वेदों की रचना जो व्यास की बतलाई जाती है ईसा पूर्व चौदहवीं सदी में हुई। वेन्टले पांडव प्रधान युधिष्ठिर का समय ईसा पूर्व ५७५ या वि० पू० ५१८ बताते हैं; किंतु महाभारत युद्धकाल और कलिप्रारंभ के लिए आधारों का झुकाव ईसा पूर्व १३वीं या १४वीं सदी के पक्ष में है।"—विलसन[१]।

डाक्टर हेमचंद्र रायचौधरी[२] के अनुसार परीक्षित का जन्म १३५५ वि० पू० (२६५+४०+१०५०) होना चाहिए, किंतु डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल[३] के निर्णयानुसार महापद्म के पिता महानंद का सिंहासनारूढ़काल ३५२ वि० पू० है। इस प्रकार परीक्षित का जन्म या महाभारत युद्ध का अंत १३६७ वि० पू० (३५२+१०१५) होना चाहिए।

किंतु महामहोपाध्याय श्री सतीशचंद्र विद्याभूषण और श्री ललितमोहन

---

[१] विलसन-संपादित 'विष्णुपुराण', ४।२३२

[२] श्री हेमचंद्र रायचौधरी रचित 'प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास' ('दि पोलिटिकल हिस्ट्री अव् ऐंश्यंट इंडिया'), कलकत्ता, (१९२७), पृ० १५

[३] 'जर्नल बिहार ओड़िसा रिसर्च सोसाइटी', भाग १, पृ० १०९

कार[1] युद्ध का होना १८६५ वि० पू० मानते हैं—श्रीयुत कार कहते हैं। महापद्म नंद जैसा कि भारतीय इतिहास से ज्ञात है ३६५ वि० पू० (२६५+१००) गद्दी पर बैठे। इस कारण पीछे गणना कर कुरुक्षेत्र के मैदान में महायुद्ध का समय (२६५+१००+१५००) १८६५ वि० पू० आता है।

पंडित सत्यव्रत समाश्रयी भट्टाचार्य[2] और श्री प्रमोदचरण सेनगुप्त[3] वाराहमिहिर, अलबेरूनी और कल्हण के आधार पर युद्ध को २३४३ और २३६२ वि० पू० क्रमशः मानते हैं। कल्हण[4] लिखता है—"कलि के ६५३ वर्ष बीतने पर (३०४४—६५३) २३६१ वि० पू० कुरुपांडव हुए।"

युद्ध कल्पित नहीं है

जो कुछ ऊपर कहा गया है उस से प्रकट है कि भारतीय ऐतिहासिक क्षेत्र की इस प्रधान घटना के विषय में किस प्रकार विरोधी विचार विद्वान् रखते हैं, और यह स्पष्ट है कि महाभारत युद्ध का काल केवल कपोलकल्पित कह कर टाला नहीं जा सकता[5]। बिना कुछ अग्नि के धूम नहीं होता, इस बात की उपेक्षा इतिहासकार को कदापि नहीं करनी चाहिए। माइकेल टेंपुल[6] साहब भी कहते हैं:—"अब हम लोग समझने लगे हैं कि जब कभी कोई प्राचीन किंवदंती हम लोगों के सामने प्रकट होती है तो इस के पीछे किसी प्रकार की सच्चाई अवश्य रहती है। किंवदंती शून्य से प्रकट नहीं होती, क्योंकि कुछ ही से कुछ उत्पन्न हो सकता है। बीज का होना आवश्यक है। संभव है कि पौधे

---

[1] 'सेक्रेड बुक्स अव् दि हिंदूज', 'मत्स्यपुराण', इलाहाबाद (१९१६), भूमिका, पृ० १५

[2] निरुक्त, सत्यव्रत समाश्रयी भट्टाचार्य संपादित, कलकत्ता, (१८०४ शाके), भाग ४, भूमिका।

[3] 'जर्नल रायल एशियाटिक सोसाइटी अव् बेंगाल', 'भारत बैटल ट्रेडिशंस', पी० सी० सेनगुप्त लिखित, भाग ४, (१९३८), पृ० ३९३–४१३

[4] शतेषु षट्सु सार्द्धेषु त्र्यधिकेषु च भूतले।
कलेर्गतेषु वर्षाणामभवन् कुरुपाण्डवाः ॥ राजतरंगिणी, १।५१

[5] 'हिस्टोरियंस हिस्ट्री अव् दि वर्ल्ड', भा० २, पृ० ३६८

[6] 'इंगलिशमैन', कलकत्ता, ७ फ़रवरी १९२७

ने, जो इसी बीज से उत्पन्न हुआ हो, एक विचित्र और अपरिमेय रूप धारण कर लिया हो।"

विभिन्न मतों की समालोचना

यह स्पष्ट है कि विद्वज्जन मनमाने ढंग से, राजाओं के मध्यमान के लिए जितना वर्ष चाहते हैं मान लेते हैं। वे प्रत्येक राजा के लिए १० वर्ष से लेकर २८ वर्ष तक मानते हैं और इसी प्रकार महाभारत युद्ध का समय निर्णय करते हैं। इस तरह नंदों का भुक्त-काल उन की इच्छानुसार ४० वर्ष से लेकर १०० वर्ष तक ठहरता है, यद्यपि सभी पुराण एक मत से नंदों का काल पूरे १०० वर्ष बतलाते हैं। पार्जिटर महोदय युधिष्ठिर और नंद के बीच ३१ पीढ़ी गिनते हैं और बिना कारण बतलाए एक ही अधिकरण में एक श्रेणी के कुछ राजाओं के लिए १८ वर्ष का मध्यमान और कुछ के लिए २० वर्ष मध्यमान लेते हैं। डाक्टर प्रधान भारत युद्ध और अंतिम बृहद्रथ रिपुंजय के सिंहासनासीन काल तक २१ पीढ़ी मानते हैं, किंतु श्री रमेशचंद्र दत्त भारत युद्ध और भगवान् बुद्ध के बीच ३५ पीढ़ी मानते हैं।

दूसरे विद्वान् परीक्षित के जन्म और नंदाभिषेक के मध्यकाल के लिए एक ही श्लोक[1] का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि उस का अर्थ ८५०, १०१५, १०५०, १११५, या १५०० वर्ष होता है। इस सबंध में यह कहना असंगत न होगा कि भारतीय वंशावली जैसी आधुनिक ऐतिहासिक पुस्तकों में पाई जाती है, अलेक्ज़ेंडर सांड्राकोटस की सम-कालीनता और द्वितीय के (सांड्राकोटस के) चंद्रगुप्त मौर्य के साथ भ्रमपूर्ण समीकरण पर निर्धारित है। सत्यतः महासिकंदर का समकालीन भारतीय सम्राट् गुप्तवंशीय चंद्रगुप्त[2] था न कि मौर्यवंशीय चंद्रगुप्त। मैं ने मगधराजाओं की वंशावली[3] और परीक्षित-जन्म तथा नंदाभिषेक के मध्यकाल, महाभारत युद्धकाल निर्धारित करने के

---

[1] महापद्माभिषेकात्तु जन्म यावत्परीक्षितः।
एतद्वर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पंचशतोत्तरम्॥ श्रीमद्भागवत, १२।२।२५

[2] क्या सिकंदर ने मौर्यों के समय भारत पर चढ़ाई की? ('डिड् अलेक्जेंडर, इनवेड इंडिया इन दी टाइम अव् दि मौर्याज़') 'हिंदुस्तान टाइम्स', दिल्ली, २६ जून १६३६

[3] 'मगध राजाओं की नई वंशावली', 'साहित्य' (त्रैमासिक), पटना।

लिए दूसरे लेख में विवेचन किया है।

काश्मीर के इतिहासकार कल्हण ने एक श्लोक[1] की टीका के रूप में "कलि के ६५३ वर्ष बीत जाने पर (२३६१ वि० पू०) कौरव पांडव हुए" लिख कर बड़ी भारी भूल की। वह अपने पूर्वाचार्य गर्गाचार्य और वाराहमिहिर की अक्षरशः नक़ल करते हैं जिन के अनुसार युधिष्ठिर का समय जानने के लिए शककाल में २५२६ जोड़ना चाहिए। उन लोगों ने ज्योतिर्गणना के लिए एक ऐसे शककाल का प्रयोग किया जिस का वर्ष आधुनिक शालिवाहन शक के प्रथम वर्ष से भिन्न था। उस के अनुसार ३५ राजा विस्मृति सागर में डूब गए थे जिन का उद्धार करने में वह असमर्थ था। अपि तु शालिवाहन शक के सिवाय उसे और किसी शकसंवत् का ज्ञान ही न था इस लिए उस ने भूल से बिना कारण बताए निर्णय किया कि कलि के ६५३ वर्ष बीतने पर कुरु-पांडव हुए और अंत में उसे वाध्य हो कर कहना पड़ा[2]। लोग यह समझ कर कि भारतयुद्ध द्वापर के अंत में हुआ हमारी इस काल-गणना को झूठा समझते हैं। महाभारत युद्ध के लिए 'राजतरंगिणी' के आधारों का पूर्ण विवेचन मैं ने अन्यत्र किया है।[3]

किंतु क्या हम लोग केवल परंपरा पर ही निर्भर रहेंगे ? हम लोगों के लिए पुष्टप्रमाण उपस्थित है कि युद्ध ३०८० वि० पू० या ३१३७ ई० पू० हुआ। उन युक्तियों को जो भारतीय परंपरा से स्वीकृत महाभारत युद्ध की तिथि से विभिन्न निर्धारित करने की कोशिश करती हैं, हम भारतीय परंपरा के पक्ष में उपलब्ध अनेक ऐतिहासिक और साहित्यिक प्रमाण उपस्थित करते हैं।

---

[1] आसन् मघासु मुनयः शासति पृथिवीं युधिष्ठिरे नृपतौ।
षड्द्विकपंचद्वियुतः शककालस्तस्य राज्यस्य ॥ राजतरंगिणी १।५६

[2] भारतं द्वापरान्ते ऽभूद्वार्तयेति विमोहिताः।
केचिदेतां मृषा तेषां कालसंख्यां प्रचक्रिरे ॥ राजतरंगिणी, १।४६

[3] (क) काश्मीर की संशोधित राजवंशावली, 'विज्ञान', प्रयाग, कुंभार्क, १६६३ वि०

(ख) 'दि रिवाइज़्ड क्रानालाजी अव् काश्मीर', 'जर्नल अव् इंडियन हिस्ट्री' (चातुर्मासिक), मद्रास, एप्रिल, १६३६

ऐहोली शिलालेख

पुलकेशिन् द्वितीय के ऐहोली शिलालेख से[1] ज्ञात होता है कि यह शिलालेख जिस समय स्थापित किया गया था, उस समय तक महाभारत समर के समय से कलियुग के ३७३५ वर्ष और शक राज के ५५६ वर्ष बीत चुके थे। इन दोनों से यह स्पष्ट है कि कलि का प्रथम वर्ष ३१७९ शकपूर्व (३७३५ – ५५६) या ३०४४ वि० पू० (३१७९ – १३५) हुआ।

ज्योतिषग्रंथ

शिलालेख के इस कथन की सत्यता 'सिद्धांतशिरोमणि'[2] 'ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत'[3] और 'ज्योतिर्मकरंद'[4] के देखने से एक क्षण में सिद्ध हो जायगी। उन के अनुसार भी कलिप्रारंभ का काल वही है।[5] हिंदुओं की ज्योतिर्गणना के अनुसार वर्तमान कलियुग का प्रारंभ २० फ़रवरी को २ बज कर २७ मिनट ३० सेकेंड पर हुआ (माघशुक्ल[6] १५) ३१०२ वर्ष ई० पू०, ३०४४ वि० पू० हुआ। उन के कथनानुसार सभी ग्रह उस

---

[1] 'इंडियन एंटिक्वेयरी', भाग ८, पृ० २४१
त्रिंशत्सु त्रिसहस्रेषु भारतादाहवादितः।
सप्ताब्दशतयुक्तेषु गतेस्वब्देषु पञ्चषु॥
(३० + ३००० + ७०० + ५ = ३७३५)
पञ्चाशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्चशतासु च।
समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम्॥
(५० + ६ + ५०० = ५५६)

[2] नन्द्राद्रीन्दुगुणास्तथा शकनृपस्यान्ते कलेर्वत्सराः। (नन्द ९, अद्रि ७, इन्दु १, गुण ३)
—सिद्धांतशिरोमणिः, काशी, (१९१७) पृ० ८९

[3] गोऽगैकगुणाः शकान्तेऽब्दाः। (गो ९, अग ७, एक १, गुण ३) ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त मध्यमाधिकार।

[4] शाको नवागेन्दुकृशानुयुक्तः (नव ९, अग ७, इन्दु १, कृशानु ३) कलेर्भवत्यब्दगणोयुगस्य। ज्योतिर्मकरन्द।
'अङ्कानां वामतोगतिः' के अनुसार शकसंवत् प्रारम्भ के समय ३१७९ वर्ष कलि के बीत चुके थे।

[5] 'थिओगनी अव् दि हिंदूज', काउंट जानस्टर्ण रचित, डाक्टर अविनाशचंद्र दास द्वारा 'ऋग्वेदिक इंडिया', कलकत्ता (१९२०) में उद्धृत।

[6] वैशाखमासस्य तु या तृतीया नवम्यसौ कार्तिक शुक्लपक्षे
नभस्यमासस्य तमिस्रपक्षे त्रयोदशी पञ्चदशी च माघे।
एता युगाद्याः कथिताः पुराणैरनन्तपुण्यास्तिथयश्चतस्रः॥ विष्णुपुराण।

समय एक स्थान पर थे और उन की सारिणी से भी यह प्रकट होता है। कर्नल बेली का कहना है कि उस समय बुध और गुरु भूमध्य वृत्त के एक ही अंश में थे। मंगल आठ अंश की दूरी पर तथा शनिश्चर सात ही अंश की दूरी पर थे। अतः यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों के कथनानुसार कलियुगारंभ के समय उपर्युक्त चारों ग्रह अवश्य ही क्रमशः सूर्य की किरण मे छिप गए होंगे (प्रथम शनिश्चर, तब मंगल इस के बाद वृहस्पति तथा अंत में बुध)। अतः उस समय ये एक ही स्थान पर थे और यद्यपि शुक्र उस समय दिखाई न दिया होगा, यह कहना स्वाभाविक था कि सभी ग्रह उस समय एक ही स्थान पर थे। ब्राह्मणों की गणना हम लोगों की ज्योतिःसारिणी से इस प्रकार ठीक बैठती है कि सिवा प्रत्यक्ष दर्शन के ऐसा समान फल मिलना असंभव है।

कलि-द्वापर की संधि की समकालीनता

आंतरिक और बाह्य प्रमाणों से भी महाभारत युद्ध और कलि प्रारंभ की साधारण समकालीनता सिद्ध है। उपर्युक्त शिलालेख में 'भारताहव' और 'कलौ काले' प्रकट ही हैं। 'महाभारत'[1] कहता है "कलि और द्वापर के पास होने पर कुरु और पांडवों की सेना का युद्ध कुरुक्षेत्र में हुआ।" उसी ग्रंथ में[2] अन्य स्थानों पर भी कलि का आधुनिक आगमन निर्देश किया गया है।

कलिप्रारंभ के ३६ वर्ष पूर्व

किंतु युद्ध की तिथि और भी ठीक नियत की जा सकती है। 'महाभारत' से ज्ञात होता है[3] कि 'युधिष्ठिर ने ३६वें वर्ष बुरी दशाओं को देखा। 'महाभारत'[4] कहता है कि कृष्ण भी ३६वें वर्ष के आने पर परिवार, मंत्री और पुत्रों के नाश होने पर जंगल में

---

[1] अन्तरे चैव सम्प्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत्।
समन्तपञ्चके युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः॥ महाभारत १।५।१३

[2] (क) एतत्कलियुगं नाम अचिराद् यत्प्रवर्तते। महाभारत, वनपर्व, १४६।३६
(ख) प्राप्तं कलियुगं विद्धि प्रतिज्ञा पाण्डवस्य च। महाभारत।

[3] षट्त्रिंशेत्वथ सम्प्राप्ते वर्षे कौरवनन्दन।
ददर्श विपरीतानि निमित्तानि युधिष्ठिरः॥ महाभारत, मुशलपर्व, १।२

[4] त्वमप्युपस्थिते वर्षे षट्त्रिंशे मधुसूदन।
हतज्ञातिर्हतामात्यो हतपुत्रो वनेचरः।
कुत्सितेनाभ्युपायेन निधनं समवाप्स्यसि॥ महाभारत, स्त्रीपर्व, १५।१८

घूमते हुए नीच उपाय द्वारा मृत्यु को प्राप्त होंगे। 'श्रीमद्भागवत' के अनुसार श्रीकृष्ण जी जंगल में घूम रहे थे, और एक पेड़ के नीचे योगसाधन के लिए बैठ गए। उन के चरण से चक्र की प्रतिभा चमकने लगी। एक व्याध ने उस पर तीर चला दिया और यही श्रीकृष्ण भगवान् की मृत्यु का कारण हुआ। अर्जुन द्वारा श्रीकृष्ण की मृत्यु का समाचार सुन कर शीघ्र ही पांडवों ने राजपाट छोड़ दिया और उन्हों ने तीर्थयात्रा के लिए प्रस्थान किया। 'विष्णु पुराण' कहता[1] है कि वसुदेव कुलोत्पन्न भगवान् विष्णु का अंश जिस समय स्वर्ग गया उसी समय कलि आ गया। 'श्रीमद्भागवत'[2] के अनुसार जब तक भगवान् विष्णु पृथ्वी को स्पर्श किए रहे तब तक कलि पृथ्वी पर अपना पराक्रम नहीं दिखा सका। अतः यह सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण युद्ध के ३६ वर्ष बाद स्वर्गवासी हुए। पांडवों ने शीघ्र ही राज्य छोड़ दिया, कलि प्रकट हो चुका था किंतु श्रीकृष्ण जी के प्रभाव के कारण अपना प्रभुत्व न दिखा सका। कलि संवत् का प्रारंभ ३०४४ वि० पू० है। मैं इसे कलि के प्रभुत्व धारण का समय मानता हूं। अतः श्रीकृष्ण के स्वर्गवास का काल ३०४४ वि० पू० है और इस कारण ३०८० वि० पू० (३०४४+३६) महाभारत युद्ध का काल है।

निधानपुर ताम्रपत्र

उपर्युक्त तिथि की सामान्यपुष्टि कान्यकुब्जाधिपति हर्षवर्द्धन के समकालीन भास्करवर्मा के निधानपुर ताम्र[3] पत्र से भी होती है। यह शासनपत्र ६४७ वि० संवत् में खोदा गया था, और इस में नीचे लिखी वंशावली पाई जाती है :—

नरक
|
भागदत्त (जो अर्जुन से लड़ा)
|
वज्रदत्त
|
पुष्यवर्मन् (वज्रदत्त के ३००० वर्ष बाद)
|
भास्करवर्मन (पुष्यवर्मन् से १२ वां राजा)

---

[1] यदैव भगवद्विष्णोरंशो यातो दिवं द्विज।
वसुदेवकुलोद्भूतस्तदैव कलिरागतः॥ विष्णुपुराण, ४।२४।१४

[2] यावत्स भगवान् विष्णुः यस्पर्शे मां वसुन्धराम्।
तावत्पृथ्वीं पराक्रान्तुं समर्थो नाभवत्कलिः॥ श्रीमद्भागवत।

[3] 'इपिग्राफ़िका इंडिका', भाग १२, प० ६५

ताम्रपत्र[1] कहता है—"उस नरक से जिस ने कभी नरक नहीं देखा, राजा भागदत्त इंद्र का मित्र उत्पन्न हुआ, जो प्रसिद्ध विजेता अर्जुन से लड़ा। उस शत्रुनाशक का पुत्र इंद्र के समान चाल वाला वज्रदत्त हुआ। उस अखंड वीर ने सर्वदा युद्ध में शत-क्रतु इंद्र को प्रसन्न किया। इस के वंश के राजाओं के तीन हज़ार वर्ष बीत जाने पर पुष्य-वर्मा नामक राजा हुआ।" महाभारत के अनुसार[2] प्राग्ज्योतिष (आसाम) का राजा भागदत्त कौरवों का सहायक था, और वह रणक्षेत्र में मारा गया। उस के कृतप्रज्ञ और वज्रदत्त नामक दो पुत्र थे। भागदत्त अर्जुन द्वारा और कृतप्रज्ञ नकुल द्वारा बध किए गए थे। अतः यह कहा जा सकता है कि महाभारत युद्ध ३०८० वि० पू० हुआ।

आईने-अकबरी

शिलालेखों के अतिरिक्त मुग़ल-सम्राट् अकबर के नवरत्नों में से प्रसिद्ध संस्कृत और फ़ारसी के विद्वान् अबुलफ़जल का भी वचन कम विश्वसनीय नहीं है। वह कहता है[3]—"इस युग के आदि में राजा युधिष्ठिर ने विश्वविजय किया और एक युग का अंत समझ कर अपने राज्यकाल से एक संवत् चलाया। उस समय से आज तक जो कि दीन इलाही का ४०वां है ४६९६ वर्ष बीत गए।" अतः यह स्पष्ट है[4] कि तारीख़-ए-इलाही या इलाही संवत् का ४०वां वर्ष, जिस को अकबर ने चलाया था और जिस का प्रथम वर्ष उस का गद्दी पर बैठना था, जब वह २७।२८ रबी दूसरा ९६३ हिजरी या ११ मार्च १५५६ ई० (सिंहासनारूढ़ से २५ दिन का समय एक वर्ष माना गया था), अथवा १५९५ ई० सन् (१५५५+४०) या १६५२ वि० सं० (क्योंकि इलाही सन् सौर वर्ष था) युधि-

---

[1] तस्माददृष्टनरकान्नरकादजनिष्टनृपतिरिन्द्रसखः ।
भागदत्तः ख्यातजयं विजयं युधि यः समावयत् ॥५॥
तस्यात्मजः क्षतोरर्वज्रगतिरतोषयद् यः सदा संख्ये ।
शतमखमखण्डलवत्मगतिरतोषयद् यः सदा संख्ये ॥६॥
वंश्येषु तस्य नृपतिसु वर्षसहस्त्रत्रयं पदमवाप्य ।
यातेषु देवभूयं क्षितीश्वरः पुष्यवर्माऽभूत् ॥७॥

[2] प्राग्ज्योतिषाधिपः शूरो म्लेच्छानामधिपो बली ।
यवनैः सहितो राजा भागदत्तो महारथः ॥ महाभारत, शांतिपर्व, ५१।१४

[3] 'आईने-अकबरी', ३रा भाग ।

[4] विंसेंट स्मिथ रचित 'अकबर दि ग्रेट', आक्सफ़ोर्ड (१९१९), पृ० ४४८-४४९

ष्ठिर संवत् ४६९६ के बराबर है (३०४४+१६५२)। इस के मुताबिक़ युधिष्ठिर संवत् का प्रारंभ जो कलि संवत् के समान है ३०४४ वि० पू० (४६९६—१६५२) है। इस से भी कुरु-पांडवों का अस्तित्व और इस से कुरु-पांडव युद्ध (युग के आदि में) सिद्ध होता है। इस प्रकार भी गणना करने से हम लोगों का युद्ध काल वही ३०८० वि० पू० आता है।

नक्षत्रगणना[1]

ज्योतिःशास्त्र से ज़रा-सा भी संबंध रखने वाले सज्जन जान सकते हैं कि भूमध्य-रेखा पर २७ और अभिजित् को मिला कर २८ नक्षत्र हैं। भूमध्यवृत्त पर ३६० अंश होते हैं। ३६०/२७ =१३⅓ अंश प्रत्येक नक्षत्र का परिमाण हुआ। समानरात्रि विंदु को एक अंश से दूसरे अंश तक जाने में लगभग ७२ लग जाते हैं। अतः इस समानरात्रि विंदु को एक नक्षत्र की त्रिज्या की दूरी तय करने में ९६० वर्ष (७२×१३⅓) लगते हैं। महाभारत युद्ध के समय वसंत संपात कृत्तिका नक्षत्र में तथा ऋग्वेद के समय मृगशिराः में होता था। अंतरंग प्रमाणों से इन बातों की पूर्ण पुष्टि होती है। लोकमान्य तिलक महोदय भी इस का अनुमोदन करते हैं। आजकल वसंत संपात पूर्वा भाद्रपद में होता है। अतः विपरीत क्रमानुसार गणना करने से कृत्तिका, भरणी, अश्विनी, रेवती, उत्तरा भाद्रपद, पूर्वा भाद्रपद अर्थात् ५¼ नक्षत्रों का समय बीत चुका। अतः ५०४० वर्ष आज से पूर्व (९६०×५¼) या (५०४०–१९९६) ३०४४ वि० पू० पांडवों का अस्तित्व था, अतः हम लोग निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि विक्रम के पूर्व ३१वीं सदी में या ३०८० वर्ष वि० पू० महाभारत की लड़ाई अवश्य हुई।

निश्चित तिथि का निर्धारण

हम लोग एकदम ठीक तिथि का भी पता लगा सकते हैं कि कब युद्ध आरंभ हुआ। कौरवों के सेनापति भीष्म कहते हैं[2]—"हे युधिष्ठिर, बाणों की तीक्ष्णशय्या पर पड़े

---

[1] इस गणना के आधार के लिए देखिए—'हिस्ट्री अव् संस्कृत लिटरेचर', श्री चिंतामणि विनायक वैद्य कृत, भा० १, पूना (१९३०)

[2] अष्टपञ्चाशतं रात्र्यः शयान स्याद्यये गताः
शरेषु निशिताग्रेषु यथा वर्षशतं तथा।

हुएं मेरे ५८ दिन सैकड़ों वर्ष के समान बीत गए। यह माघ का सुंदर महीना आ गया। यह शुक्लपक्ष का होना चाहिए जिस के तीन भाग बीत चुके।" भीष्म दशवें दिन युद्धक्षेत्र से हट गए अतः शुरू से ६८ दिन (५८+१०) युद्धारंभ के दिन से बीत चुके थे जब भीष्म ने उपर्युक्त शब्द कहा। "त्रिभागशेषः पक्षः" का अर्थ 'त्रयो भागाः शेषाः व्यतीता यस्य' जिस के तीन भाग बीत चुके होना चाहिए। होडाचक्र[1] के अनुसार पक्ष पाँच भागों में—नंदा, भद्रा, जया, रिक्ता, पूर्णा तिथियों में—विभाजित होता है। इस प्रकार माघ शुक्लपक्ष के ६ दिन ($\frac{१५}{५}$ × ३) बीत चुके थे। अतः पीछे से गणना करने से हम लोगों को ठीक ६८ दिन (६+१५+३०+१४) आ जाते हैं यदि मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपद् से जो मंगलवार को पड़ता है हम लोग गणना करें।

उपसंहार

आधुनिक इतिहासकार कह दिया करते हैं कि इन शिलालेखों से तथा पुस्तकों से केवल इतना ही सिद्ध होता है कि उस काल की परंपरा के अनुसार महाभारत युद्ध को हुए आज तक क़रीब पाँच हज़ार वर्ष बीत गए। किंतु आजकल के समालोचनात्मक अध्ययन में उक्त परंपराएं प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। जैसा कहा जा चुका है आधुनिक इतिहास सिकंदर-चंद्रगुप्त मौर्य की समकालीनता पर जो सर विलयिम जोन्स ने १७९३ ई० पू० क़रीब १५० वर्ष पहले स्थिर किया था, निर्धारित है, किंतु महाभारत युद्ध के काल पर अगणित सदियों से विवाद किया जा रहा है तथापि उस का समय वही है जो परंपरा से सिद्ध है, और परंपरा में उस की बराबरी करने वाला कोई नही है। अतः यह सिद्ध हुआ कि महाभारत युद्ध ३०८० वि० पू० (३१३७ ई० पू०) या आज से ५०७७ वर्ष पूर्व हुआ।

मैं महामहोपाध्याय पंडित गोपीनाथ कविराज का अत्यंत ऋणी हूँ जिन की विद्वत्तापूर्ण अध्यक्षता में यह लेख लिखा गया है।

माघो यं समनुप्राप्तो मासः सौम्यो युधिष्ठिर।
त्रिभागशेषः पक्षो यं शुक्लो भवितुमर्हति।
[1] **नन्दाभद्राजयारिक्ताः पूर्णाश्च तिथयः क्रमात्।—होडाचक्र।**

स्फुट प्रसंग

राजा शिवप्रसाद का 'आत्मचरित'

इस पत्रिका के भाग ६, अंक ४, पृ० ४४३–६ पर राजा शिवप्रसाद की वंशावली पर कुछ प्रकाश डाला गया है। इस में रायचंद कृत 'कल्पभाष्य' या 'भाषाकल्पसूत्र' ग्रंथ के आरंभ में राजा शिवप्रसाद-लिखित वंश-परिचय को लेकर सर जॉर्ज ग्रियर्सन की उक्त राजा साहब के विषय मे लिखी जीवनी में कुछ भूलों का संशोधन किया गया है। परंतु राजा साहब की जीवनी के संबंध में प्रमुख साधन उन का लिखा 'आत्मचरित' ही है, जिसे उन्हों ने अपनी अंतिम अवस्था में उर्दू में लिखा था। यह पुस्तक सन् १८६४ ई० में नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ में छापी गई थी और इस के प्रथम संस्करण के मुखपृष्ठ पर आठ पंक्तियों में इस प्रकार लिखा है।

सवानिह उमरी

राजा शिवप्रसाद

सितारए-हिंद

फेलो यूनिवर्सिटी कलकत्ता व इलाहाबाद

सन् १८६४ ई०

लखनऊ

मतबअ नामी मुंशी नवलकिशोर सी० आई० ई० में छापी गई

पहली मर्तबः ३०० जिल्द छपी क़ीमत फ़ी जिल्द १ रु०

दूसरे पृष्ठ पर राजा शिवप्रसाद का फ़ोटो चिपकाया गया है, जिस के ऊपर फ़ारसी लिपि में तथा नीचे अंग्रेज़ी में उन का नाम मै पदवियों के दिया है। इस के अनंतर 'फ़िह-रिस्त मज़ामीन' है। ५३ मज़मून ८४ पृष्ठों में दिए गए हैं। प्रथम सात में पूर्वजों, अपने जन्म, शिक्षा आदि का १३ पृष्ठों में वर्णन है और उस के अनंतर इन्हों ने अपनी सेवाओं का विवरण दिया है, जो अत्यंत मनोरंजक है। भरतपुर राज्य, नादिरशाह की चढ़ाई, बिठूर में बाजीराव पेशवा, सिखों की लड़ाई, जर्मनी का राजकुमार, लार्ड डलहाउज़ी, अवध के

नवाबी का अंत, सन् १८५७ का बलवा, काबुल की चढ़ाई आदि का विवरण इतिहास की दृष्टि से अत्यंत उपादेय तथा आकर्षक है। परिशिष्ट में इन्हों ने बहुत से पत्र, सनद आदि २४ पृष्ठों में दिए है और अंत में इलबर्ट बिल पर अपना व्याख्यान दिया है, जो अंग्रेजी में चालीस पृष्ठों में छपा है।

इस 'आत्मचरित' के सिवा एक छोटी पुस्तिका इन्हों ने अलग छपवाई है, जिस में अंग्रेजों द्वारा लिखे गए सनद संगृहीत हैं। इन में इन के सेवा-कार्यों का प्रशंसात्मक उल्लेख है। यह बत्तीस पृष्ठों में है और काशी के मेडिकल हॉल प्रेस में सन् १८९४ ई० में प्रकाशित हुई है। इन दो पुस्तकों से राजा शिवप्रसाद की जीवनी पूर्ण-रूपेण लिखी जा सकती है और अन्यत्र आए हुए भ्रम-पूर्ण लेखों का संशोधन किया जा सकता है।

—ब्रजरत्नदास

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यसुफ़ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्०। मूल्य १)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—लेखक, रायबहादुर महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा। सचित्र। मूल्य ३)

(३) कवि-रहस्य—लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा। मूल्य १)

(४) अरब और भारत के संबंध—लेखक, मौलाना सैयद सुलैमान साहब नदवी। अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा। मूल्य ४)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन)। मूल्य ६)

(६) जंतु-जगत—लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी०। सचित्र। मूल्य ६॥)

(७) गोस्वामी तुलसीदास—लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल। सचित्र। मूल्य ३)

(८) सतसई-सप्तक—संग्रहकर्ता, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास। मूल्य ६)

(९) चर्म बनाने के सिद्धांत—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी०। मूल्य ३)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट—संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। मूल्य १)

(११) सौर-परिवार—लेखक, डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ्० आर० ए० एस्०। सचित्र। मूल्य १२)

(१२) अयोध्या का इतिहास—लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। सचित्र। मूल्य ३)

(१३) घाघ और भड्डरी—संपादक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी। मूल्य ३)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री—संपादक, ठाकुर रामसिंह, एम्० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए०। मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम० ए०। सचित्र। मूल्य ३)

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ। मूल्य कपड़े की जिल्द ३॥); सादी जिल्द ३)

(१७) हिंदी, उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा। मूल्य कपड़े की जिल्द १॥); सादी जिल्द १)

(१८) नातन—लेसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद। अनुवादक—मिर्ज़ा अबुलफ़ज़्ल। मूल्य १)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास (दूसरा संस्करण)—लेखक, डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)। मूल्य कपड़े की जिल्द ४); सादी जिल्द ३॥)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना। मूल्य कपड़े की जिल्द ५॥); सादी जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजगोपाल भटनागर, एम० ए०। मूल्य कपड़े की जिल्द ४॥); सादी जिल्द ४)

(२२-२३) भारतीय इतिहास की रूपरेखा (२ भाग)—लेखक, श्रीयुत जयचंद्र विद्यालंकार। मूल्य प्रत्येक भाग का कपड़े की जिल्द ५॥); सादी जिल्द ५)

(२४) प्रेम-दीपिका—महात्मा अक्षर अनन्य-कृत। संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। मूल्य ॥)

(२५) संत तुकाराम—लेखक, डाक्टर हरिरामचंद्र दिवेकर, एम० ए०, डी० लिट्० (पेरिस), साहित्याचार्य। मूल्य कपड़े की जिल्द २); सादी जिल्द १॥)

(२६) विद्यापति ठाकुर—लेखक, डाक्टर उमेश मिश्र, एम० ए०, डी० लिट्०। मूल्य १)

(२७) राजस्व—लेखक, श्री भगवानदास केला। मूल्य १)

(२८) मिना—लेसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद। अनुवादक, डाक्टर मंगलदेव शास्त्री, एम० ए०, डी० फ़िल्०। मूल्य १)

(२९) प्रयाग-प्रदीप—लेखक, श्री शालिग्राम श्रीवास्तव। मूल्य कपड़े की जिल्द ४); सादी जिल्द ३॥)

(३०) भारतेंदु हरिश्चंद्र—लेखक, श्री ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल्-एल्० बी०। मूल्य ५)

(३१-३२) हिंदी कवि और काव्य (२ भाग)—संपादक, श्रीयुत गणेशप्रसाद द्विवेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०। मूल्य प्रथम भाग ४॥); द्वितीय भाग ३॥)

(३३) रंजीतसिंह—लेखक, प्रोफ़ेसर सीताराम कोहली, एम्० ए०। अनुवादक, श्री रामचंद्र टंडन, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०। मूल्य १)

(३४) जीवनवृत्ति-विज्ञान—लेखक, प्रोफ़ेसर महाजोत सहाय। मूल्य १)

(३५) न्याय—जॉन गाल्सवर्दी के 'जस्टिस' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक, स्वर्गीय मुंशी प्रेमचंद। मूल्य २)

(३६) चाँदीकी डिबिया—जॉन गाल्सवर्दी के 'सिल्वर बाक्स' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक, स्वर्गीय मुंशी प्रेमचंद। मूल्य १॥)

(३७) धोखाधड़ी—जॉन गाल्सवर्दी के 'स्किन गेम' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक, श्रीयुत ललिताप्रसाद सुकुल, एम० ए०। मूल्य १॥)

(३८) हड़ताल—जॉन गाल्सवर्दी के 'स्ट्राइक' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक, स्वर्गीय मुंशी प्रेमचंद। मूल्य २)

(३९) भारतीय राजनीति के अस्सी वर्ष—मूल-लेखक सर सी० वाई० चिंतामणि। अनुवादक, श्रीयुत केशवदेव शर्मा। मूल्य १)

(४०) हर्षवर्धन—लेखक, श्रीयुत गौरीशंकर चटर्जी, एम० ए०। मूल्य २॥)

(४१) विज्ञान-हस्तामलक—लेखक, स्वर्गीय श्रीयुत रामदास गौड़, एम० ए०। मूल्य ६)

(४२) यूरोप की सरकारें—लेखक, श्रीयुत चंद्रभाल जौहरी। मूल्य ३॥)

(४३) हिंदी भाषा और लिपि (तीसरा संस्करण)—लेखक, डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)। मूल्य ॥)

(४४) भारतीय चित्रकला—लेखक, श्रीयुत एन्० सी० मेहता, आई० सी० एस्०। सचित्र। मूल्य सादी जिल्द ६); कपड़े की जिल्द ६॥)

हिंदुस्तानी एकेडेमी, संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की नवीन प्रकाशित पुस्तकें

भारतीय मूर्तिकला

(लेखक—श्री राय कृष्णदास)

इस पुस्तक में मोहेंजोदड़ो के समय से लेकर आज तक की भारतीय मूर्तिकला का वर्णन बड़ी सरल भाषा में किया गया है। साथ ही इस कला के सौंदर्य की विशेषताएं एवं तात्त्विक व्याख्या भी दी गई है। अपने ढंग की हिंदी ही में नहीं समस्त भारतीय भाषाओं में पहली पुस्तक है। पृष्ठसंख्या २३९+१३, ३९ चित्र तथा मैटर के साथ अनेक रेखा-आकृतियाँ। मूल्य ३), विशिष्ट संस्करण ३।)

भारत की चित्रकला

(लेखक—श्री राय कृष्णदास)

यह तथा भारतीय मूर्तिकला संबद्ध प्रकाशन है; इसमें अपनी महान् चित्रकला का अथ से इति तक का इतिहास, सौंदर्य-निरीक्षण, एवं उसके मर्म की बातें तो है ही, साथ ही लेखक ने लगभग ३० बरस के अपने गंभीर अध्ययन का सारांश भी दिया है जिससे भारतीय चित्रकला के इतिहास-विषयक कई महत्त्वपूर्ण नई बातों का उद्घाटन हुआ है और नया प्रकाश पड़ा है। यह भी अपने ढंग की हिंदी ही में नहीं, समस्त भारतीय भाषाओं मे पहली पुस्तक है। पृष्ठसंख्या १८०+१६, चित्रसंख्या २७ (सादे) +१ (रंगीन) मैटर के साथ अनेक रेखा-आकृतियाँ। मूल्य १=), विशिष्ट संस्करण १।=)

मआसिरुलउमरा (दूसरा भाग)

(अनुवादक—बाबू ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल्-एल०बी०)

मूल ग्रंथ फारसी भाषा में है और उसमें मुगल-शासन-कालीन सरदारों और अमीरों की जीवनियाँ दी गई हैं। मुगल-कालीन इतिहास के अध्ययन के लिये ग्रंथ बहुत उपयोगी है। इसका पहला भाग पहले ही प्रकाशित हो चुका है। इस भाग मे लगभग ६०० से ऊपर पृष्ठ है और कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों के चित्र भी दिए गए हैं। पृष्ठसंख्या ६०० से ऊपर। मूल्य ४)

बाल-मनोविज्ञान

(लेखक—प्रो० लालजीराम शुक्ल, एम० ए०, बी० टी०)

आजकल बालकों की शिक्षा और सुधार के लिये बाल-मनोविज्ञान का ज्ञान कितना आवश्यक है यह बतलाने की आवश्यकता नही। ठोक-पीटकर बालकों को पढ़ाने और दुरुस्त करने का समय अब बहुत पीछे चला गया। अब सभी बुद्धिमान् लोग समझने लगे हैं कि बालकों को ठोंकने-पीटने के बदले हमें उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों का पता लगाना चाहिए। उन्हीं प्रवृत्तियों का अनुसरण करके हम उन्हें बड़े से बड़ा आदमी

बना सकते हैं। बाल-मनोविज्ञान में बड़ी सरल और सुबोध भाषा में लेखक ने बालकों की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करके उन्हें समझाया है। पृष्ठसंख्या २६०, मूल्य १।)

बिहार में हिंदुस्तानी

(लेखक—पं० चंद्रबली पांडे, एम० ए०)

हिंदुस्तानी भाषा का प्रचार आजकल बड़े जोरों से किया जा रहा है। हिंदुस्तानी के समर्थक उसे सबके समझने योग्य सरल भाषा बतलाते हैं, पर वस्तुतः इस नाम की आड़ में कहीं तो शुद्ध उर्दू का प्रचार करते हैं और कहीं हिंदी का अत्यंत विकृत रूप उपस्थित करते हैं। बिहार प्रांत में हिंदुस्तानी का प्रचार किस कैंड़े से करने का उद्योग किया गया है इसी की छान-बीन इस पुस्तक में की गई है। पृष्ठसंख्या ६१, मूल्य ।)

कचहरी की भाषा और लिपि

(लेखक—पं० चंद्रबली पांडे, एम० ए०)

कचहरियों में इतिहास के भिन्न-भिन्न कालों में किस प्रकार की लिपि और भाषा का प्रचार रहा है तथा इस समय वस्तुतः कचहरी की भाषा और लिपि कौन सी होनी चाहिए, इसी का विवेचन इस पुस्तक में किया गया है। पुस्तक अवश्य पठनीय है। पृष्ठसंख्या १७६, मूल्य ।।।)

भाषा का प्रश्न

(लेखक—पं० चंद्रबली पांडे, एम०ए०)

आजकल हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी के झगड़े के कारण भाषा की समस्या बहुत ही जटिल हो गई है। किंतु लेखक ने कई लेख लिखकर इस पुस्तक में इस प्रश्न को बहुत अच्छी तरह सुलझाया है। पृष्ठसंख्या १८८, मूल्य ।।।)

संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर

(संपादक—बा० रामचंद्र वर्मा)

हिंदी का यही एक छोटा सस्ता, और सबसे अच्छा शब्दकोष है। यह बृहद् हिंदी शब्दसागर का ही संक्षिप्त रूप है। नया संस्करण अभी छपकर तैयार हुआ है। पृष्ठसंख्या १२००, मूल्य ४)

कबीर-वचनावली

(संपादक—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध")

इस पुस्तक का खूब प्रचार हो चुका है। कबीर की रचनाओं का बहुत सुंदर संग्रह है और भूमिका बहुत विद्वत्ता-पूर्ण है। आठवाँ संस्करण अभी छपकर तैयार हुआ है। पृष्ठसंख्या ३०० से ऊपर, मूल्य १।)

मिलने का पता—नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी।

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग १० } अप्रैल, १९४० { अंक २

स्वामी दयानंद सरस्वती के कुछ नए पत्र

[लेखक—डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)]

सन् १९३४-३५ में जब मैं पेरिस में था तब संयोग से मुझे मालूम हुआ कि स्वामी दयानंद सरस्वती के कुछ पत्र एक सम्मानित गुजराती सज्जन के यहां सुरक्षित हैं। यहां यह बतला देना उचित है कि बहुत से भारतीय व्यवसायी पेरिस तथा लंदन में स्थायी रूप से बस गए हैं। भारत लौटने से पहले मैं इन सज्जन से मिला और इन्हों ने कृपापूर्वक पत्रों की फ़ायल मुझे सौंप दी।

इस फ़ायल मे कुल २८ पत्र निकले। इन मे २६ पत्र स्वामी जी के हैं तथा दो एक भिन्न व्यक्ति के हैं जो स्वामी जी के प्रेस में नौकर थे। स्वामी जी के पत्रों में ३ पत्र आद्योपांत उन के हाथ के लिखे हैं। इन में से दो के फ़ोटो दिए जा रहे हैं। २२ पत्र उन्हों ने दूसरों से लिखवाए हैं तथा उन पर अपने हस्ताक्षर किए हैं और १ पत्र बिना हस्ताक्षर का है। भाषा की दृष्टि से १७ पत्र हिंदी में हैं, ६ अंग्रेजी में और ३ संस्कृत में हैं।

सोलह पत्र श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा को लिखे गए हैं, ५ पत्र श्री गोपालराव हरिदेशमुख को, २ श्री हरिश्चंद्र चिंतामणि को, १ हेनरी आलकट तथा मैडम ब्लैवाट्सकी को, १ श्री मूलराज को तथा १ वल्लभदास को। अधिकांश पत्र छोटे हैं और प्रायः वेदभाष्य आदि की छपाई के संबंध में हैं। कुछ पत्रों में सिद्धांतों की चर्चा की गई है, किंतु ये पत्र प्रायः संस्कृत में हैं।

यद्यपि स्वामी दयानंद सरस्वती के पत्र कई जिल्दों में प्रकाशित हो चुके हैं किंतु ये पत्र अभी तक अप्रकाशित हैं। अतः इन का विशेष महत्व है। स्वामी जी के व्यक्तित्व, जीवनी और विचारावली पर ये नवीन प्रकाश डालते हैं। प्रस्तुत लेख के साथ स्वामी जी के हाथ के लिखे एक हिंदी के तथा एक संस्कृत के पत्र के फ़ोटो दिए जा रहे हैं, तथा दो अन्य पत्रों को उद्धृत किया जा रहा है। अंतिम दोनों पत्र उन के हाथ के लिखे नहीं हैं, किंतु दोनों पर देवनागरी में उन के हस्ताक्षर हैं। इन में एक पत्र हिंदी में लिखवाया गया है और १ अंग्रेज़ी में है।

पहला पत्र जो आद्योपांत स्वामी जी का हस्तलिखित है, हिंदी में है और इस प्रकार है :—

सं० १९३५ फा० शु० ११ मंगल ता० ४ मार्च सन् १८७९

पंडित श्यामजीकृष्ण वर्म्मा आनन्दित रहो तुम्हारा ता० २६ फरवरी का लिखा पत्र आया सब हाल विदित हुआ मैं बहुत शोक इस बात में करता हूं कि हमारे प्रिय बन्धुवर्ग पाताल देश निवासी लोगों को मुंबई में आ के मिलं नहीं सकता क्योंकि हरद्वार में चैत्र की समाप्ति पर्य्यन्त ठहरने का नोटिस फाल्गुन शुदी ६ गुरुवार से दे चुका हूँ ॥ और यहां इस बात की प्रसिद्धी भी कर चुका हूं अब इस बात को अन्यथा नहीं कर सकता ॥ जब वे इस देश में लाहौर आदि के समाजों को देखने को आवेंगे तब यहां वा कहीं अत्यन्त प्रेम के साथ उन से मिलूंगा और बातचितें भी यथोचित होंगी उन से मेरा आशीर्वाद कह के कुशल क्षेम प्रेम से पूँछना ॥ और जो तुम ने समाज के विषय में लिखा कि न आओगे तो यहां का आर्य्यसमाज टूट जायगा क्या तुम ने समाज हरिचन्द्र चिन्तामणि के ही भरोसे किया था और जो मेरे आने जाने पर ही समाज की स्थिति है तो मैं अकेला कहां २ आ जा सकता हूं जो समाज में अयोग्य प्रधान हो उस को छुड़ा कर दूसरा नियत कर के समाज का काम ठीक २ चलाना चाहिए। कल यहां से चल के मुन्शी समर्थदान वेदभाष्य के काम पर नियत हो के मुंबई को आते हैं तुम से मिलेंगे छापे वालों और कागज वालों से ठीक २ नियम करा देना और बाबू हरिचन्द्र चिन्तामणि से भी सब पुस्तक

सं० १९३५ फा० शु० ११ मंगल ता० ४ मार्च सन् १८७९

पंडित श्यामजी कृष्णवर्मा आनन्दित रहो तुम्हारा
ता० २६ फरवरी का लिखा पत्र आया सब हाल विदित हुआ
मैं बहुत शोक इस बात से करता हूं कि हमारे प्रियबन्धुवर्ग पाताल
देशनिवासी लोगों को मुंबई में आ के मिल नहीं सकता
क्योंकि हरद्वार में चैत्र की समाप्ति पर्य्यन्त ठहरने का नोटिस फाल्गुन शुदी ६ गुरुवार
से दे चुका हूं ॥ और यहां इस बात की प्रसिद्धी भी कर चुका हूं
अब इस बात को अन्यथा नहीं कर सकता ॥ जब वे इस देश में ला
हौर आदि के समाजों को देखने को आवेंगे तब यहां वा कहीं
अत्यन्त प्रेम के साथ उनसे मिलूंगा और बातचीतें भी यथोचि
त होंगी उनसे मेरा आशीर्वाद कह के कुशल क्षेम प्रेमसे पूं
छना ॥ और जो तुमने समाज के विषय में लिखा कि न आओगे
तो यहां का आर्य्यसमाज टूट जायगा क्या तुमने समाज
हरिचन्द्र चिन्तामणि के ही भरोसे किया था और जो मेरे आ
ने जाने पर ही समाज की स्थिति है तो मैं अकेला कहां र
जा आ सकता हूं जो समाज में योग्य प्रधान हो उसको बुड़ाकर
दूसरा नियत करके समाज का काम ठीक २ चलाना चाहि
ये ॥ कल यहां से चल के मुन्शी समर्थदान वेदभाष्य के काम पर निय
क्त हो के मुंबई को आते हैं तुम से मिलेंगे छापेवालों और
कागज वालों से ठीक २ नियम करा देना और बाबू हरिचन्द्र जी
चिन्तामणि से भी सब पुस्तक पत्रे दिला देना सब हिसाब किताब
करा के शीघ्र खुलासा करा देना और इनको मकान आदि का
क्लेश कुछ भी कभी न होने पावे

दयानन्द सरस्वती

स्वामी दयानंद का हिंदी पत्र

सं० १९३५ फाल्गुन शुदी १२ बुधवार ता० ५ मार्च १८७९

स्वस्ति श्रीमच्छ्रेष्ठोपमायुक्तेभ्यः श्रीयुत श्यामजिकृष्णवर्मभ्यो
दयानन्दसरस्वती स्वामिन आशिषो भूयास्तुतमाम् । शमि
हास्ति तत्रास्त्यं भवदादीनां च नित्यमाशासे ॥
अग्रे इदं बोध्यम् एकं मनस्विनं समर्थं जनामानं पुरुषं
वेदभाष्यप्रबन्धार्थं भवत्सन्निधौ मुम्बापुर्यां वर्त्तमानेऽहं नि
प्रेषयामि यथा समयं तत्र प्राप्स्यति स यथा कथंचित् क्लेशो
न स्यात्तथानुष्ठेयं वेदभाष्यसम्बन्धिकार्यार्थं संसेधनी
यानि नैवात्र विलंबः कार्य्य इति ॥ ये तत्र सभासदः सज्जनाः
सन्ति तैः सह संमेलनं [illegible] ये तत्र पाताल देशनिवासिनो
वर्त्तन्ते तेभ्योऽत्यन्तादरेणाशिषः संश्राव्य कुशलक्षेमता
प्रष्टव्या ॥ यथा मयि प्रीतिर्वर्त्तते तथैवैतस्मिन् प्रेमभावो
विधेयो विद्याऽध्ययनसहाय [illegible] स्थानभूता प्रबन्धश्च
यथावत्समर्पणस्य कार्य्य इति च ॥

(दयानन्दसरस्वती)

स्वामी दयानंद का संस्कृत पत्र

पत्रे विलां देना सब हिसाव किताव करा के शीघ्र खुलासा करा देना और इन को मकान आदि का क्लेश कुछ भी कभी न होने पावे।

दयानन्द सरस्वती

दूसरा पत्र संस्कृत में है, और यह भी आद्यंत स्वामी जी का हस्तलिखित है :—

सं० १९३५ फाल्गुन शुदी १२ बुधवार ता० ५ मार्च १८७९

स्वस्ति श्रीमच्छ्रेपमायुक्तेभ्यः श्रीयुत श्यामजिकृष्णवर्मभ्यो दयानन्द सरस्वती स्वामिन आशिषो भूयासुस्तमांशमिहास्ति तत्रात्यं भवदादीनां च नित्यमाशासे।। अग्रे इदं बोध्यमेकं मनस्विनं समर्थदाननामानं पुरुषं वेदभाष्यप्रबन्धार्थं भवत्सनीडं मुम्बापुर्यां वर्त्तमानेऽहनि प्रेषयामि यथासमयमयं तत्र प्राप्स्यत्यस्मै कथंचित्क्लेशो न स्यात्तथानुष्ठेयं वेदभाष्यसम्बन्धिकार्य्याणि संसेधनीयानि नैवात्र विलंवः कार्य्यं इति ।। ये तत्र सभासदः सज्जनाः सन्ति तैः सह संमेलनम् । ये तत्र पातालदेशनिवासिनो वर्त्तन्ते तेभ्योऽत्यन्तादरेणाशिषः संश्राव्य कुशलक्षेमता प्रष्टव्या ।। यथा मयि प्रीति वर्त्तते तथैवैतस्मिप्रेमभावो विधेयो विद्याऽध्ययन सहायः स्थानभृत्य प्रबन्धश्च यथावत्समर्थदानस्य कार्य्यं इति च ।।

दयानन्द सरस्वती

पीठ पर

पंडित श्याम जी कृष्ण वर्म्मा योग्य बंबई

स्वामी जी के उपर्युक्त संस्कृत पत्र का हिंदी रूपांतर निम्न है :—

सं० १९३५ फाल्गुन सुदी १२ बुधवार ता० ५ मार्च १८७९

स्वस्ति श्रीमत् श्री उपमायुक्त श्रीयुत श्यामजी कृष्ण वर्मा को स्वामी दयानंद सरस्वती के आशीर्वाद। यहां कुशल है, वहां आप लोगों के कुशल की आशा करता हूं। आगे यह जानना कि समर्थदान नाम के एक मनस्वी पुरुष को वेदभाष्य के प्रबंध के लिए आज आप के पास बंबई शहर को भेज रहा हूं। जिस समय ये वहां पहुँचें इन्हें कोई क्लेश न हो इस का यत्न आप को करना चाहिए।

वेदभाष्य संबंधी कार्यों को साधन करना है और इस में अब विलंब न होना चाहिए इति ॥ जो सभासद सज्जन वहां हैं उन के साथ मिलना चाहिए। वहां जो पाताल देश वासी सज्जन हैं उन्हें भी बड़े आदर से आशीर्वाद सुना कर उन का कुशल क्षेम पूछना। जैसा प्रेम मुझ में है वैसा ही प्रेमभाव इन से भी रखना और विद्याध्ययन में इन की सहायता तथा समर्थदान जी के ठहरने का स्थान और नौकर का प्रबंध कर देना। इति।

दयानन्द सरस्वती.

यह तीसरा पत्र किसी दूसरे के हाथ का लिखा हुआ है। इस के अंत में हस्ताक्षर मात्र स्वामी जी के हैं :—

पहला पृष्ठ

पंडित श्यामजी कृष्ण वर्म्मा आनंद रहो

विदित हो कि तुम्हारी चिट्ठी १८ अक्टू० की लिखी पहुंची सब हाल मालूम हुआ, हम बहुत प्रसन्नतापूर्वक लिखते है कि जब तक तुम मुंबई में रहो तभी तक वेदभाष्य का काम उठा लो और खूब होशियारी से करो, और ३०) जो नोकर चाकरों के लिये हैं उन में तुम को अख़्त्यार है चाहे जैसे ख़र्च करो, और जो ३५) तक भी कभी ख़र्च हो जावेगा हम को स्वीकार है, और यह संख्या भी जब तक है कि काम कुछ कम चलता है, जब दो हज़ार ग्राहक हो जावेंगे फिर हम कुछ गिनती न रक्खेंगे चाहे जितना खर्च हो ॥ और जब तुम इस काम को ठीक ठीक चलाओगे तो प्रति दिन उन्नति हि होगी ॥ और आज ही हम ने बाबू हरिश्चंद्र चिंतामणि जी को भी लिखा है ॥ वे आप को बुलाकर प्रसन्नतापूर्वक काम सौंप देंगे, तुम यह शंका मत करो कि शायद वे बुरा मानें, वे कभी बुरा न मानेंगे और न वे ऐसे आदमी हैं ॥ और उन की और तुम्हारी तो घर के सी बात है, वे तुम पर सदैव प्रसन्न हैं ॥

दूसरा पृष्ठ

यह पहिला पत्र व्यवहार का हमारा तुम्हारे पास पहुंचता है इस को रख लेना और आगे सब रखते जाना, हम भी तुम्हारे पत्र रख लिया करेंगे और तुम्हारे ही पास पत्र भेजा करेंगे ॥ और पुस्तकादि सब संभाल कर रखना, और

जैसा कागज़ अबकी बार लगा है वैसा ही सदैव लगाना इस से कुछ भी न्यून न हो और अगले मास में ५००) भी तुम्हारे पास भेज देंगे बाबू हरिश्चंद्र चिं० जी को यह हमारा पत्र दिखा देना और गोपालराव हरिदेशमुख जी को हमारा आशीर्वाद कह देना ।। अगले मास में तुम्हारा नाम भी टाइटिल पेज पर छाप दिया जावेगा जिस से ग्राहक लोग भी चिट्ठी पत्री और रुपया पैसा तुम्हारे पास भेजा करेंगे ।। हम बहुत आनंद में हैं ।।

२२ अक्टू० ७८

हस्ताक्षर
दयानन्द सरस्वती
दिल्ली

चौथा पत्र जो अंग्रेजी में है, और संभवतः जिस का मसविदा किसी बंगाली सज्जन का बनाया है, इस प्रकार है । इस के अंत में भी स्वामी दयानंद के हिंदी में हस्ताक्षर हैं :—

Lohore, 6th June, 1877

Dear, Sir,

I am exceedingly glad to read your's of the 30th ult. which refreshed my soul very much. Your boldness in virtuous path is beyond measure & your exertions in Indian's welfare are unspeakable. By the laws of nature you are deserving good reward from Heaven & your prosperity will grow brighter & brighter rapidly.

I am willing to follow your advice & ready to translate white Yajurveda as you wish, but in this I will stand in need of two Pandits more & the printing charges will also get increased for the double issue of the work every month. Therefore you can yourself think over the matter properly & inform me then of your final opinion on the matter, so that I may employ two writers more and begin to translate the work with certainty. I have every reason to believe that the darkness of ignorant India,— which has reduced the people to such low condition in which

they seem & still car(e)less—will one day be banished away, if the sun of civilisation shone & the true knowledge of the *Vedas* diffused over the country. Noble & high-spirited persons like you and your companions only can be expected to undertake this mighty work for the public good & though such souls are few in number their rarity is better than abundance.

I wish that Shamji Krishna Varma should come to me for some time before starting for Oxford. I wish to give him some of the most important hints on *Vedas* which are necessarily required for him. He must not care for his expenses or anything else & I'll furnish him with all necessaries indeed.

In my opinion his going to England is very useful for him but let me know what is your opinion about the matter. I will also write directly to him. I have got no copy of *Mahanirwan-tuntra* with me but it is procurable from Calcutta. Hoping you are well. Please let me know Shamji K. Verma's answer about my enquiry & accept my *asheerbad*.

Yours well-wisher

Pundit S. Daynund Sorusswatti

Sd. दयानन्द सरस्वती

Gopal Rao Hurry Desh Mookh, Nasik

अंग्रेज़ी पत्र का रूपांतर :

लाहौर, ६ जून १८७७

प्रिय महोदय,

आप के पिछली ३० तारीख़ के पत्र को पढ़ कर बड़ी प्रसन्नता हुई, और उस ने मेरी आत्मा को प्रसन्न किया। सन्मार्ग में आप का साहस अत्यंत सराहनीय है और आप के हिंदुस्तानियों के क्षेम के लिए उद्योग अकथनीय हैं। प्रकृति के नियमों के अनुसार आप को ईश्वर से अच्छा फल मिलना चाहिए और आप की समृद्धि शीघ्रता से उज्वलोज्वल होगी।

मैं आप की सलाह मानने को तैयार हूं और जैसा आप चाहते हैं शुक्ल

यजुर्वेद के अनुवाद का काम उठा सकता हूं। लेकिन इस काम में मुझे दो और पंडितों की सहायता अपेक्षित होगी और छपाई का खर्च भी बढ़ जायगा यदि प्रति मास दोहरा नंबर निकाला गया। इस लिए इस विषय पर आप स्वयं विचार कर सकते हैं और अपनी अंतिम सम्मति मुझे लिख सकते हैं, जिस में मैं दो लेखकों को और लगा कर अनुवाद का काम निश्चित ढंग से आरंभ कर दूं। इस का मुझे पूरा विश्वास है कि अज्ञान का अंधकार जिस ने हिंदुस्तान को इस बुरी दशा में डाल रक्खा है, और जिस के विषय में वह निश्चेष्ट है, एक दिन दूर हो जायगा यदि सभ्यता का सूर्य चमका और वेदों का सच्चा ज्ञान देश में फैला। आप जैसे उच्चाकांक्षी और उदारचेता लोगों और आप के साथियों से ही इस बात की आशा हो सकती है कि जनता के हित के इस महान कार्य को उठावें, और यद्यपि ऐसी आत्माएं गिनती में थोड़ी ही हैं, ऐसे थोड़े ही से लोग बहुत बड़े समुदाय से अच्छे है।

मैं चाहता हूं कि शामजी कृष्ण वर्मा आक्सफ़ोर्ड के लिए प्रस्थान करने से कुछ पूर्व यहां आ जायँ। मै उन्हें वेदों के संबंध में कुछ अत्यंत आवश्यकीय संकेत देना चाहता हूं जिन की उन्हें ज़रूरत पड़ेगी। उन्हें अपने खर्चे के या किसी अन्य विषय में चिंतित न होना चाहिए, और मैं उन की सब आवश्यकताओं का प्रबंध कर दूँगा।

मेरी सम्मति में उन का इंग्लिस्तान जाना उन के लिए बड़ा लाभप्रद होगा, परंतु आप भी अपनी सम्मति इस विषय में मुझे लिखें। मैं उन के पास सीधे भी पत्र भेजूंगा। मेरे पास 'महानिर्वाणतंत्र' की कोई प्रति नहीं है लेकिन यह पुस्तक कलकत्ते से प्राप्त हो सकती है। आशा करता हूं कि आप सकुशल होंगे। मेरी जिज्ञासा के विषय में शामजी के० वर्मा के उत्तर से मुझे सूचित कीजिएगा, और मेरा आशीर्वाद ग्रहण कीजिएगा।

आप का शुभाकांक्षी

(हस्ताक्षर) दयानन्द सरस्वती

पीठ पर :

गोपालराव हरिदेशमुख, नासिक

२

दक्षिण के राष्ट्रकूट नरेश और निज़ाम राज्य

[लेखक—पंडित विश्वश्वरनाथ रेउ, साहित्याचार्य]

मिराज से मिले ताम्रपत्र[1] में लिखा है कि :—

यो राष्ट्रकूट कुलमिन्द्र इति प्रसिद्धं
कृष्णाह्वयस्य सुतमष्टशतेभसैन्यम् ।
निर्जित्य दग्धनृपपञ्चशतो बभार
भूयश्चुलुक्यकुलवल्लभ राजलक्ष्मीम् ।।

अर्थात्—उस (सोलंकी जयसिंह) ने राष्ट्रकूट-नरेश, कृष्ण के पुत्र, आठ सौ हाथियों की सेना वाले इंद्र को और कुछ अन्य राजाओं को जीत कर फिर से वल्लभराज (सोलंकी-वंश) की राज्य-लक्ष्मी को धारण किया ।

इस से प्रकट होता है कि ई० स० ५०७ (वि० सं० ५६४) के पूर्व लटलूर में, जोकि दक्षिण हैदराबाद के गुलबर्गा प्रांत में था, राष्ट्रकूट नरेशों का राज्य था, और उस समय के क़रीब सोलंकी (चालुक्य) जयसिंह ने राष्ट्रकूट नरेश (कृष्ण के पुत्र) इंद्र को हरा कर वहां पर फिर से सोलंकी (चालुक्य) राज्य की स्थापना की ।

इस के वंशजों की राजधानी बीजापुर प्रांत की वातापी (बादामी) नगरी थी ।

उपर्युक्त ताम्रपत्र में ही आगे लिखा है :—

तद्भूवो विक्रमादित्यः कीर्तिवर्मा तदात्मजः ।
येन चालुक्यराज्यश्रीरन्तरायिण्यभूद्भुवि ।।

अर्थात्—विक्रमादित्य के पुत्र कीर्तिवर्मा द्वितीय के हाथ से (जो जयसिंह से नवीं पीढ़ी में था) सोलंकियों (चालुक्यों) का राज्य फिर निकल गया ।

---

[1] 'इंडियन ऐंटिक्वेरी', भाग ८, पृ० १२

यह घटना ई० स० ७४७ और ७५३ (वि० सं० ८०५ और ८१०) के बीच की है।

औरंगाबाद प्रांत की इलोरा की पहाड़ी गुफा के दशावतार के मंदिर के लेख[१] में राष्ट्रकूटों की जो वंशावली मिलती है, उस में पहला नाम दंतिवर्मा (दंतिदुर्ग) प्रथम का है। यह शायद उपर्युक्त इंद्र का वंशज होगा और इस का समय ई० स० ५९३ (वि० सं० ६५०) के पूर्व रहा होगा।

पुलकेशी (द्वितीय) के एहोले से मिले श० सं० ५५६ (ई० स० ६३४=वि० सं० ६९१) के लेख[२] में लिखा है :—

> **लब्ध्वाकालं भुवमुपगते जेतुमप्यायिकाख्ये**
> **गोविन्दे च द्विरदनिकरैरुत्तमाम्भोधिरथ्या।**
> **यस्यानीकैर्युधि भयरसत्वमेकः प्रयातः**
> **तत्रावाप्तं फलमुपकृतस्यापरेणापि सद्यः॥**

अर्थात्—(दंतिदुर्ग प्रथम के पौत्र) गोविंदराज प्रथम ने सोलंकी पुलकेशी (द्वितीय) के समय, अन्य राजाओं के साथ मिल कर, अपने गए हुए राज्य को फिर से प्राप्त करने की चेष्टा की। परंतु उस में उसे सफलता न मिलने से उस ने पुलकेशी के साथ मित्रता कर ली।

इस के बाद इस गोविंद के प्रपौत्र दंतिवर्मा (दंतिदुर्ग) द्वितीय ने ई० स० ७४८ और ७५३ (वि० सं० ८०४ और ८१०) के बीच (पश्चिमी चालुक्य नरेश) सोलंकी कीर्तिवर्मा द्वितीय को हरा कर उस के राज्य के उत्तरी भाग वातापी (बादामी) पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार दक्षिण में फिर से राष्ट्रकूट राज्य की स्थापना की।

सामनगढ़ (कोल्हापुर राज्य) से मिले श० सं० ६७५ (ई० स० ७५३=वि० सं० ८१०) के ताम्रपत्र[३] में लिखा है :—

---

[१] **'आर्कियालॉजिकल सर्वे अव् वेस्टर्न इंडिया', भाग ५, पृ० ८७**

[२] **'एपिग्राफ़िया इंडिका', भाग ६, पृ० ५-६**

[३] **'इंडियन ऐंटिक्वेरी', भाग ११, पृ० १११**

माही महानदी रेवा रोधोभित्तिविदारणम्।

. . . .

यो वल्लभं सपदि दण्डबलेन जित्वा
राजाधिराजपरमेश्वरतामुपैति।
काञ्चीशकेरलनराधिपचोलपाण्ड्य-
श्रीहर्षवज्रटविभेदविधानदक्षम्।
कर्णाटकं बलमनन्तमजेयरथ्यै-
र्भृत्यैः कियद्भिरपि यः सहसा जिगाय।

अर्थात्—दंतिदुर्ग (द्वितीय) की सेना के हाथी माही, महानदी और नर्मदा तक पहुँचे थे। (इस से इस का महीकांठा, मालवा और उड़ीसा तक सफल चढ़ाई करना प्रकट होता है।)

इस ने वल्लभ (पश्चिमी चालुक्य नरेश कीर्तिवर्मा द्वितीय) को जीत कर राजाधिराज और परमेश्वर की उपाधियां धारण की थीं।

साथ ही इस ने अपने थोड़े से सवारों से कर्नाटक की उस बलवती सेना को भी हराया था, जिस ने कांची (कांजीवरम्) केरल (मालाबार तट, जिस में ट्रवनकोर और कोचीन के प्रदेश भी सम्मिलित थे), चोल (कोरोमंडल तट) और पांड्य (कोरोमंडल तट के आगे के दक्षिण-पश्चिमी प्रदेश) के राजाओं तथा कन्नौज नरेश हर्ष और वज्रट पर विजय प्राप्त की थी।

यहां पर कर्नाटक की सेना से चालुक्यों (सोलंकियों) की सेना का तात्पर्य है।

इसी प्रकार इस ने कांची (नोलंबवाडी=या माइसोर रियासत के चितलदुर्ग प्रांत) के पल्लव नरेश को तथा श्रीशैल (मद्रास के कर्नूल प्रांत), कलिंग (महानदी और गोदावरी के बीच के समुद्रतटवर्ती प्रदेश), कोशल (दक्षिणी कोशल गोंडवाना और मध्य प्रदेश के पूर्वी भाग), मालवा (मध्य भारत), लाट (दक्षिणी और मध्य गुजरात), टंक और सिंध (?) के राजाओं को भी हराया था।

गुजरात के राष्ट्रकूट-नरेश कर्कराज (द्वितीय) के श० सं० ६७९ (ई० सं० ७५७=वि० सं० ८१४) के ताम्रपत्र[1] से प्रकट होता है कि इसी दंतिवर्मा ने लाट

---

[1] **'जर्नल बांबे एशियाटिक सोसाइटी', भा० १६, पृ० १०६**

(दक्षिणी और मध्य गुजरात) को विजय कर वहां का राज्य अपने बंधु कर्कराज (द्वितीय) को दिया था।

पैठन (औरंगाबाद प्रांत) से मिले राष्ट्रकूट गोविंदराज तृतीय के श० सं० ७१६ (ई० स० ७९४=वि० सं० ८५१) के ताम्रपत्र[1] में इस (दंतिवर्मा द्वितीय) के राज्य का दक्षिण में सेतुबंध-रामेश्वर से उत्तर में हिमालय तक, और पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्र तक फैल जाना लिखा है।

इस से प्रकट होता है कि यह अपने समय का दक्षिण का सब से प्रतापी राजा था और इस का राज्य गुजरात और मालवा की उत्तरी सीमा से दक्षिण में रामेश्वर तक फैल गया था।

इसी दंतिदुर्ग द्वितीय के चचा कृष्णराज प्रथम ने इलोरा की गुफाओं में का 'कैलास-भवन' बनवाया था। यह मंदिर पर्वत को तराश कर बनाया गया है, और अपनी कारीगरी के लिए प्रसिद्ध है। यहीं पर इस ने अपने नाम पर 'कन्नेश्वर' नाम का एक 'देवकुल' भी बनवाया था, जहां पर अनेक विद्वान् रहा करते थे।

तलेगाँव से मिले श० सं० ६९० (ई० स० ७६८=वि० सं० ८२५) के ताम्रपत्र[2] से प्रकट होता है कि इस (कृष्णराज प्रथम) ने गंगवंशी नरेश के राज्य (माइसोर के दक्षिण-पूर्वी और दक्षिण-पश्चिमी भागों) पर चढ़ाई की थी।

अलास से मिले श० सं० ६९२ (ई० स० ७७०=वि० सं० ८२७) के ताम्रपत्र[3] से प्रकट होता है कि जिस समय गोविंदराज द्वितीय का शिविर कृष्णा, वेणा और मूसी नदियों के संगम पर था, उस समय वेंगि[4] के पूर्वी चालुक्य नरेश ने उपस्थित हो इस की अधीनता स्वीकार की थी।

वेंगि प्रदेश का बड़ा भाग इस समय निज़ाम राज्य के दक्षिण-पूर्वी प्रांतों के अंतर्गत है।

---

[1] 'एपिग्राफ़िया इंडिका', भा० ३, पृ० १०५
[2] 'वही', भा० १३, पृ० २७५
[3] 'वही', भा० ६, पृ० २०९
[4] यह प्रदेश कृष्णा और गोदावरी के बीच था।

बगुआ से मिले ताम्रपत्र[1] से प्रकट होता है कि गोविंदराज (द्वितीय) के छोटे भाई ध्रुवराज ने उत्तर कोशल (अयोध्या) के राजा से एक छत्र छीना था।

इस (ध्रुवराज) ने कांची (कांजीवरम् या नोलंबवाडी) के पल्लव राजा को हराया था, चेर (कोइंबटूर या गंगवाडी) के गंगवंशी राजा को क़ैद किया था, और पड़िहार वत्सराज पर हमला कर उसे भीनमाल (मारवाड़) की तरफ़ भगा दिया था।

ध्रुवराज के पुत्र गोविंदराज तृतीय के ताम्रपत्रों[2] से प्रकट होता है कि उस ने चेर (कोइंबटूर या गंगवाडी के) नरेश को क़ैद से मुक्त कर फिर से क़ैद किया, गुजरात पर आक्रमण किया, मालवा विजय किया, विंध्याचल के तरफ़ की चढ़ाई में माराशर्व को वश में कर वर्षा ऋतु की समाप्ति तक श्रीभवन (मलखेड) में निवास रक्खा, शरद ऋतु के आने पर तुंगभद्रा की तरफ़, जो आधुनिक हैराबाद रियासत की दक्षिणी सीमा है, आगे बढ़ कांची (कांजीवरम् या नोलंबवाडी) के पल्लव नरेश दंतिवर्मा को हराया और इस की आज्ञा से वेंगि के राजा (संभवतः पूर्वी चालुक्य नरेश विजयादित्य द्वितीय) ने इस की राजसभा में आ कर इस की अधीनता स्वीकार कर ली।

इस के श० सं० ७२६ (ई० स० ८०४=वि० सं० ८६१) के ताम्रपत्र[3] में इस की तुंगभद्रा तक की यात्रा का उल्लेख होने से इन में की बहुत सी घटनाओं का उस समय से पूर्व होना सिद्ध होता है।

इस के श० सं० ७३५ (ई० स० ८१२=वि० सं० ८६९) के तोरखेडे (खानदेश) से मिले ताम्रपत्र[4] से ज्ञात होता है कि इस ने लाटदेश (गुजरात के मध्य और दक्षिणी भाग) का राज्य अपने छोटे भाई इंद्रराज को दिया था, जिस से गुजरात के राष्ट्रकूट नरेशों की दूसरी शाखा चली।

इस के ताम्रपत्रों से सिद्ध होता है कि यह दक्षिण का प्रतापी राजा था। उत्तर में विंध्य और मालवा से दक्षिण में कांचीपुर (कांजीवरम् या नोलंबवाडी) तक के राजा

---

[1] 'जर्नल बांबे एशियाटिक सोसाइटी', भा० १८, पृ० २६१

[2] 'इंडियन ऐंटिक्वेरी', भा० ११, पृ० १५७ और 'एपिग्राफ़िया इंडिका', भा० ६ पृ० २४२

[3] 'इंडियन ऐंटिक्वेरी', भा० ११, पृ० १२६

[4] 'एपिग्राफ़िया इंडिका', भा० ३, पृ० ५४

इस की आज्ञा का पालन करते थे और नर्मदा और तुंगभद्रा के बीच का प्रदेश इस के अधिकार में था।

नीलगुंड से मिली श० सं० ७८८ (ई० स० ८६६=वि० सं० ९२३) की प्रशस्ति[१] में गोविंदराज तृतीय का केरल (मालाबार तट) मालवा, गौड (उत्तरी बंगाल), गुर्जर और चित्रकूट (चित्तौड़) को जीतना लिखा है।

राधनपुर के श० सं० ७३० (ई० स० ८०८=वि० सं० ८६५) के ताम्रपत्र[२] से ज्ञात होता है कि इस ने वेंगि के पूर्वी चालुक्य राजा द्वारा अपने नगर या दुर्ग के इर्द-गिर्द शहरपनाह बनवाई थी।

कन्हेरी की गुफा के श० सं० ७९९ (ई० सं० ८७७=वि० सं० ९३४) के लेख[३] से प्रकट होता है कि गोविंद तृतीय के पुत्र अमोघवर्ष प्रथम ने अपने सामंत शिलाहारवंशी कपर्दी द्वितीय से प्रसन्न हो कर उसे कोंकण[४] का राज्य दिया था।

कोन्नूर के श० सं० ७८२ (ई० स० ८६०=वि० सं० ९१७) के ताम्रपत्र[५] से ज्ञात होता है कि उस समय अमोघवर्ष प्रथम का सामंत बंकेटा बानवासी (माईसोर के शिमोग प्रांत) का शासक था और उस ने अपने स्वामी की इच्छानुसार गंगवाडी पर सफल आक्रमण किया था।

श० सं० ७९३ (ई० स० ८७१=वि० सं० ९२८) के संजान के ताम्रपत्र से प्रकट होता है कि अमोघवर्ष प्रथम की सेना की चढ़ाई से केरल (मालाबार तट) चोल (कोरोमंडल तट), पांड्य (कोरोमंडल तट के दक्षिण-पश्चिमी प्रदेश) के कलिंग (समुद्र-तटवर्ती महानदी और गोदावरी के बीच के प्रदेश) और मगध (बिहार) के राजा तथा कांची (कांजीवरम्) का पल्लव नरेश भयभीत हो जाते थे।

सीरूर के श० सं० ७८८ (ई० स० ८६६=वि० सं० ९२३) के ताम्रपत्र[६] में

---

[१] 'एपिग्राफ़िया इंडिका', भा० ६, पृ० १०२
[२] 'वही', भा० ६, पृ० २४२
[३] 'इंडियन ऐंटिक्वेरी', भा० १३, पृ० १३५
[४] इस की राजधानी ताना थी। इस से पश्चिमी घाट और पश्चिमी समुद्र के बीच के लंबे भूभाग का तात्पर्य है।
[५] 'एपिग्राफ़िया इंडिका', भा० ६, पृ० २५
[६] 'वही', भा० ७, पृ० २०३

लिखा है कि अंग (भागलपुर प्रदेश, जिस में मुंघेर भी शामिल था), बंग (बंगाल), मालवा (मध्य भारत) और वेंगी (कृष्णा और गोदावरी के बीच अथवा दक्षिण हैदराबाद राज्य के दक्षिण-पूर्वी प्रदेश) के राजा भी अमोघवर्ष की महत्ता स्वीकार करते थे।

संभव है इस कथन में कुछ अत्युक्ति हो। राष्ट्रकूटों की प्रशस्तियों में लिखा है कि अमोघवर्ष प्रथम के पुत्र कृष्णराज द्वितीय ने आंध्र (गोदावरी और कृष्णा के बीच के प्रदेश जिस में कृष्णा का प्रांत भी सम्मिलित था), बंग, कलिंग, मगध, गुर्जर और गौड को जीता और लाट प्रदेश को अपने राज्य में मिला लिया। इस ने गंग, नोलंब और पूर्वी चालुक्य नरेशों से भी युद्ध किया था।

इसी राष्ट्रकूट नरेश ने अपनी राजधानी नासिक (या लटलूर) से हटा कर मलखेड में, जो शोलापुर से ६० मील दक्षिण-पूर्व में है, स्थापित की थी।

बगुआ से मिले श० सं० ८३६ (ई० स० ६१५=वि० सं० ९७२) के ताम्र-पत्र[1] से ज्ञात होता है कि कृष्णराज द्वितीय के पौत्र इंद्र तृतीय ने मान्यखेट से कुरुंदक में जाकर अपना राज्याभिषेकोत्सव किया था। यह स्थान कृष्णा और पंचगंगा नदियों के संगम पर था। इस ने कन्नौज पर चढ़ाई कर उसे भी उजाड़ा था।

करहाड से मिले श० सं० ८८० (ई० स० ९५८=वि० सं० १०१५) के ताम्र-पत्र[2] से ज्ञात होता है कि इंद्रराज तृतीय के भतीजे कृष्णराज तृतीय ने अपनी दक्षिण की विजय के समय चोलदेश (कोरोमंडल तट, जिस की राजधानी उस समय शायद तंजोर थी) को उजाड़ कर पांड्य (कोरोमंडल तट के दक्षिण-पश्चिमी भाग) और चेर (कोइंब-टूर) को विजय किया और सिंहल नरेश को अधीन कर रामेश्वर में विजय-स्तंभ स्थापित किया।

चोलदेश (कोरोमंडल तट) को उजाड़ने का समय ई० स० ९४७ (वि० सं० १००४) अनुमान किया जाता है।

इस ने कलचुरी (हैहयवंशी) सहस्रार्जुन को भी जीता था।

सोमदेव-रचित 'यशस्तिलकचंपू' में भी, जो श० सं० ८८१ (ई० स० ९५९

---

[1] **'एपिग्राफ़िया इंडिका', भा० ६, पृ० २६**

[2] **वही, भा० ४, पृ० २८१**

-वि० सं० १०१६) में समाप्त हुआ था, इस कृष्ण को चेर, चोल, पांड्य और सिंहल का जीतने वाला लिखा है।

इन के अलावा इस ने अपने बहनोई भूतुग द्वितीय को, जिस को इस ने पहले पश्चिमी गंगवंशी नरेश राचमल्ल प्रथम की जगह गंगवाडी का राजा बनाया था, वानवासी का प्रांत दिया था। इस ने पल्लव नरेश अन्निग को हराया और कांची के राजा दंतिग को मारा।

यह राजा बड़ा प्रतापी था और इस का राज्य गंगा से भी आगे बढ़ गया था।

उदयपुर (ग्वालियर) की परमार-नरेश उदयादित्य की प्रशस्ति[1] से प्रकट होता है कि इसी कृष्ण तृतीय के छोटे भाई खोट्टिगदेव के समय मालवा के परमार राजा सीयक द्वितीय ने मान्यखेट (मलखेड) पर चढ़ाई की थी। धनपाल कवि की बनाई 'पाइय लच्छी नाममाला' से भी प्रकट होता है कि ई० स० ९७२ (वि० सं० १०२९) में मालवा के राजा ने मान्यखेट को लूटा था।

इसी समय से राष्ट्रकूट राज्य का पतन प्रारंभ हुआ और खोट्टिगदेव के भतीजे कर्कराज द्वितीय के समय सोलंकी तैलप द्वितीय ने राष्ट्रकूट राज्य को नष्ट कर ई० स० ९७३ (वि० सं० १०३०) के बाद कल्याणी में फिर से अपने वंश के राज्य की स्थापना की।

खारे पाटन के ताम्रपत्र[2] में लिखा है :—

कक्कलस्तस्य भ्रातृव्यो भुवो भर्ता जनप्रियः।
आसीत् प्रचण्डधामेव प्रतापजितशात्रवः॥
समरे तं विनिर्जित्य तैलपोऽभून्महीपतिः।

अर्थात्—खोट्टिगदेव के भतीजे कर्कराज (द्वितीय) को हरा कर तैलप (द्वितीय) राजा बन बैठा।

'विक्रमांकदेवचरित'[3] से भी इस बात की पुष्टि होती है। उस में लिखा है :—

---

[1] 'जर्नल बंगाल एशियाटिक सोसाइटी', भा० ९, पृ० ५४९
[2] 'एपिग्राफ़िया इंडिका', भा० ३, पृ० २९७
[3] सर्ग १

विश्वम्भराकण्टकराष्ट्रकूट-
समूलनिर्मूलनकोविदस्य ।
सुखेन यस्यान्तिकमाजगाम
चालुक्यचन्द्रस्य नरेन्द्रलक्ष्मीः ॥ ६९॥

अर्थात्—राजलक्ष्मी जगत के कंटक-रूप राष्ट्रकूटों को नष्ट करने वाले चालुक्य नरेश तैलप (द्वितीय) के पास चली गई ।

यहां पर राष्ट्रकूटों के लिए प्रयुक्त किए विशेषण से प्रकट होता है कि वे बड़े ही बलवान नरेश थे और अन्य नरेश सदा ही उन के आक्रमण से भयभीत रहते थे ।

इस कथन की पुष्टि उन के समकालीन अरब लेखकों सुलैमान, अबू ज़ईद हसन, इब्नखुर्दादबा, अल्मसूदी, अल्इस्तख़री, और इब्न हौकल—के लेखों से भी होती है । ये लोग मलखेड के राष्ट्रकूट नरेशों को मुख्य और सब से अधिक प्रतापी समझते थे और उन के लेखानुसार उस समय के भारतवर्ष भर के राजा, जिन का उन नरेशों से काम पड़ा था, उन की महत्ता स्वीकार करते थे ।

इस के बाद केवल, एक राष्ट्रकूट नरेश इंद्रराज चतुर्थ का उल्लेख और मिलता है । इस की मृत्यु ई० स० ९८२ (वि० सं० १०३९) में हुई थी ।[1]

ऊपर दिए राष्ट्रकूट नरेशों के संक्षिप्त इतिहास से प्रकट होता है कि राष्ट्रकूट दंतिवर्मा (दंतिदुर्ग) द्वितीय ने ई० स० ७४८ और ७५३ (वि० सं० ८०५ और ८१०) के बीच सोलंकी कीर्तिवर्मा द्वितीय को हरा कर दक्षिण में जिस राष्ट्रकूट राज्य की स्थापना की थी, वह क़रीब २२५ वर्ष तक बना रहा और आधुनिक निज़ाम राज्य (दक्षिण हैदराबाद) के साथ-साथ सारा ही दक्षिणी भारत, (जिस में त्रिवेंद्रम्, कोचीन आदि भी सम्मिलित थे) इन के अधिकार अथवा प्रभाव में आ गया था ।

इस लेख को समाप्त करते हुए यह प्रकट करना अनुचित न होगा कि इस समय भी निज़ाम राज्य के औरंगाबाद प्रांत का जगवंतपुरा नामक गाँव जोधपुर के राठोड़ नरेशों के अधिकार में है। जिस समय बादशाह औरंगज़ेब ने जोधपुर नरेश महाराजा

---

[1] 'एपिग्राफ़िया इंडिका', भा० ४, पृ० १८२

जसवंतसिंह जी प्रथम को प्रसिद्ध महरठा वीर शिवाजी को दबाने के लिए भेजा था, उस समय, ई० स० १६६७ के क़रीब उन्हों ने इसे बसाया था। इस का रक़बा १४५९ बीघों के क़रीब है।

'यामा'—उस का दार्शनिक आधार और काव्य

[लेखक—श्रीयुत नंददुलारे वाजपेयी, एम्० ए०]

'यामा' श्री महादेवी वर्मा जी का संपूर्ण काव्यसंग्रह है। इस के चार यामों में उन की चारो स्फुट रचनापुस्तकें संग्रहीत हैं। इन के अतिरिक्त महादेवी जी की कोई अन्य रचना शायद प्रकाश में नही आई है। अवश्य यहां मेरा मतलब केवल उन की काव्य-रचनाओं से ही है। ये सब की सब मुक्तक पद्य और गीतरूप में हैं, जिन की संख्या दो सौ से कुछ कम है। साथ ही 'यामा' में महादेवी जी की लिखी भूमिकाएं और उन के बनाए कितने ही चित्र है जिन से उन के काव्य पर आवश्यक प्रकाश पड़ता है।

अच्छा होता यदि हम बिना कोई भूमिका बाँधे ही 'यामा' का अध्ययन (यहां अध्ययन से मेरा मतलब उस की विशेषताओं के पर्यवेक्षण से है) आरंभ कर सकते, किंतु ऐसा करने में दो मुख्य कठिनाइयां दीखती हैं। एक तो 'यामा' केवल एक संग्रहपुस्तक ही नहीं है, वह महादेवी जी का पूरा काव्यव्यक्तित्व ही है। इस व्यक्तित्व को हम नवीन काव्यधारा से एकदम अलग रख कर नहीं देख सकते। साम्य और वैषम्य के वे सूत्र हमें संक्षेप में देखने होंगे जिन के द्वारा महादेवी जी सामयिक काव्यजगत से बँधी हुई हैं। उन के लिए एक छोटी-सी, उपयुक्त, सेटिंग हमें तैयार करनी होगी।

दूसरी कठिनाई दूसरे ढंग की है। इन दिनों वादों का प्रवाह हमारी हिंदी में ज़ोरों से आया हुआ है। जान पड़ता है हमारी मानसिक सूर्यकिरणें खूब क्रियाशील हो रही हैं। यह शुभ लक्षण है क्योंकि इस से साहित्यजगत की उर्वरता बढ़ने की ही संभावना है। किंतु यदि यह वादों की बाढ़, मज़बूत बाँधों में बाँध कर, उपयुक्त प्रणालियों से नही बहाई जाती तो हमारा अनिष्ट भी कर सकती है। विशेष कर कविता की फ़स्ल जो अधिक आँधी पानी सहन नहीं करती—कोमल प्रकृति की और क़ीमती होती है—वह तो इस बाढ़ में चौपट ही हो सकती है। 'यामा' की और विशेष कर महादेवी जी के काव्य की विवेचना करते हुए कई बार वादों का ऐसा अनुचित प्रयोग किया गया है जिसे देख कर हमें पहले से ही

संतर्क हो जाना पड़ता है। काव्य में और काव्य-विवेचना में किसी भी वाद का क्या स्थान है, इसे बिना स्पष्ट किए हम 'यामा' के साथ आगे नहीं बढ़ सकेंगे।

हिंदी में महादेवी जी का प्रवेश छायावाद के पूर्ण ऐश्वर्यकाल में हुआ था, किंतु आरंभ से ही उन की रचनाएं छायावाद की मुख्य विशेषताओं से प्रायः एकदम रिक्त थीं। मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किंतु व्यक्त सौंदर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या होनी चाहिए। इस व्याख्या में आए 'सूक्ष्म' और 'व्यक्त' इन अर्थगर्भ शब्दों को हम अच्छी तरह समझ लें। यदि वह सौंदर्य सूक्ष्म नहीं है, साकार होकर स्वतंत्र क्रियाशील है और किसी कथा या आख्यायिका का विषय बन गया है तो हम उसे छायावाद के अंतर्गत नहीं ले सकेंगे। छायावाद के इस सीमांत पर हम स्काट और बाइरन जैसे अंग्रेज़ी के कवियों को पाते हैं जिन्हों ने विमोहक और तल्लीनताकारी नारीसौंदर्य को लंबी कथाओं के सूत्र में ताना है, और प्रकृति की अनिर्वचनीय सुषमा को पृष्ठभूमि बनाकर चित्रित किया है। वे प्रकृत छायावादी नहीं कहे जा सकते। और छायावाद के दूसरे सीमांत पर हम वर्ड्सवर्थ को देखते हैं जिस की प्रकृति के प्रति इतनी सार्वत्रिक प्रीति है कि वह व्यक्त सौंदर्य के प्रति निस्पंद, बेपहचान, निगूढ़-सी मालूम देती है; सब कुछ तो सुंदर ही है ऐसी भावमयता में मग्न-सी हो गई है। वह भी प्रकृत छाया-वादी नहीं है। प्रकृत छायावादी तो अंग्रेज़ी में प्राकृतिक सूक्ष्म सौंदर्य भावना का एकमात्र अधिष्ठाता शेली ही हुआ है जो एक ओर कुछ समीक्षकों द्वारा (जो सूक्ष्म के विरोधी हैं) हवाई और आसमानी बताया गया है किंतु दूसरी ओर जिसे नास्तिक (अव्यक्त सत्ता का विरोधी) कहे जाने का श्रेय भी प्राप्त है। आशा है छायावाद की इस मध्यवर्तिनी भूमि पर पाठक की दृष्टि गई होगी।

मुझे आशा नहीं है कि छायावाद की मेरी यह व्याख्या निकट भविष्य में सर्वमान्य हो सकेगी, किंतु इस की दार्शनिक और काव्यात्मक शैली इतना सुस्पष्ट व्यक्तित्व रखती है और यह अन्य निकटवर्ती वादों से इतना पृथक् अस्तित्व बनाए हुए है कि कोई कारण नहीं कि यह आखिरकार एक अलग वाद के रूप में स्वीकार न कर लिया जाय। संप्रति हिंदी के अधिकांश समीक्षक छायावाद और रहस्यवाद के बीच कोई स्पष्ट विभाजन नहीं कर रहे। नवीन काव्ययुग के निर्माता स्वर्गीय प्रसाद जी का इस विषय का विवरण विशेष ध्यान देने योग्य है। वर्तमान रहस्यवाद के संबंध में वे लिखते हैं—"विश्वसुंदरी प्रकृति

में चेतनता का आरोप संस्कृत वाङ्मय में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद सौंदर्यलहरी के 'शरीरं त्वं शम्भो' का अनुकरण मात्र है। वर्तमान हिंदी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौंदर्यमयी व्यंजना होने लगी है, वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इस में अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा अहं का इदम् से समन्वय करने का सुंदर प्रयत्न है।"

अब, विश्वसुंदरी प्रकृति में चेतनता की भावना सार्वत्रिक भी हो सकती है और एक-एक सुंदर वस्तुगत भी हो सकती है। शंभु अथवा आत्मा का शरीर सारा सृष्टिप्रसार ही है, इस दृष्टि से व्यक्त वस्तु मात्र में सौंदर्य की एक ही धारा प्रवाहित है। प्रकृति में कुछ भी असुंदर नहीं, यहां व्यष्टि-भेद नहीं है। पुनः प्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा अहं (आत्मा) का इदम् (प्रकृति) से समन्वय करने का प्रयत्न व्यष्टि सौंदर्य को स्वीकार करता है। इस प्रकार प्रसाद जी ने व्यष्टि सौंदर्य-दृष्टि (छायावाद) और समष्टि सौंदर्य-दृष्टि (रहस्यवाद) में कोई स्पष्ट अंतर नहीं किया। किंतु मैं इस अंतर का विशेष रूप से आग्रह करता हूं क्योंकि इस ने दो विशेष पृथक्-पृथक् काव्यशैलियों की सृष्टि की है। व्यष्टि सौंदर्यबोध एक सार्वजनीन अनुभूति है। यह सहज ही हृदयस्पर्शी है, यह सक्रिय और स्वावलंबिनी काव्यचेतना की जन्मदातृ है। इसे मैं प्राकृतिक अध्यात्म कह सकता हूं। समष्टि सौंदर्यबोध उच्चतर अनुभूति है। फिर भी प्रत्येक क्षण रूढ़िबद्ध होने की संभावना रखती है। इस में इंद्रियानुभूति की सहज प्रगति या विकास के लिए स्थान नहीं है। यह क़दम-क़दम पर धर्म के कटघरे में बंद होने की अभिरुचि रखती है।

काव्य में यह रहस्यवाद बड़े-बड़े दुर्दिन देख चुका है। अपने अतिप्राकृत स्वरूप के कारण पहले तो इस की अभिव्यक्ति ही अतिशय दुर्गम और दुरूह है, किंतु कुछ सच्चे रहस्यवादियों ने कुछ अनोखे रास्ते निकाले भी तो उन पर चलने वाले बहुत से झूठे रहस्य वादी नक़लनवीस निकल आए। उन्हों ने काव्य की पूरी-पूरी अधोगति कर डाली। सारी प्रकृति को समाहित करने वाली निर्गुण प्रेम की विशुद्ध व्यंजना विषयवासना का नंगा नाच बन रह गई। उपनिषदों का ऊर्जस्वित आत्मवाद संपूर्ण कर्तव्यों से हाथ समेटने का बहाना सिद्ध हुआ। योग और तंत्र शास्त्रों की प्रकृति को आत्मा में लय करने की सारी प्रक्रिया जो पूर्ण मनुष्यत्व का साधन थी अनहोनी सिद्धियों और तामसिक उपचारों का दूसरा नाम बन गई। शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आत्मिक सबलता का प्रचारक रहस्यवाद

'ना घर मेरा ना घर तेरा चिड़िया रैन बसेरा' गा कर भीख माँगने वालों का ब्रह्मास्त्र बन गया। एक ओर तो यह नक़ली रहस्यवाद की प्रगति हुई और दूसरी ओर रूढ़िबद्ध हो कर रहस्यकाव्य विनय के पदों, भक्तिगीतों, धार्मिक आख्यानों आदि में परिणत हो गया। अवश्य ही ईरान और फ़ारस के कुछ सूफ़ी कवियों और भारत के कुछ वैष्णवों ने रहस्यकाव्य की वास्तविक मर्यादा स्थिर रक्खी किंतु उन की संख्या उँगलियों पर गिने जाने के योग्य है। यह इतनी भी है यह कम गौरव की बात नहीं क्योंकि हम कह चुके हैं रहस्यानुभूति एक अति विरल वस्तु है और उस की काव्य-प्रक्रिया अतिशय दुरूह और दुःसाध्य है।

रहस्यकाव्य की मुख्य परंपराओं में हम नीचे लिखे भेदों की परिगणना कर सकते हैं। यदि हम प्रकृति की ओर से आत्मसत्ता की ओर आगे बढ़ें तो इस गणना का क्रम इस प्रकार होगा—विश्वसुंदरी प्रकृति में चेतनता का आरोप, यह पहली सीढ़ी है। इसी के अंतर्गत सुख और दुःख का सामंजस्य जिसे प्रसाद जी ने समरसता कहा है, आ जाता है। यही प्रसाद जी की 'अपरोक्ष अनुभूति' भी है। महादेवी जी ने इसे छायावाद की सीमा में मान कर एक दूसरे ढंग से कहा है—'छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओसबिंदुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है।' वास्तव में यह रहस्यवाद का पहला और व्यापक उपक्रम है जिस में भावना-बल से 'एकोऽहं बहुस्याम' के 'बहुस्याम' को 'एकोऽहं' की ओर प्रतिवर्तित करते हैं। सांसारिक सुख दुःख, राग-विराग आदि जितने भी द्वंद्व हैं सब को एक ही चेतन से संबद्ध करने की यह प्रणाली रहस्यवाद के प्रथम सोपान पर मिलती है। इस सोपान पर हम महादेवी जी को नहीं पाते। यद्यपि अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों के विकास के सिलसिले में उन्हों ने लिखा है कि 'पहले बाहर खिलने वाले फूल को देख कर मेरे रोम-रोम में ऐसा पुलक दौड़ जाता था मानो वह मेरे हृदय में ही खिला हो, परंतु उस के अपने से भिन्न प्रत्यक्ष अनुभव में एक अव्यक्त वेदना भी थी; फिर यह सुख-दुःख मिश्रित अनुभूति हो चिंतन का विषय बनने लगी और अंत में अब मेरे मन ने न जाने कैसे उस भीतर-बाहर में एक सामंजस्य सा ढूँढ़ लिया है, जिस ने सुख-दुःख को इस प्रकार बुन दिया कि एक के प्रत्यक्ष अनुभव के साथ दूसरे का अप्रत्यक्ष आभास मिलता रहता है, किंतु महादेवी जी के काव्य में प्राकृतिक सुख-दुःख का अथवा उस के सामंजस्य का कोई उल्लेख नहीं

मिलता। प्रकृति के किसी भी दृश्य या मानव मनोभाव का आकलन उन की रचनाओं में नहीं के बराबर है। दृश्य प्रकृति में हिमालय पर ही उन की एक रचना 'यामा' में देखने को मिली किंतु वहां भी अंतरमुख भावना ही उभर पाई है। प्रकृति के रूपों, दृश्यों और भावों को महादेवी जी ने चेतना का प्रेरक न रख कर उन सब को एक-एक चेतन व्यक्तित्व सा दे दिया है। उन की पहली ही रचना में 'निशा की धो देता राकेश, चाँदनी में जब अलकें खोल, कली से कहता था मधुमास, बता दो मधुमदिरा का मोल', यद्यपि व्यक्त सौंदर्य की भी झलक लिए हुए है किंतु वहां वह गौण है और महादेवी जी की रचनाओं में उत्तरोत्तर गौण होता गया है। आगे चल कर सारी प्रकृति और उस के समस्त उपकरण एक निखिल वेदना की अनेक-रूप अभिव्यक्ति के लिए भाँति-भाँति की दौड़ लगाते हैं, जिसे हम इसी निबंध में देखेंगे। प्रकृति की परिपूर्ण छवि की आत्मरूप प्रतिष्ठा हमें वर्ड्सवर्थ में ही मिलती है। कुछ लोग हिंदी में गुरुभक्तसिंह को वर्ड्सवर्थ का स्थानापन्न मानते हैं किंतु प्रकृति की आध्यात्मिकता की अनुभूति गुरुभक्तसिंह में हमें विशेष नहीं मिलती। एक-एक डाली, एक-एक लता, एक-एक पत्ती अथवा उद्भिज्ज को चेतन क्रियाशील उल्लेख कर देने से ही उन की आध्यात्मिकता प्रकाश में नहीं आती। यह चेतन व्यक्तित्व देने (या 'पर्सानिफ़ाई' करने) की प्रकृति ही ह्रासोन्मुख होकर 'चिड़ियों का विवाह' नामक ग्रामीण गीत में परिणत हो गई है जिस में सब चिड़ियों को विवाह-संबंधी एक-एक काम सिपुर्द किया गया है। समरसता (सुख-दुःख का समीकरण) और अपरोक्ष आध्यात्मिक अनुभूति का हिंदी में सब से सुंदर उदाहरण प्रसाद जी का 'आँसू' काव्य है।

रहस्यवाद के इस सोपान से ऊपर उठने पर हम प्राकृत या अपरोक्ष अनुभूति को छोड़कर परोक्ष अनुभूति के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। महादेवी जी के काव्य की यही भूमि है। परोक्ष अनुभूति के भी कितने ही भेदोपभेद हैं जिन्हें दार्शनिक दृष्टि में तीन मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है। सगुण साकार, सगुण निराकार और निर्गुण निराकार। एक दिव्य व्यक्तित्व पर, वह प्रेममय हो, करुणामय हो अथवा शक्तिमय या आनंदमय, आस्था रखने वाले सगुण साकार के अनुयायी होते हैं। महादेवी जी की अधिकांश रचना का यही दार्शनिक आधार दीखता है। वे लिखती भी हैं—'मानवीय संबंधों में जब तक अनुराग-जनित आत्मविसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे

सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता। इसी से इस (प्राकृतिक) अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उस के निकट आत्मनिवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण रहस्यवाद का नाम दिया गया।' मधुरतम व्यक्तित्व की यह नियोजना महादेवी जी के काव्य में मौजूद है किंतु उस के निकट आत्मनिवेदन करने वाले बहुत से भक्त कवि हो गए हैं जिन का धार्मिक दृष्टि से पर्याप्त आदर है किंतु जिन्हें रहस्यकाव्य का स्रष्टा नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट है कि महादेवी जी ने अपने इस वक्तव्य में आवश्यक सतर्कता से काम नहीं लिया। यही नहीं, उन्हों ने रूढ़िबद्ध धार्मिक काव्य और वास्तविक रहस्य काव्य का स्पष्ट अंतर सदैव अपने सामने नहीं रक्खा है जिस से उन की रचनाओं में स्थान-स्थान पर प्रकृत कविता की जगह रूढ़ि के चिह्न मिलते हैं।

सगुण साकार दार्शनिकता का सब से बड़ा खतरा यही है कि वह निःसीम सौंदर्य-सत्ता का रहस्य खो कर सीमारेखाओं में आ जाता और वास्तविक परोक्ष अनुभूति संपन्न काव्य का विषय न रह कर, धर्म और उपासना का आधार बन जाता है। सगुण दार्शनिकों और कवियों ने इस कठिनाई को खूब अच्छी तरह समझा था। इसी लिए उन्हों ने बचत के कई उपाय निकाले थे। प्रथम, उन्हों ने उस मधुरतम व्यक्तित्व को अलौकिक सत्ता संपन्न अंकित करने की चेष्टा की। इस के लिए दार्शनिकों को दिव्य सत्ता संबंधी एक नई दार्शनिक प्रक्रिया ही चलानी पड़ी जिस में उस दिव्य व्यक्तित्व के सभी उपकरणों, उस के नाम, रूप, लीला और धाम को, तथा उस से संपर्कित वस्तुव्यापार को बार-बार अप्राकृत घोषित करना पड़ा। किंतु काव्य अथवा कलाओं का काम केवल घोषणा से नहीं चलता। उन्हें ऐसी प्रतीक योजना का सहारा लेना पड़ा जिस से वस्तुतः अलौकिक का आभास मिल सके। कवियों को उस मधुरतम चरित्र के निर्माण में दिव्य सौंदर्यसृष्टि की अशेष कला समाप्त कर देने पर भी सीमा के अंदर संतोष नहीं हुआ। उन्हें पद-पद पर उस व्यक्तित्व की महिमा का अलग से निर्देश करते रहना पड़ा, जिस पद्धति को हम 'श्रीमद्भागवत' और 'रामचरितमानस' में भी देखते हैं। फिर भी ससीमता और असीमता, साकारता और रहस्य में जो मौलिक अंतर है उस की पूर्ति नहीं हुई। फलतः सीता-राम और राधा-कृष्ण की पूर्ण परोक्ष अनुभूति काव्य के अंदर नहीं

हो सकी। तब रामायत कवियों ने रहस्य का पल्ला छोड़ कर चरित्र की व्यक्त महत्ता के आग्रह द्वारा महाकाव्य की सृष्टि कर डाली और कृष्णायत कवियों ने प्रेम और सौंदर्य की अशेष तरंगिणी बहा कर राधाकृष्ण की जो चरितावली निर्माण की वह रोमांचक भावों से भर गई। किंतु रहस्यवाद के निकट होते हुए भी वह रहस्यकाव्य नहीं कहा जा सकता। अवश्य इस चरित्र के दो प्रधान प्रसंगों—रास और भ्रमरगीत में हम रहस्य-काव्य के सारे लक्षण पाते हैं। रहस्य के क्षेत्र में वैष्णव कवियों की वास्तविक सफलता इन्हीं दो प्रसंगों को लेकर है।

जब उस मधुरतम व्यक्तित्व के प्रति आत्मनिवेदन का क्रम आरंभ हुआ तब तो काव्य स्पष्टतः धार्मिक घेरे में आ गया। यहां मेरा मतलब उन विनयगीतों से है जिन का कृष्णकाव्य में भी प्राचुर्य है और जिन से तुलसीदास जी की 'विनयपत्रिका' भरी हुई है। इस प्रकार के काव्य में प्रकृत रहस्यात्मक अनुभूतियों की टोह लगाना व्यर्थ श्रम है मूर्त प्रतीकों में अलौकिक अमूर्त तत्त्व का साक्षात्कार कराने वाली समुन्नत रहस्य-कला उस में हम नहीं पाते। यदि हम में पर्याप्त काव्यभावना का विकास होता तो उन्हें रहस्य-काव्य कहना हम ने कभी का छोड़ दिया होता। धार्मिक काव्य की दृष्टि से उन का आदर सदैव रहेगा, किंतु प्रकृत काव्य की दृष्टि से नहीं।

मेरा यह आशय नहीं है कि महादेवी जी ने 'मधुरतम व्यक्तित्व' की सृष्टि कर के रहस्य की इतिश्री कर दी है और न मैं यही कह रहा हूं कि उस के प्रति उन का आत्मनिवेदन भी धार्मिक कवियों के ही ढंग का है। प्रचुर कल्पनागुण के कारण महादेवी जी ने रहस्यात्मकता कभी खोई नहीं किंतु उन की रचनाओं में भक्तों और निर्गुणियों की रूढ़ि भी कम नहीं मिलती। इसे हम आगे चल कर देखेंगे। इस का मुख्य कारण मधुरतम व्यक्तित्व की नियोजना और आत्मनिवेदन की परंपरागत प्रेरणा ही है। किंतु महादेवी जी के पास फिर से लौटने के पहले हम रहस्यवाद की शेष दोनों श्रेणियों को भी थोड़े में देख लें।

सगुण निराकार शैली सूफ़ियों की है। सच पूछिए तो परोक्ष रहस्यकाव्य का सच्चा स्वरूप हमें इन्हीं में मिलता है। प्राकृतिक प्रेम-प्रतीकों के भीतर परोक्ष प्रेम-सत्ता का इतना प्रगाढ़ धाराबद्ध प्रवेश और पुनः-पुनः उस अव्यक्त का नैसर्गिक आवाहन और आलेख हम अन्यत्र कहां पाते हैं? अवश्य, जहां यह प्रेम कथानक का रूप धारण करता

हैं; वहां वही क़ठिनाई सूफ़ियों के सामने भी आती है जो वैष्णव साकारोपासकों के सामने आई है। यहां सूफ़ियों ने कथा को सैद्धांतिक दृष्टि से रूपक मात्र घोषित किया है किंतु इस से समस्या सुलभ नहीं पाई। फलतः सूफ़ी आख्यानक काव्यों में रूपक की चिंता न कर, सारी वर्णना के भीतर अति मोहक प्राकृतिक सौंदर्य तल्लीनता, प्रेम के प्रति परिपूर्ण आत्मविसर्जन और फिर भी उस की दुष्प्राप्ति का संकट दिखा कर अव्यक्त प्रेम-रहस्य का इंगित किया गया है। इन कथानकों को रहस्यकाव्य कहने में फिर भी संकोच रह ही जाता है। यह स्पष्ट ही इस लिए कि कथा के सूत्र साद्यंत रहस्य की रक्षा नहीं कर सकते और यदि उन्हें रूपक मान लें तो सहज काव्य-सौंदर्य की हानि हो जाती है। इसी लिए कथानकों वाले जायसी आदि कवियों को रूपक के स्वरूप की चिंता न कर सारे काव्य को, चाहे वह मायारूपिणी नागमती अथवा विद्यारूपिणी पद्मावती का प्रसंग हो, आत्मविसर्जनकारी अलौकिक प्रेम-पीर से आप्लुत कर देना पड़ा है। फिर भी कथा का चक्र स्थान-स्थान पर बाधक बन ही गया है।

कुछ समीक्षक इसी निराकार प्रेमव्यंजना के भीतर, व्रज में विहरण करने वाली, गिरिधर मूर्ति की उपासिका, चिरंतन प्रेम और चिर विरहमयी मीरा के काव्य को भी शुमार करते हैं किंतु ऐसा करने का हमें कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं दीखता। जिन्हों ने सूरदास जी के 'गोपीविलाप' और 'भ्रमरगीत' का अध्ययन किया है उन्हें मीरा को किसी निराकार कृष्ण की उपासिका बना देने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होगी। अवश्य मीरा एक नारी थीं और गिरिधर के प्रति उन का प्रियतम भाव था किंतु ऐसा ही भाव गोपियों का भी था जो निराकार की उपासिका नहीं थीं। स्वप्न में प्रियतम के दर्शन आदि के उल्लेख गोपियों के विरह-वर्णन में भी मिलते हैं और मीरा में भी। महादेवी जी और मीरा दार्शनिक दृष्टि से एक ही परंपरा की अनुयायिनी प्रतीत होती हैं।

निर्गुण निराकार ही आध्यात्मिक दार्शनिकता की चरम कोटि है। एक अखंड, अव्यय चेतन तत्व जिस में त्रिकाल में भी कोई भेद किसी प्रकार संभव नहीं, जिस चिर स्थिर आत्मतत्व के अविचल गौरव में संसार की उच्चतम अनुभूतियां भी मरीचिका सी प्रतीत होती हैं, वह परिपूर्ण आह्लाद जिस में स्मित-तरंगों के लिए कोई अवकाश नहीं, रहस्यवाद का सर्वोच्च निरूप्य है। इस के ओजस्वी निरूपण उपनिषदों के जैसे और क़हीं नहीं मिलते। आगे चल कर इस की महामहिमा का क्षय होने लगा, इस में विरह के कम-

ज़ोर अंग जुड़ने लगे और क्रमशः यह वैराग्यमूलक करुण साधनाओं का अधिष्ठान बना दिया गया। काव्य में जब तक इस का केवल सांकेतिक स्वरूप रहा तब तक यह अधिक विकृत नहीं हुआ था (उदाहरणार्थ आरंभिक बौद्ध साहित्य में) किंतु जब इस में सांप्रदायिक शब्दावली प्रवेश करने लगी और इडा-पिंगला आदि की चर्चा बढ़ गई तब काव्य-दृष्टि से इस का ह्रास होने लगा। कबीर की चमत्कार-पूर्ण प्रतिभा और अंतर्दृष्टि के फलस्वरूप एक बार फिर यह अक्षर तत्व प्रकाश में आया किंतु इस बार यह उतना ओजस्वी और महिमामय नहीं था। कारण इस बार प्रतिस्पर्द्धिनी माया भी दलबल सहित उपस्थित थी। कबीर से आगे बढ़ने पर माया रानी की छाया भी काव्य में ज़ोर पकड़ने लगी और क्रमशः अक्षर की सत्ता असंख्य क्षरों की अंतिम सीमा पर जा पहुँची। जहां आरंभ में भेदों की अस्वीकृति इष्ट थी वहां अंत में भेदों का प्राबल्य ही प्रमुख बन गया। ऐसी अवस्था में निश्चल अध्यात्म सत्ता अपने पूर्व गौरव में कैसे स्थिर रहती ?

(२)

यहां मेरी पहली मंज़िल समाप्त होती है। ऊपर मैं ने महादेवी जी के काव्य की दार्शनिक स्थिति को स्पष्ट करते हुए आध्यात्मिक वादों का खाका कुछ विस्तार के साथ इस लिए खींचा है कि उस से हमारी वह दूसरी कठिनाई भी सुलझ जाय जिस का ज़िक्र मैं ने इस निबंध के आरंभ में किया है। वह है काव्यविवेचन में वादों संबंधी कठिनाई। वाद वास्तव में जीवन-संबंधिनी धारणाओं और प्रवृत्तियों के बौद्धिक निरूपण हैं। प्रत्येक वाद की एक सीमा-रेखा होती है, यद्यपि उस विशेष वाद के अंतर्गत समय-समय पर ऐसी जीवन-दृष्टियां भी संघटित हो सकती हैं जिन से उस की उन्नति अथवा ह्रास के संयोग इकट्ठे हो जाएं। किसी भी वाद की कुछ शक्तिमत्ता और कुछ दुर्बलता होगी ही क्योंकि प्रत्येक वाद अपनी सीमा-रेखा में बद्ध है। प्रत्येक वाद में ये शक्तिमत्ता और दुर्बलता के परमाणु समय-समय पर घट-बढ़ सकते हैं। किसी भी वाद के साथ न्याय करने के लिए उस की पारिभाषिक शब्दावली का उस के अभिप्रेत अर्थ में और उस युग की ऐतिहासिक प्रगति को ध्यान में रख कर, अध्ययन करना अत्यावश्यक है। यही बात किसी विशेष वाद की उन्नति या ह्रास के लक्षणों को जानने के लिए भी

आवश्यक है, अर्थात् इस के लिए भी हमें उस वाद की बदलती हुई परिभाषाओं, शब्दावलियों और उन के अर्थसंकेतों को अच्छी तरह समझना होगा।

सारे आध्यात्मिक वादों जिन में छायावाद और रहस्यवाद के वे सब भेद सम्मिलित हैं जिन का मैं ने ऊपर उल्लेख किया, की दिशा-वैविध्य में एकता की खोज, प्राकृतिक और मानसिक मलिनताओं का प्रक्षालन, नैतिक बल और अडिग मनःस्थिति की सृष्टि करने की है। इन्हें सार्वजनीन लक्ष्य कहा जा सकता है, इन में देश, काल और व्यक्त द्रव्य के भेदोपभेदों की विशेष मीमांसा नहीं है। आप पूछ सकते हैं कि इस वाद से हमें क्या लाभ जो यह हम में विद्रोह के भाव, राष्ट्रीयता के विचार नहीं उत्पन्न करता। इस का सीधा उत्तर यह है कि यह किसी विद्रोह का समर्थन या विरोध नहीं करता किंतु मन को सुदृढ़ और निर्णयात्मक अवस्था पर ला देता है। छायावाद के अंतर्गत राष्ट्रीय काव्य भी है यद्यपि वह कल्पना और सौंदर्य-प्रधान अधिक है। छायावाद में हमें सामयिक सामाजिक चित्रण और एक उदार जनसत्तात्मक भावधारा के भी अंश मिलते हैं, इस लिए हम उसे अराष्ट्रीय भी नहीं कह सकते किंतु आध्यात्मिक काव्य का मुख्य विषय यह नहीं है यह स्वीकार करने में हमें कोई विशेष आपत्ति नहीं हो सकती। साथ ही हम यह नहीं भूलेंगे कि वाद से भिन्न काव्यसौंदर्य एक अलग वस्तु है और उस का मूल्य उस सौंदर्य में ही है।

यहीं अध्यात्मवाद को हमारे उन मित्रों के आक्रमणों का सामना करना पड़ता है जो 'साइकोसिस' और 'न्यूरोसिस' की भाषा में बातें करते हैं। उन के मत में अध्यात्म मूलतः प्रतिक्रियात्मक वस्तु है और वह श्रमजीवी सभ्यता के निर्माण और विकास में बाधास्वरूप है। यह क्रांति को पीछे ढकेल रहा और सत्ताधारियों अथवा मध्यवर्गों का सहायक बन रहा है। इन मित्रों को हम सलाह देंगे कि वे इतिहास की पृष्ठभूमि पर छायावाद और रहस्यवाद का अध्ययन करें तो उन्हें मालूम होगा कि वे वाद राष्ट्रीय विकास की अति स्वाभाविक कड़ियां हैं और उन का कलात्मक मूल्य भी कुछ कम नहीं है।

और इन के स्थान पर हमें जो आज मिल रहा है वह क्या है? अब तक उस की साहित्यिक महत्ता यथेष्ट प्रकाश में नहीं आई। नई प्रगति पहले तो अपना स्वरूप ही निर्धारित नहीं कर सकी है जिस के फलस्वरूप नए उगते सभी लेखक अपने को प्रगतिवादी कहने लगे हैं। उन के भाव कितने ही पिष्टपेषित, उन की व्यंजना कितनी ही शिथिल, और

उन की कला-धारणा कितनी ही अविकसित क्यों न हो, वे नए हैं इसी लिए प्रगति के नेता हैं। हिंदी में फैली हुई अराजकता, उन्हें नेतागीरी का अवसर भी दे देती है। कई बार ऐसा देखा जाता है कि भाषा का बेसिलसिलापन और बिना खराद की भोंड़ी शैली ही प्रगति का प्रमाण बन जाती है। कला-संबंधी अंगों-प्रत्यंगों की बिना जाँच किए और भावधारा की प्रांजलता तथा अभिव्यक्ति की नवीनता और प्रौढ़ता का बिना ध्यान रक्खे, प्रसाद से लेकर महादेवी तक की रचनाओं में चरित्र-चित्रण, कथा-निर्माण, विचार-विकास, अथवा किसी अन्य बौद्धिक सूत्र को ढूँढना, कुछ नए क्षेत्रों में अपराध माना जाता है। यह सारा भावनामूलक साहित्य, रहस्यवाद या अफ़ीम का नशा है, इस में काव्य के उच्च अंगों के लिए स्थान ही कहां है, अकसर ऐसी बेतुकी बातें भी सुनने को मिल जाती हैं। एक ओर जहां हम भावना का विरोध करते हैं दूसरी ओर क्षीण उत्तेजना और भावोन्माद को प्रगति के नाम पर प्रश्रय दे रहे हैं। किंतु वास्तविक प्रगति के लिए केवल इतना ही आवश्यक नहीं कि काव्यवस्तु नए समय की हो और नई उपमाओं का संग्रह किया जाय बल्कि अभिव्यक्ति की शैली का आधार और अंतर्निहित विचार-प्रवाह नवीन और साथ ही उस नई शैली का सारा उपक्रम भी पुष्टतर और प्रौढ़तर होना चाहिए। हमारे अति नवीन साहित्य के मूल में वस्तुवाद की दार्शनिक प्रेरणा काम कर रही है किंतु वास्तविक साहित्य-निर्माण में हम प्रायः छायावाद की उच्च कला का ह्रासोन्मुख स्वरूप, नई किंतु दुर्बलतर भावना, उन्माद, अथवा शुष्क बौद्धिक प्रकरण ही मुख्यतः पाते हैं। नए भावलोक और नई कलाशैली के निर्माण में जो ऊँची रचनात्मक प्रतिभा अपेक्षित है अभी उस की क्षीण आभामात्र दिखाई दे रही है। इस के विपरीत, रहस्यात्मक काव्यशैली संप्रति अपने चरम विकास पर पहुँची हुई है। इस लिए केवल नवीनता के नाम पर इस की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

रहस्यवाद पर 'न्यूरोटिक टेंडेंसीज़' का आरोप अब भी शेष है। इस संबंध में हम पूछना चाहते हैं कि 'अहं ब्रह्मास्मि' के महामनस्वी भाव से भरी हुई उपनिषद्-ऋचाएं क्या स्नायविक दौर्बल्य की उदाहरण हैं? स्वतंत्र भारत की अमर और जगत्पूज्य रचना गीता और उस की स्थितप्रज्ञ की कल्पना क्या दुर्बल भाव की द्योतक है? आज यह देश परतंत्र है, आज स्नायविक दौर्बल्य यहां घर कर सकता है किंतु उस समय जब ऐसी कोई लाचारी न थी गीता में ऐसी कल्पनाएं क्यों की गईं और उन का इतना सम्मान आज

विदेशों में क़िस लिए है ! किंतु इस संबंध में मैं अधिक कुछ न कहूँगा क्योंकि श्री अरविंद जैसे मुझ से योग्यतर व्यक्ति, अभी हाल में, इस का यथेष्ट निराकरण कर चुके हैं।

यह पूछा जा सकता है कि इस प्रकार रहस्यवाद की हिमायत में क्यों कर रहा हूं। वास्तव में मैं ने किसी वाद की वकालत करने का बीड़ा नहीं उठाया, मेरा प्रयोजन तो काव्यालोचन में आने वाले वादों के संबंध की ग़लतफ़हमी को दूर कर देना मात्र है। एक ओर जहां मैं ने ऊपर की बातें कही हैं, वहीं दूसरी ओर यह भी कहूंगा कि बहुत से लोग रहस्यवाद के नाम पर ही इतनी श्रद्धा रखते हैं कि रहस्यवादी कविता को आप ही आप कविता का सिरमौर समझ लेते हैं। रहस्यवाद के अंतर्गत कोई कविता किस कोटि की है यह जानने की उन्हें आवश्यकता ही नहीं होती। ऐसे लोगों की अंधश्रद्धा भी काव्य-विवेचन में बड़ी बाधक है। वास्तव में यह दूसरी अति है। यहीं स्वभावतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि काव्यविवेचन में किसी वाद का क्या स्थान हो ?

काव्य तो प्रकृत मानव अनुभूतियों का, नैसर्गिक कल्पना के सहारे, ऐसा सौंदर्यमय चित्रण है जो मनुष्यमात्र में स्वभावतः अनुरूप भावोच्छ्वास और सौंदर्यसंवेदन उत्पन्न करता है। इसी सौंदर्य संवेदन को भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में 'रस' कहते हैं, यद्यपि मैं यह स्वीकार करूँगा कि रस का हमारे यहां दुरुपयोग भी कम नहीं किया गया। ऊपर की व्याख्या से हम काव्य या साहित्यमात्र के संबंध में कतिपय निष्कर्षों पर पहुँच सकते हैं। प्रकृत मानव अनुभूति सार्वजनीन वस्तु है, इस में वे कृत्रिम अनुभूतियां सम्मिलित नहीं हैं, जिन की शिक्षा कुछ विशेष व्यक्तियों या वर्गों को दी जाती है, जिन से सांप्रदायिक काव्य का निर्माण होता है (जो वास्तव में काव्य नहीं)। इन अनुभूतियों का चित्रण जिस नैसर्गिक कल्पना के सहारे होता है उसे पारिभाषिक शब्दावली में 'प्रतिभा' कहते हैं। यह कल्पना जितनी ही नैसर्गिक होगी उतने ही उन्नत काव्य का सृजन करेगी। उतना ही चित्रण की सौंदर्यमयता बढ़ जायगी और उस का संवेदन भी उतना ही समुन्नत और प्रगाढ़ होगा। सार्वजनीन होने के कारण ही यह सौंदयतत्व सर्वकालीन या शाश्वत भी है। एक ही कविता सैकड़ों हज़ारों वर्ष के बाद भी वही सौंदर्यचेतना उत्पन्न करती है जो उस ने आरंभ में उत्पन्न की थी।

अवश्य कविता सार्वजनीन और सर्वकालीन वस्तु है किंतु कवि के व्यक्तिगत विकास और संस्कार के अनुसार उस की सौंदर्यानुभूति की शक्ति, मात्रा और क़ीम-

तीपन में अंतर हुआ करता है और उन अनुभूतियों को व्यक्त करने का सामर्थ्य या योग्यता भी कम वा अधिक हुआ करती है। इन सारी वस्तुओं का परिचय हमें कवि की उस रचना से ही प्राप्त होता है इस लिए काव्यविवेचन में रचना या अभिव्यक्ति ही सब कुछ है। वास्तव में काव्य के उत्कर्ष या अपकर्ष की परीक्षा और वर्गीकरण इन्हीं विशेषताओं के आधार पर किया जा सकता है। यों व्यावहारिक विभाग के लिए हम महाकाव्य, गीतकाव्य, उपन्यास, आख्यायिका, नाटक-रूपक आदि के विभाग किया करते हैं अथवा बौद्धिक सीमा-रेखाओं या वादों के अंतर्गत भी हम कवियों और उन की रचनाओं को ले लिया करते हैं। अपने स्थान पर इन पिछले वर्गीकरणों का भी मूल्य हो सकता है किंतु काव्य का तात्विक मूल्य तो प्रथम वर्गीकरण में ही है।

यह पूछ सकते हैं कि कविता यदि शाश्वत वस्तु है तो उस पर देश, काल आदि की संस्कृतियों और विचारधाराओं का क्या कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता? यह पहेली ऊपर से जितनी संदिग्ध जान पड़ती है वास्तव में उतनी ही सरल है। देश, काल और वातावरण का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति और समाज पर पड़ता है, कवि पर तो वह और भी अधिक असर करता है। इस लिए सच्चे कवि और साहित्यकार प्रायः प्रगतिशील ही हुआ करते हैं। किंतु कवि का कार्य प्रगतिशील होना नहीं है, प्रगतिशील सामाजिक प्रेरणाओं, स्वरूपों और प्रवृत्तियों को शाश्वत सौंदर्य-संवेदन का स्वरूप देना है। आज का प्रगतिशील व्यक्ति कल पिछड़ सकता है किंतु हृदय के चिरंतन सौंदर्य-तारों को स्पर्श करने वाला कवि कभी पिछड़ता नहीं। कालिदास और शेक्सपियर, होमर और मिल्टन, बाल्मीकि और तुलसी, सूर और कबीर शताब्दियों पुराने हैं, किंतु उन का काव्य उतना ही ताज़ा और उतना ही प्रगतिमान आज है जितना वह किसी दिन था।

पर आज हमें ऐसे समीक्षक भी मिलते हैं जो इन कवियों को अथवा इन में से कुछ को आज के लिए प्रतिगामी, प्रतिक्रियाशील अथवा पिछड़ा हुआ बतलाते हैं। अवश्य यह समीक्षक उन कवियों के काव्य में निहित विचारधारा अथवा उस आचार-व्यवहार का विरोध करते हैं जो आज के समाज के उपयुक्त नहीं है। उन की दृष्टि काव्यसौंदर्य और भावना की सबलता और चिरंतनता पर नहीं जाती। वे समाज के नए रूपों और विचारों के साथ उन पुराने रूपों और विचारों का मेल नहीं मिला पाते। किंतु काव्य की कथावस्तु और विचारधारा अपना एक स्थान रखते हुए भी काव्य का मुख्य अंग नहीं

है। एक ही विचारधारा की पृष्ठभूमि पर उत्कृष्ट और हेय दोनों ही प्रकार के काव्य रचे जा सकते हैं। जो वस्तु काव्य को स्थायी बनाती है वह है चिरंतन मानव अनुभूति अथवा संवेदन का सौंदर्यपूर्ण संग्रह। बिना इन के हमारे विचार चाहे जितने ऊँचे हों हमारा काव्य नीरस हो जायगा। टाल्सटाय और गोर्की दोनों में विचारों का स्पष्ट विभेद है; किंतु उन का रचना-चातुर्य एक ही श्रेणी का और उन की सहानुभूति एक ही दिशा में है। फलतः ये दोनों ही समरामयिक रचनाकार, वादों में अंतर होते हुए भी, एक-से सम्मानित हैं। इस से स्पष्ट है कि वादों का बखेड़ा उठा देने पर साहित्य में जो कुछ रह जाता है, वह सम्मान की वस्तु है। संप्रति हमारे साहित्य में बौद्धिक विचारणा का प्राधान्य होने के कारण वादों को प्रमुखता मिल रही है किंतु, आशा है, यह ज्वार शांत होने पर काव्य को उस की नैसर्गिक प्रतिष्ठा प्राप्त होगी।

आज हम साहित्य में सामयिक जीवन की वास्तविकता चाहते हैं। नए आचार-विचार, नई रहन-सहन की ऐसी हल्की किंतु सच्ची चीज़ें जिन में वर्तमान साहित्यिक गंभीरता, भावुकता, काल्पनिकता और आदर्शवादिता का नाम न हो। ये वस्तुएं नवीन सामाजिक व्यवहारों में अब अनाकांक्षित और अवास्तविक मालूम दे रही हैं। हम नवीन जीवन का सौंदर्य उस की सहज अकृत्रिमता में देखना चाहते हैं। किंतु वस्तुवाद के नाम पर आज हमें हिंदी में मिल क्या रहा है? अधिकांश सस्ता, उत्तेजनाशील या बेसिल-सिला साहित्य। अधिकतर इस साहित्य के नाम पर जो चीज़ें आ रही हैं वे या तो उप-देशात्मक होने के कारण असाहित्यिक हैं अथवा आदर्शवाद की प्रतिक्रिया के रूप में अति-शय नग्न, व्यंग्यात्मक और अस्थायी हैं। रचनात्मक, नई, सांस्कृतिक अभिरुचि का द्वार अभी हमारे साहित्य में ठीक तरह से उद्घाटित नहीं हुआ। इस का एक मुख्य कारण यह भी है कि समाज की नवीन वास्तविकता अभी हमारे यहां पूरे प्रकाश में नहीं आई है, न उस की प्रेरणाएं यथेष्ट बलवती हो पाई हैं। यों तो साहित्य में कभी किसी वाद या विचार-प्रणाली-विशेष का आग्रह नहीं किया जा सकता, किंतु वर्तमान अवस्था में छाया-वाद या रहस्यवाद के माध्यम से आनेवाली पौढ़ रचनाओं और उन की कला-शैलियों का सामयिकता के नाम पर तिरस्कार हम किसी प्रकार नहीं कर सकते।

ऊपर मैंने जो कुछ कहा उस का यह मतलब नहीं है कि कवि और साहित्यकार बदलते हुए समय और बदली हुई परिस्थिति के अनुरूप नए विचारों का स्वागत न करें।

में कह चुका हूं कि अपनी तीव्र संवेदनाओं के कारण वे ही नए युग के अग्रदूत और विधायक हुआ करते हैं। नई जीवन-स्थितियां उन पर अनिवार्य रूप से असर करती है और नए ज्ञान को वे आदर के साथ अपनाते हैं। वर्तमान समय में हमारा पुराना सामाजिक और आर्थिक ढाँचा बदल रहा है और नई समस्याएं सामने आ रही हैं। इन का असर सारी सामाजिक रीति-नीति और प्रथाओं पर पड़ रहा है। इन सब में परिवर्तन अवश्यंभावी है; बल्कि कहना यह चाहिए कि तीव्र वेग से होने वाले परिवर्तन के फलस्वरूप ही पुरानी व्यवस्था उच्छिन्न हो रही है। नई जीवन-शक्तियों को न पहचानना और प्रगति का साथ न देना न केवल अदूरदर्शिता होगी, आत्मघात भी कहा जायगा। कहा जाता है कि इन परिवर्तनों के साथ ही समाज की नैतिक और आध्यात्मिक मर्यादाएं बदल जाएंगी और काव्य की माप में भी अंतर आ जायगा। जहां तक उन प्रथाओं का संबंध है जो प्रचलित विधि-निषेधों का द्योतन करती हैं, उन का बदल जाना स्वाभाविक है। किंतु उन के कारण हमारी नैतिक और आध्यात्मिक मर्यादा का बदल जाना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वह तो हमारी नसों में व्याप्त है। उल्टा उस की परीक्षा ही इन परिवर्तनों में होगी। और काव्य पर इन परिवर्तनों का क्या असर हो सकता है, वह तो अमिट सौंदर्य की सृष्टि है। आप पूछ सकते हैं कि बिना वैज्ञानिक दृष्टि से परिवर्तन के क्रमों का अध्ययन किए, बिना नवीन मनोविश्लेपण की जानकारी रक्खे, संक्षेप में बिना नवीन वादों का प्रश्रय लिए हमारा काव्य समय के साथ रह ही कैसे सकता है? इस का सीधा उत्तर यह है कि हम इन अध्ययनों से मुँह नहीं मोड़ना चाहते, किंतु हम इन वादों से भी अधिक जीवन का—चारों ओर फैले हुए जीवन का—अध्ययन करना चाहते हैं, और सच पूछिए तो हम जीवन से भी अधिक उस के संवेदनों का—जीवन के अध्ययन से प्राप्त सुष्ठुतम अनुभूतियों का—काव्यप्रणाली से अभिव्यंजन करना चाहते हैं, फिर वह प्रणाली रहस्यवाद की हो या अन्य किसी भी वाद की। अव य उन अनुभूतियों में जीवन का रस और उस प्रणाली में स्वानुभूत सौंदर्य की आभा होनी चाहिए। इतना ही हमारे लिए अलम् होगा।

(३)

मैं ने अपनी समझ से काव्य में वादों का प्रश्न हल कर दिया और अब मैं महादेवी जी के काव्य की परीक्षा (अवश्य ही विहंग-परीक्षा) हाथ में ले सकता हूं। ऊपर

में प्रसंगवश कह चुका हूं कि महादेवी जी के काव्य में छायावाद युग की विशेषताएं नहीं मिलतीं। प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति 'पल्लव वाले पंत जी' का (इस प्रयोग के लिए क्षमा चाहता हूं) सा विमोहक आकर्षण उन में नहीं, इस के बदले वे प्रकृति के एक-एक रूप या उस की एक-एक वृत्ति को साकार व्यक्तित्व देकर उन के व्यापारों की कल्पना करती हैं जिन में उन की समृद्ध कल्पना-शीलता प्रकट हुई है। अवश्य यह कल्पना-बाहुल्य ही छायावाद युग की एक विशेषता उन के काव्य में दीखती है। किंतु वे कल्पनाएं सब जगह सीधी और चोट करने वाली नहीं हैं, उन का प्रत्यक्ष रूप सहज आँखों के सामने नहीं आता। कहीं-कहीं तो उन प्रतीकों का वह कल्पित व्यापार हमारे सौंदर्य-संस्कारों के प्रतिकूल पड़ जाता है और कहीं-कहीं वह इतना क्लिष्ट होता है कि हम ईप्सित सौंदर्य की झाँकी नहीं पा सकते। इन दोनों का एक-एक उदाहरण मैं देना चाहता हूं—

रजनी ओढ़े जाती थी, झिलमिल तारों की जाली।
उस के बिखरे वैभव पर जब रोती थी उजियाली॥

यह प्रभात का दृश्य है। रजनी का झिलमिल तारों की जाली ओढ़ कर जाना, बड़ी ही सरल और मार्मिक कल्पना है। किंतु उजियाली का रोना हम साधारणतः कहीं नहीं देखते। वह प्रायः हँसती हो आती है। यहां हमें अपनी अभ्यस्त अनुभूतियों को दबा कर यह कल्पना करनी पड़ती है कि प्रभातकाल की नमी, अथवा ओस आँसू के रूप में उजियाली रो रही है।

क्लिष्ट कल्पना का एक उदाहरण मैं ने यह चुना है—

निश्वासों का नीड़ निशा का बन जाता जब शयनागार।
लुट जाते अभिराम छिन्न मुक्तावलियों के वंदनवार॥
तब बुझते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार।
आँसू से लिख लिख जाता है कितना अस्थिर है संसार॥

आकाश में रात्रि के समय अचानक बादल छा गए हैं और पानी बरसने लगा है। इसी अवस्था की कल्पना यह जान पड़ती है। रात्रि के, मुक्तावलियों के अभिराम वंदनवार (तारिकापंक्ति), छिन्न हो कर लुट गए हैं। निश्वासों का नीड़ उस का शयना-गार बन गया है (इस का इतना ही अर्थ मेरी समझ में आ पाता है कि रात्रि दुःखपूर्ण निश्वास ले रही है)। तारे बुझ रहे हैं, बूँदें गिरने लगी हैं, वही मानों बुझते तारों के नीरव

नयनों का हाहाकार और उस के आँसू हैं जिन के द्वारा यह लिखा जा रहा है, 'संसार कितना अस्थिर है !' कितनी कल्पना हमें ऊपर से करनी पड़ती है, कृपया विचार कीजिए ! और अब भी मुझे निश्चय नहीं कि मेरा ही अर्थ ठीक है ।

जिस क्षण को महादेवी जी की कल्पना ने पकड़ा है—तारों से हँसते हुए आकाश में सहसा मलिन बादलों का छा जाना, वह काव्योपयुक्त और अति सुंदर है, किंतु क्या यही बात उन के इस चित्रण के संबंध में कही जा सकती है ?

इस के दो कारण मुझे दीखते हैं। एक तो यह कि महादेवी जी की कविताएं इतनी अंतरमुख हैं कि वे प्रकृति के प्रत्यक्ष स्पंदनों, उन की ध्वनियों और संकेतों से सुपरिचित नहीं; और दूसरा यह कि वे काव्य के एक-एक बंद को एक-एक चित्र के रूप में सजाना चाहती हैं, जिस में वस्तुओं और व्यापारों की योजना संश्लिष्ट हुआ करती है । और चूँकि वे मानसिक वृत्तियों और वातावरणों को भी उन्हीं वस्तुव्यापारों के द्वारा ध्वनित करना चाहती हैं, इस लिए यह कार्य उन के लिए दुःसाध्य हो जाता है । उन के इन दीर्घ चित्रणों की तुलना अन्य प्रमुख छायावादियों से कीजिए तो अंतर आप दीखेगा—

देख वसुधा का यौवन-भार ।
गूँज उठता है जब मधुमास ।
विधुर उर के से मृदु उद्गार ।
कुसुम जब खुल पड़ते सोछ्वास ।
न जाने सौरभ के मिस कौन
संदेशा मुझे भेजता मौन !

—सुमित्रानंदन पंत ('मौननिमंत्रण')

अथवा—

पवन में छिपकर तुम प्रतिपल,
पल्लवों में भर मृदुल हिलोर ।
चूम कलियों के मुद्रित दल,
पत्र छिद्रों में गा निशि-भोर ।।
विश्व के अंतस्तल में चाह ।
जगा देती हो तड़ित-प्रवाह ।।

—निराला ('स्मृति')

अवश्य ये चित्र अधिक हल्के और अनलंकृत हैं, इन में सूक्ष्मतर रूपयोजना और भावव्यंजना की वह महत्वाकांक्षा भी नहीं है, यह हम स्वीकार करेंगे, किंतु तब हम महादेवी जी से कहेंगे कि वे अपनी उच्चतर कला-आकांक्षा के उपयुक्त सामग्री का भी संचय करें। यह कहना भी उचित न होगा कि जिस सूक्ष्मतर भावभूमि के चित्र महादेवी जी देती हैं उस में अस्पष्टता अनिवार्य है। अस्पष्टता काव्य का कोई गुण नहीं है, यह चित्रण की दुर्बलता ही है। अस्पष्ट, छाया-भावों का चित्रण भी सुस्पष्ट, मोती के पानी जैसा भीतर से दमकता होना चाहिए। काव्य की विशेषता तो इसी में है।

महादेवी जी ने भी जहां अलंकृत चित्रांकण छोड़ कर सीधा रास्ता पकड़ा है, वहां बड़ी सजीव कविता का स्रोत वह चला है—

स्वर्ग का था नीरव उच्छ्वास।
देव-वीणा का टूटा तार।
मृत्यु का क्षणभंगुर उपहार।
रत्न वह प्राणों का शृंगार
नई आशाओं का उपवन,
मधुर वह था मेरा जीवन॥

और जहां वे कल्पना के अर्द्धस्फुट उपमानों को छोड़ कर, इसी सरलता के साथ रूपांकण भी करने लगी हैं (यद्यपि ऐसे स्थल बहुत थोड़े हैं) वहां उन के चित्र खूब साफ़ आए हैं—

जैसे—

जाग जाग सुकेशिनी री,
अनिल ने आ मृदुल होले
शिथिल वेणी-बंध खोले;
पर न तेरे पलक डोले।
बिखरती अलकें झरे जाते—
सुमन वर-वेषिनी री।
छांह में अस्तित्व खोए,
अश्रु से सब रंग धोए,
मंदप्रभ दीपक सँजोए,

पंथ किस का देखती तू,
अलस स्वप्न निवेशिनी री।

पाठक देखेंगे कि यह सौंदर्य-चित्रण आध्यात्मिक रहस्य-मुद्राओं से परिपूर्ण है, इसे छायावाद की परंपरा में हम नहीं ले सकते। इन में एक विलक्षण उदासीनता, सात्विकता, शांति और निश्चलता झलकती है। छायावाद की चेतनता, चांचल्य और चटक इन में नहीं। महादेवी जी के काव्य की यह एक सार्वत्रिक विशेषता है।

किंतु महादेवी जी की अधिकांश रचनाओं में ऊपर के से भाव-संकेतक रूप-चित्र नहीं मिलते, भावों का चित्रण ही प्रधानतः मिलता है। मेरी अपनी दृष्टि से रूपचित्रण की सहायता बिना रहस्यवाद की काव्य-कला का पूर्ण प्रस्फुटन नहीं हो सकता। जो स्वयं अदृश्य वस्तु है उसे अस्फुट उपमानों से व्यक्त करना, पाठकों को काव्य-रस से अंशतः वंचित ही रखना है। जैसे 'बेसुध पीड़ा' के संबंध में ये पंक्तियां—

इस में अतीत सुलझाता अपने आँसू की लड़ियां,
इस में असीम गिनता है वे मधुमासों की घड़ियां।

किंतु इन की गणना कहां तक की जाय, यह महादेवी जी की प्रधान काव्य-शैली ही है। तो भी इस के अंदर कुछ उच्च कोटि की रचनाएं भी उन्हों ने की हैं। जहां व्यक्त रूप किसी न किसी प्रकार आ गए हैं वहां रचना प्रायः सुंदर हुई है—

किसी नक्षत्र-लोक से टूट
विश्व के शतदल पर अज्ञात
ढुलक जो पड़ी ओस की बूंद
तरल मोती-सा ले मृदु गात—
नाम से जीवन से अनजान
कहो क्या परिचय दे नादान!

अथवा—

स्मित तुम्हारी से छलक यह ज्योत्स्ना अम्लान,
जान कब पाई हुआ उस का कहां निर्माण!
अचल पलकों में जड़ी-सी तारिकाएं दीन,
ढूंढतीं अपना पता विस्मित निमेषविहीन।

... ...

कौन तुम मेरे हृदय में ?

कौन मेरी कसक में नित मधुरता भरता अलक्षित ?
कौन प्यासे लोचनों में घुमड़ घिर झरता अपरिचित ?
अनुसरण निश्वास मेरे कर रहे किस का निरंतर ?
चूमने पदचिह्न किस के लौटते यह श्वास फिर फिर ?

यह पिछला पद प्रसाद जी के 'कौन हो तुम इसी भूले हृदय की चिर खोज ?' का स्मरण दिलाता है यद्यपि महादेवी जी और प्रसाद जी की रहस्यभावना में यह सुस्पष्ट अंतर है कि महादेवी जी का झुकाव सदैव करुणा और भक्ति की ओर रहता है जब कि प्रसाद जी प्राय: तादात्म्य (वही तू है) का संकेत करते हैं।

'मत अरुण घूँघट खोल री' और 'शृंगार कर ले री सजनि' रहस्यात्मक रूप-विन्यास के सुंदर उदाहरण हैं।

'सांध्यगीत' में दार्शनिक एकाग्रता उच्चतर हो उठी है, किंतु काव्य-उपादान उतनी ही मात्रा में समृद्ध नहीं हो पाया। इसी लिए संभवत: इन गीतों की रहस्यभावना ही प्रधान स्थान पा गई है, उपयुक्त रूपयोजना उन्हें नहीं मिल सकी। भावना का वैसा ही विकास होते हुए भी 'सांध्यगीत' में और महाकवि रवींद्र की 'गीतांजलि' में दो मुख्य अंतर हैं। उन की अजेय काव्यशक्ति कभी उन की भावना का साथ नहीं छोड़ती। भावना की दौड़ में पिछड़ जाने पर ही काव्य को

पंकज कली,
क्या तिमिर कह जाता करुण
क्या मधुर दे जाती किरण !

जैसी अन्योक्ति पद्धति पकड़नी पड़ती है। यद्यपि यह अन्योक्ति ऊँचे दर्जे की है, किंतु अन्योक्ति कितने ही ऊँचे दर्जे की हो, उस की काव्य से भिन्न बौद्धिकता बिना खटके नहीं रह सकती। दूसरी बात यह है कि रवि बाबू की रचनाओं में कल्पना की जो एकतानता, जो प्रसार, जो अटूट शृंखला मिलती है वह इन गीतों में दुर्लभ है। तो भी छोटे-छोटे टुकड़ों में अपने ढंग की सफ़ाई और काफ़ी काम महादेवी जी के बहुत से गीतों में मिलता है।

प्रसाद के 'आँसू', निराला की 'स्मृति' जैसी उदात्त और एकतान कल्पना तथा

'पल्लव' का-सा सौंदर्योन्मेष महादेवी जी में नहीं है, किंतु वेदना का विन्यास, उस की वस्तुमत्ता ('आब्जेक्टिविटी') का बहुरूप और विवरणपूर्ण चित्रण, जितना महादेवी जी ने दिया है, उतना वे तीनों कवि नहीं दे सके हैं।

'सांध्यगीत' की पहली ही कविता में सांध्य-गगन और जीवन का बिंब-प्रतिबिंब स्वरूप महादेवी जी के काव्य में चित्रांकण कला का एक सफल उदाहरण है, भले ही प्रकृत भावोच्छ्वास का प्रवेग उस में न हो।

मैं ने ऊपर कहा है कि छायावाद काव्य के व्यक्त प्रकृति के सौंदर्य-प्रतीकों को न लेकर महादेवी जी ने उन प्रतीकों की अव्यक्त गतियों और छायाओं का संग्रह किया है। इस से उन की रचनाओं में वेदना की विवृत्ति और रहस्यात्मकता बढ़ गई है किंतु वे स्थल कहीं-कहीं अधिक दुरूह भी हो गए हैं। उदाहरण के लिए यह रचना लीजिए—

उच्छ्वासों की छाया में,
पीड़ा के आलिंगन में,
निश्वासों के रोदन में,
इच्छाओं के चुम्बन में,
उन थकी हुई सोती सी
उजियाली की पलकों में,
बिखरी उलझी हिलती सी
मलयानिल की अलकों में,
सूने मानस मंदिर में,
सपनों की मुग्ध हँसी में,
आशा के आवाहन में,
बीते की चित्रपटी में,
रजनी के अभिसारों में,
नक्षत्रों के पहरों में,
ऊषा के उपहासों में,
मुस्काती सी लहरों में,

जो बिखर पड़े निर्जन में
निर्भर सपनों के मोती,
मैं ढूँढ रही थी लेकर
धुँधली जीवन की ज्योती।

लाक्षणिकता उसी हद तक काव्य में काम दे सकती है जिस हद तक वह उस के धारावाही सौंदर्य में रोड़े न अटकाए। महादेवी जी के काव्य की जो भूमि है उसी भूमि की रचनाएं कतिपय छायावादी कवियों की भी मिलती हैं, किंतु उन की व्यंजना व्यक्त सौंदर्य-प्रतीकों के और सीधी लाक्षणिकता के आधार पर होने के कारण स्पष्टतर हुई है। उदाहरणार्थ हम निराला जी की ख्यातिप्राप्त रचना 'तुम तुंग हिमालय शृंग और मैं चंचल गति सुर-सरिता' को लें तो दोनों का अंतर साफ़ दिखाई देगा। हमारे कहने का मतलब यह नहीं कि महादेवी जी के ऐसे प्रयोग सर्वत्र दुरूह हो गए हैं, कहीं-कहीं वे अतिशय मार्मिक हैं।

जैसे—

उन हीरक के तारों को कर चूर बनाया प्याला।
पीड़ा का सार मिला कर प्राणों का आसव ढाला।
मलयानिल के झोंकों में अपना उपहार लपेटे।
मैं सूने तट पर आई बिखरे उद्गार समेटे।
काले रजनी अंचल में लिपटी लहरें सोती थीं।
मधुमानस की बरसाती वारिदमाला रोती थी।

ये पंक्तियां हमें प्रसाद जी के 'आँसू' की सुंदर कड़ियों की याद दिलाती हैं। अवश्य प्रसाद जी में सौंदर्य-संवेदन के दोनों स्वरूप 'आनंद' और 'वेदना' का एक-सा प्रसार मिलता है किंतु महादेवी जी में उस के पिछले अंश की ही प्रधानता है।

अपनी इस एकपक्षिता के दो कारण महादेवी जी ने बताए हैं जो इस प्रकार हैं—'जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है, उस पर पार्थिव दु:ख की छाया नहीं पड़ी। कदाचित् यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी है।' इस के अतिरिक्त 'बचपन से ही भगवान् बुद्ध के प्रति एक भक्तिमय अनुराग होने के कारण उन की संसार को दु:खात्मक समझने वाली फ़िलासफ़ी से मेरा असमय ही परिचय हो गया था।' इस दु:ख के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करती

हुई वे लिखती हैं—'दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें किंतु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाए बिना नहीं गिर सकता।'

इस स्पष्टीकरण में महादेवी जी ने सुख और दुःख के स्वरूप को अस्पष्ट ही रख छोड़ा है। उन्हों ने दुःख के आध्यात्मिक स्वरूप और सुख के भौतिक स्वरूप को सामने रख कर विचार किया है। किंतु इस के विपरीत सुख का एक आध्यात्मिक और दुःख का भौतिक स्वरूप भी है जिस की ओर उन की दृष्टि नहीं गई। दुःख की तामसिक, राजसिक, और सात्विक तीनों अभिव्यक्तियां हो सकती हैं, उसी प्रकार सुख की भी। यह सब कुछ उस संवेदन पर अवलंबित है जिस से सुख और दुःख का निःसरण होता है। महात्मा बुद्ध ने दुःखवाद को आध्यात्मिक अर्थ में लिया है, उसी प्रकार भारतीय दर्शनों ने 'आनंद' का आध्यात्मीकरण कर लिया है। इस लिए भौतिक आधार पर सुख और दुःख का जो व्यतिरेक (या 'कंट्रास्ट') महादेवी जी ने ऊपर दिखाया है, उसे मैं उन की व्यक्तिगत सात्विकता का परिणाम मान सकता हूं। उसे दार्शनिक सत्य या काव्य की कसौटी मानने के लिए मैं तैयार नहीं हूं।

यह स्त्रियोचित सात्विकता भी महादेवी जी के काव्य की सार्वत्रिक विशेषता है। इस से उन के काव्य को एक सुंदर कांति मिली है यद्यपि कहीं-कहीं अति सरलता सौंदर्य-स्पर्श से वंचित भी रह गई है। जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूं महादेवी जी की वेदना पहले व्यक्तिगत भावुकता अथवा रूढ़ि भक्तिभावना के रूप में रही है जो क्रमशः निखरती गई है। अब मैं इन के एक-एक उदाहरण दूँगा—

भावुकता का स्वरूप निम्नांकित 'फ़ैंसी' में प्रकट हुआ है—

चाहता है यह पागल प्यार
अनोखा एक नया संसार।
कलियों के उच्छ्वास शून्य में तानें एक वितान,
तुहिनकणों पर मृदु कंपन से सेज बिछा दें गान—
जहां सपने हों पहरेदार,
अनोखा एक नया संसार।

रूढ़िगत भक्तिभावना मुझे वहां दीखती है जहां महादेवी जी ने रहस्यमय आध्यात्मिक सत्ता को स्थूल उपास्य का रूप दे दिया है अथवा जहां प्राकृतिक सौंदर्य का, जिस में कवि-हृदय बिना मुग्ध हुए नहीं रहता, स्थान-स्थान पर प्रतिषेध किया है।

निराली कलकल में अभिराम
मिलाकर मोहक मादक गान
छलकती लहरों में उद्दाम
छिपा अपना अस्फुट आह्वान
न कर हे निर्झर भंग समाधि
साधना है मेरा एकान्त।

किंतु नीचे के पद्य में रुढ़िरहित आध्यात्मिक निरूपण है:—

छाया की आँख-मिचौनी, मेघों का मतवालापन,
रजनी के श्याम कपोलों पर ढरकीले श्रम के कन।
फूलों की मीठी चितवन, नभ की यह दीपावलियां।
पीले मुख पर संध्या के वे किरणों की फुलझड़ियां।
विधु की चाँदी की थाली मादक मकरंद भरी सी,
जिस में उजियारी रातें लुटतीं घुलतीं मिसरी सी।
भिक्षुक से फिर जाओगे जब लेकर यह अपना धन,
करुणामय तब समझोगे, इन प्राणों का महँगापन।

'न थे जब परिवर्तन दिन रात, नहीं आलोक तिमिर थे ज्ञात' से आरंभ होने वाला पूरा गीत भी रूढ़ पद्धति पर बना है। किंतु आगे चल कर जहां वेदना तप कर निखर उठी है, वहां रूढ़ि का लेश भी नहीं दीखता और काव्य ऊँचे धरातल पर आ पहुँचा है। यहां वेदना खूब सशक्त संवेदन की छटा ले कर आती है—

देव, अब वरदान कैसा?
वेध दो मेरा हृदय माला बनूं, प्रतिकूल क्या है।
मैं तुम्हें पहचान लूं इस कूल तो उस कूल क्या है!
छीन सब मीठे क्षणों को,
इन अथक अन्वेषणों को।

आज लघुता ले मुझे
दोगे निठुर प्रतिदान कैसा ?
जन्म से यह साथ हैं मैं ने इन्हीं का प्यार जाना।
स्वजन ही समझा दृगों के अश्रु को पानी न माना।
इंद्रधनु से नित सजी सी।
विद्यु हीरक से जड़ी सी।
मैं भरी बदली रहूं चिर मुक्ति का सम्मान कैसा ?

इस अवस्था की रहस्यात्मक अनुभूतियों का वैविध्य और काव्य की मनोहारिता महादेवी जी में ऊंची श्रेणी की है। कोई भी छायावादी इतने अटल भाव से इस भूमि में स्थिर नहीं रह सका। इस भूमि की प्रदीप्त अनुभूतियों का ऐसा संकलन नवीन युग का कोई हिंदी कवि नहीं कर सका है। तो भी, हम कहेंगे कि महादेवी जी का काव्यक्षेत्र धार्मिक काव्य की सीमा-भूमि पर स्थित है और कई बार दोनों की सरहद निरूपित करना कठिन हो जाता है।

महादेवी जी जिस नए क्षेत्र में जिस नवीन ढंग से काम कर रही हैं, इस से उन की कठिनाइयों का अनुमान हम कर सकते हैं। एक तो परोक्ष स्तर की निगूढ़ अनुभूतियों का संग्रह फिर उन का परिष्करण और उन्हें उपयुक्त व्यंजना देना, तीनों ही आयास-साध्य हैं। फिर महादेवी जी अपनी व्यंजना शैली में भी एक नवीनता रखती हैं। ऐसी अवस्था में हमें आश्चर्य नहीं होता कि भाषा, तुकों, और छंदों के विन्यास की ओर वे पर्याप्त सतर्क नहीं हो सकीं। महादेवी जी की भाषा में हमें समृद्ध छायावादी चमत्कृति नहीं मिलती। तुकों के संबंध में भी काफ़ी शिथिलता दीखती है। छंदों और गीतों में भी एकरूपता अधिक है। भावों को काव्याभिव्यंजना देने के सिलसिले में कहीं-कहीं सुंदर कल्पनाओं के साथ ढीले प्रयोग एक पंक्ति के बाद दूसरी ही पंक्ति में मिल जाते हैं—

जिन नयनों की विपुल नीलिमा में मिलता नभ का आभास।
जिस मानस में डूब गए कितनी करुणा कितने तूफ़ान।
जिन अधरों की मंद हँसी थी नव अरुणोदय का उपमान।
किया दैव ने जिन प्राणों का केवल सुषमा से निर्माण।

ओठों की हँसती पीड़ा में
आहों के बिखरे त्यागों में।
जो तुम आ जाते एक बार
कितनी करुणा कितने सँदेस पथ में बिछ जाते बन पराग।

इन उद्धरणों की पहली पंक्तियां जितनी सुंदर और काव्योपयुक्त हुई हैं, उतने ही प्रत्येक दूसरी पंक्ति के चिह्नित प्रयोग चिंत्य हो गए हैं। कई पंक्तियां शुष्क गद्य सी प्रतीत होती हैं—

मैं मदिरा तू उस का खुमार।
मैं छाया तू उस का अधार।
चल चितवन के दूत सुना उन के पल में रहस्य की बात।
मेरे निर्निमेष पलकों में मचा गए क्या क्या उत्पात।
गए तब से कितने युग बीत हुए कितने दीपक निर्वाण।
नहीं पर मैं ने पाया सीख तुम्हारा सा मनमोहन गान॥

नीचे लिखी पंक्ति ध्वनि-शैथिल्य का एक उदाहरण है—

शिथिल मधु-पवन गिन-गिन मधुकण,
हरसिंगार झरते हैं झर झर।

तुम बिन, उन बिन, जैसे प्रयोग अधिक नहीं अखरते और 'पथ बिन अंत' भी चल जाता है। 'मैं न जानी', 'मैं प्रिय पहचानी नहीं', जैसे व्याकरण असम्मत प्रयोग भी अप्रिय नहीं लगते तो भी कहना पड़ता है कि महादेवी जी की रहस्यानुभूति जितनी समृद्ध है, उन की काव्य-प्रतिभा उतनी ही उत्कृष्ट नहीं और भाषा-शक्ति भी सीमित है। किंतु अभी महादेवी जी निरंतर विकास के मार्ग पर बढ़ रही हैं; वे किस दिशा में कितना बढ़ेंगी यह अब तक अज्ञात है। इस लिए उन की किसी भी विशेषता पर अंतिम मुहर अभी नहीं लगाई जा सकती।

अब यहां मुझे उन मतदाताओं के समाधान में कुछ अंतिम शब्द कहने होंगे जो महादेवी जी की अनुभूतियों पर काल्पनिकता का आरोप करते हैं। उन की समझ में नहीं आता कि किस जगत की बातें वे कर रही हैं और उन से हमारा क्या संबंध हो

सकता है। इन्हीं में से वे कुछ लोग भी हैं जो आधुनिक कोलाहल में व्यस्त होने के कारण या तो महादेवी जी के काव्यजगत में पहुँच ही नहीं पाते, अथवा दो-चार चीज़ों की बानगी लेकर, शेष सब एकरूप ही हैं, कहने की जल्दबाज़ी करते हैं। इन सब को मेरा उत्तर यह है कि महादेवी जी के काव्य का आधार उसी अर्थ में काल्पनिक कहा जा सकता है जिस अर्थ में कबीर और मीरा का काव्याधार काल्पनिक है। जिस अर्थ में 'गीतांजलि' और 'आँसू' काल्पनिक हैं। जो महादेवी का अध्ययन नहीं कर सकते वे इन कवियों का भी अध्ययन कैसे कर सकते हैं, अथवा इन को भी एकरूप क्यों नहीं ठहरा सकते! यहां मैं उन महानुभावों का शुमार नहीं कर रहा जिन की राय में रहस्यवाद किसी प्राचीन बर्बर युग की स्मृति है, मनुष्य की अविकसित बाल्यभावना की सृष्टि है और जो वैज्ञानिक विकास सिद्धांत से बहुत दूर की चीज़ हो गई है। ऐसे लोग तो काव्याध्ययन के अधिकारी भी हैं, मैं नहीं मानता।

ऊपर मैं ने प्रसंगवश 'मीरा' का नाम ले लिया है। साथ ही कुछ अन्य कवियों के नाम भी आए हैं जिन से महादेवी जी की तुलना करने का मेरा मंतव्य नहीं रहा, केवल काव्य की आधारभूमि मिलती-जुलती दिखानी थी। फिर भी अकसर लोगों का आग्रह रहा है कि मीरा और महादेवी के काव्य की तुलना के संबंध में कुछ कहूं। मेरा कहना यह है कि मीरा और महादेवी के काव्य का आधार बहुत अंशों में एक-सा है किंतु ये दोनों दो युगों की सृष्टियां हैं। अपने-अपने युगों के अनुरूप ही इन दोनों का काव्य-व्यक्तित्व है। मीरा का काव्य नैसर्गिक भावोद्रेक का नमूना है। वह अलौकिक प्रेम और विरह से भीगे हुए हृदय का उद्गार है। उस में काव्यकला की बारीकियां हमें नहीं मिलतीं, मूर्तिमान विरह की तड़प और मिलन के स्पंदन सुन पड़ते हैं। प्रकृति और कल्पना की सहायता से भावों का चित्रण वे नहीं करने बैठीं। मध्ययुग के सभी समुन्नत कवियों की यह अप्रतिम नैसर्गिकता उन की अपनी चीज़ है। उस तरह की चीज़ आज इस बौद्धिक विकास के युग में ढूँढ़ना दोनों युगों का अपमान करना है। महादेवी जी में भी अनुभूति की सच्चाई है और गहराई है किंतु वे काव्यकला में सज कर आई हैं। मीरा अपने प्रियतम की खोज में राजमहल छोड़ कर निकल आई थीं और उन्हें गृह-बन पुकारती फिरती थीं। उन का काव्य-पुकार साकार है। महादेवी जी की ध्वनि अधिक धीमी और अधिक सभ्य होनी समुचित ही है।

विशुद्ध काव्यदृष्टि से महादेवी मीरा की उँचाई पर कम ही पहुँचती हैं। काव्य-कला से सज्जित होने पर भी उन की कविता में भावना की ही प्रधानता है। उक्त भावना-शिशु के लिए मुक्त आकाश में पक्षी की भाँति उड़ कर चराचर जगत की 'जो सौंदर्य-सामग्री, जो सहज आस्वाद्य फल, कविगण प्रस्तुत किया करते हैं, महादेवी जी में उस की कमी है। भावना-शिशु का प्यार उन्हें अपना नीड़ छोड़ने नहीं देता। फलतः उन के काव्य में भावना का प्राधान्य है और अन्य काव्यांगों का विकास उतनी मात्रा में नहीं हो पाया। उन की कविता कुछ अंशों में इसी भावना-निष्ठा से, जो व्यक्तिगत है, विजड़ित है। अपनी बात स्पष्ट करने के लिए मैं 'प्रसाद जी' की दो पंक्तियां लेता हूं। ये उन के 'चंद्रगुप्त' नाटक में आई हैं, विषय है देशप्रेम का—

अरुण यह मधुमय देश हमारा,
जहां पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।

. . . .

लघु सुरधनु से पंख पसारे शीतल मलय समीर सहारे।
उड़ते खग जिस ओर मुँह किए समझ नीड़ निज प्यारा।

कवि अपने मूल विषय को लेकर कितनी दूर चला गया है, व्यक्तिगत भाव के भार से कितना छूटा हुआ! पक्षियों का अनुकूल पवन के सहारे, छोटे-छोटे इंद्रधनुषों के से पंख पसारे, अपनी ईप्सित दिशा में नीड़ों की ओर उड़ना, और मेरा देश! (सुख, सौंदर्य और अपनेपन की व्यंजना)। अनजान क्षितिज को कूल किनारा मिलना—सहारा मिलना, और मेरा देश (आश्रय, दाक्षिण्य और औदार्य का भाव)! और साथ ही क्षितिज को किनारा मिलने और पक्षियों के नीड़ की ओर उड़ने की मूर्तिमत्ता कितनी सहज, भव्य और हृदयग्राह्य है। यहां भावना तो है ही किंतु समुन्नत काव्य के वेष में। महादेवी जी की शक्ति भावना के विश्लेषण में है, प्राकृतिक रूपों और उपमानों द्वारा उसे व्यंजित करने में नहीं। वाह्य निरपेक्षता और अंतरंगता जो महादेवी जी में एक सीमा तक बढ़ी हुई है, उन की काव्यशक्ति को परिपूर्ण विकास नहीं दे रही है।

सभी उच्च कोटि के रहस्यवादी कवियों और स्वयं मीरा में भी भावना का प्राचुर्य उपयुक्त प्राकृतिक उपमाओं और कल्पनाओं के सहारे, काव्यात्मक परिच्छद में व्यक्त हुआ है। बल्कि हृदय के सूक्ष्म भावों की व्यंजना के लिए अन्य कवियों की अपेक्षा रहस्य-

वादी कवि को प्रकृति की उस की एक एक भावभंगी, रूप-रंग, गति-अनुगति की—और भी महीन परख रखनी पड़ती है। अन्यथा उस का काम नहीं चल सकता।

मीरा और महादेवी में दूसरी असमानता यह भी है कि मीरा का काव्य दिव्य प्रेम और विरह पर आश्रित है, जो एक ओर उसे सहज हृदयग्राह्य बनाता है और दूसरी ओर काव्य के विषय को विस्तीर्ण कर देता है। महादेवी के काव्य में वैराग्यभावना का प्राधान्य है। महात्मा बुद्ध की भाँति नहीं (बुद्ध की मूर्तियों में दुःख की मुद्राएं नहीं मिलतीं) किंतु बौद्ध संन्यासियों और संन्यासियों सरीखी एक चिंतामुद्रा, एक विरक्ति, एक तड़प, शांति के प्रति एक अशांति महादेवी जी की कविता में सब जगह देखी जा सकती है। किंतु इस कारण उन की कविता में एकरूपता 'मोनोटनी' नहीं आई है जैसा कुछ लोग आरोप करते हैं। उन में प्रचुर वैभिन्य है।

आशा है मैं ने दोनों का अंतर यथासंभव थोड़े में स्पष्ट कर दिया है।

अब मैं अंत में यह कहूँगा कि आधुनिक कवियों में महादेवी जी का क्या स्थान है, इस का निर्णय करना अभी हमारे लिए असामयिक होगा। इस युग के अग्रगण्य कवियों में संभवतः उन का स्थान सुरक्षित रहेगा (केवल इस लिए नहीं कि भारत अध्यात्म-प्रधान देश है, बल्कि उन के काव्यगुणों के कारण) किंतु उन में उन्हें कौन-सा विशेष पद प्राप्त होगा यह तो समय ही बता सकता है। मैं कह चुका हूं कि उन का विकास अभी बंद नहीं हुआ है।

भोजपुरी मुहावरे

[लेखक—श्रीयुत उदयनारायण तिवारी, एम्० ए०]

मुहावरा अरबी शब्द है। इस का अर्थ है 'परस्पर बातचीत और सवाल जवाब करना'। इसे अंग्रेज़ी में 'ईडियम' कहते हैं। संस्कृत में इस शब्द के यथार्थ अर्थ का बोधक कोई शब्द नहीं है। कतिपय विद्वानों ने 'प्रयुक्तता', 'वाग्रीति', 'वाग्धारा' और 'भाषा-संप्रदाय' को मुहावरे के स्थान पर प्रयुक्त किया है, किंतु वास्तव में ये शब्द उपयुक्त नहीं जँचते, क्योंकि इन से मुहावरे के अर्थ का भली भाँति प्रकाशन नहीं होता।

अरबी में 'मुहावरा' शब्द का अर्थ सीमित तथा संकुचित है, किंतु हिंदी-उर्दू में वह विकसित होकर व्यापक हो गया है। हिंदी-उर्दू में लक्षणा अथवा व्यंजना द्वारा सिद्ध वाक्य को ही मुहावरा कहते हैं। मुहावरे के अर्थ में अभिधेयार्थ से विलक्षणता होती है। इस संबंध में मौलाना हाली ने अपने "मुक़द्दमा शेर व शायरी" में जो कुछ लिखा है, उसे नीचे दिया जाता है :—

"कभी मुहावरा का इतलाक़ ख़ास कर उन अफ़आल (क्रियाओं) पर किया जाता है, जो किसी इस्म (संज्ञा) के साथ मिल कर अपने हक़ीक़ी मानों (वास्तविक अर्थों) में नहीं बल्कि मजाज़ी मानों (लाक्षणिक वा सांकेतिक अर्थों) में इस्तैमाल होते हैं। जैसे उतारना, इस के हक़ीक़ी मानी (वास्तविक अर्थ) किसी जिस्म (शरीर) को ऊपर से नीचे लाने के हैं। जैसे घोड़े से सवार का उतारना, खूंटी से कपड़ा उतारना, कोठे पर से पलंग उतारना। लेकिन इन में से किसी पर मुहावरे के दूसरे मानी ठीक नहीं आते। क्योंकि इन सब मिसालों (उदाहरणों) में उतारना अपने हक़ीक़ी मानों (वास्तविक अर्थों) में इस्तैमाल किया गया है। हां, नक़शा उतारना, नक़ल उतारना, दिल से उतारना, दिल में उतारना, हाथ उतारना, पहुँचा उतारना, यह सब मुहावरे कहलावेंगे।"

आगे चल कर मौलाना साहब ने 'रोज़मर्रा' और 'मुहावरे' का अंतर भी स्पष्ट किया है । आप लिखते हैं :—

"रोज़मर्रा[1] और मुहावरा में एक फ़र्क़ और भी है । रोज़मर्रा की पाबंदी जहां तक मुमकिन हो तक़रीर (व्याख्यान या बातचीत) और तहरीर (लेखन) नज़्म (पद्य) व नसर (गद्य) में जरूरी समझी गई है । यहां तक कि कलाम (वाक्य) में जिस क़दर रोज़-मर्रा की पाबंदी कम होगी, उसी क़दर वह फ़साहत (प्रसादगुण) के दर्जे से गिरा समझा जावेगा । जैसे, 'कलकत्ते से पेशावर तक सात आठ कोस पर एक पक्की सराय और एक कोस पर मीनार बना हुआ था' यह जुमला (वाक्य) रोज़मर्रा के मुआफ़िक (अनुसार) नहीं है, बल्कि उस की जगह होना चाहिए, 'कलकत्ते से पेशावर तक सात-सात आठ-आठ कोस पर एक-एक पक्की सराय और कोस-कोस भर पर एक-एक मीनार बना हुआ था' ।"

मौलाना हाली के रोज़मर्रा और मुहावरा संबंधी ऊपर के विचारों को स्पष्ट करते हुए पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय अपने 'बोलचाल' ग्रंथ में, पृ० १२६ पर लिखते हैं :—

"मौलाना हाली ने उन वाक्यों के विषय में कुछ नहीं लिखा जो शब्दयोजना के विरुद्ध सांकेतिक अर्थ द्वारा भाषा-मर्मज्ञों अथवा सर्वसाधारण में गृहीत हैं, जैसे 'मुँह में ताला लगा होना', 'फूटी आँख से न देखना', इत्यादि । उन्हों ने 'तीन-पाँच करना' का अर्थ झगड़ा-टंटा करना लिख कर और उस को मुहावरा मान कर रूपांतर से इस बात को स्वीकार किया है, परंतु जैसे अफ़आल (क्रियाओं) का उदाहरण देकर और उन की परिभाषा लिख कर उन को मुहावरा सिद्ध किया है, उसी प्रकार वाक्य के विषय में कोई परिभाषा नहीं लिखा । यद्यपि अधिकतर मुहावरे के अर्थ में सांकेतिक अर्थ द्योतक वाक्य ही गृहीत होते हैं; तथापि मैं यह कहूँगा कि मौलाना साहब ने मुहावरा के विषय में जो कुछ लिखा है, उस का निचोड़ यही है, कि मुहावरा के दो रूप हैं, एक वह जिस को हम 'रोज़मर्रा' या बोलचाल कह सकते हैं, और दूसरा मुख्य मुहावरा जो किसी वाक्य के

---

[1] किसी भाषा के विशेष ढांचे में ढले वाक्य को ही 'रोज़मर्रा' कहते हैं । यह ढाँचा ठीक है अथवा नहीं, इस के भी अंतिम निर्णायक उस भाषा के बोलने वाले (अहले ज़बान) ही होते हैं ।

सांकेतिक अथवा लाक्षणिक अर्थ द्वारा विदित होता है। किसी क्रिया में स्वतः मुहावरा के रूप में गृहीत होने की शक्ति नहीं है, वह जब किसी विशेष संज्ञा के साथ मिल कर वाक्य में परिणत होती है, और अपना साधारण अर्थ छोड़ कर विशेष अर्थ देती है, तभी उस की मुहावरा संज्ञा होती है, ऐसी अवस्था में प्रधानता वाक्य ही की हुई।"

ऊपर मुहावरे के स्वरूप के विषय में विद्वानों के मत का उल्लेख किया गया है। अब मुहावरे के महत्व के संबंध में कुछ लिखना अनुचित न होगा। वास्तव में मुहावरे किसी जीवित भाषा के प्राण होते हैं। यह कहा जा चुका है कि लक्षणा तथा व्यंजना द्वारा सिद्ध वाक्य को ही मुहावरा कहते हैं। इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग से सब से अधिक लाभ यह होता है कि केवल कतिपय वाक्यों के सहारे ही अनेक भावों की अभिव्यंजना हो जाती है। मौलाना हाली इन के महत्व के संबंध में 'मुक़द्दमा शेर व शायरी' में लिखते हैं :—

मुहावरे का महत्व

"मुहावरा अगर उम्दा तौर से बाँधा जावे तो बिला शुबहा पस्त शेर को बलंद और बलंद को बलंदतर कर देता है।"

इस में तनिक भी संदेह नहीं कि उचित मुहावरों के प्रयोग से शैली में माधुर्य, सौंदर्य तथा शक्ति आ जाती है।

मुहावरों की उत्पत्ति

मुहावरों की उत्पत्ति के संबंध में पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय अपने 'बोलचाल' के पृष्ठ १३६-३७ पर लिखते हैं :—

"मनुष्य के कार्य-क्षेत्र विस्तृत हैं, उस के मानसिक भाव भी अनंत हैं। घटना और कार्य-कारण परंपरा से जैसे असंख्य वाक्यों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार मुहावरों की भी। अनेक अवसर ऐसे उपस्थित होते हैं, जब मनुष्य अपने मन के भावों को कारण-विशेष से संकेत अथवा इंगित किंवा व्यंग द्वारा प्रकट करना चाहता है। कभी कई एक ऐसे भावों को थोड़े शब्दों में विवृत करने का उद्योग करता है, जिन के अधिक लंबे चौड़े वाक्यों का जाल छिन्न करना उसे अभीष्ट होता है। प्रायः हास-परिहास, घृणा, आवेग, उत्साह आदि के अवसर पर उस प्रवृत्ति के अनुकूल वाक्य-योजना होती देखी जाती है। सामयिक अवस्था और परिस्थिति का भी वाक्य-विन्यास पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। और इसी प्रकार के साधनों से मुहावरों का आविर्भाव होता है।"

आर्य-परिवार की आधुनिक भाषाओं में अनेक विचारधाराएं संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि से आई। इन विचारधाराओं के साथ-साथ मुहावरों का आना भी अवश्यंभावी था; किंतु प्राचीनता के कारण इन भाषाओं के मुहावरों का पता लगाना सहज काम नहीं। अवश्य ही इन प्राचीन भाषाओं में कतिपय ऐसे मुहावरे होंगे जो यूरोप तथा एशिया की भिन्न-भिन्न प्राचीन आर्यभापाओं, जैसे लैटिन, ग्रीक, अवेस्ता तथा पुरानी फ़ारसी आदि में भी मूलतः एक ही रूप में होंगे। इन मूल मुहावरों के पता लगाने से आर्यों की प्राचीन संस्कृत पर भी प्रकाश पड़ सकता है; किंतु इस ओर कदाचित् अब तक प्रशंसनीय प्रयत्न नहीं किया गया है। यहाँ आधुनिक भापाओं के मुहावरों के सहारे संस्कृत मुहावरों के संबंध में विचार किया जाता है।

संस्कृत में मुहावरे

'पंचतंत्र' के नीलवर्ण शृगाल की कथा में एक वाक्य है, "अर्धचंद्रम् दत्वा निस्सारितः"। इस में 'अर्धचंद्र देना' एक मुहावरा है। इस का अर्थ है 'गरदनिया देना' अथवा 'गला पकड़ कर बाहर निकाल देना'। इसी बात को राजशेखरकृत 'कर्पूरमंजरी' की प्रथम 'जवनिका' में 'विचक्षणा' विदूपक से इस प्रकार घुमा-फिरा कर कहती है कि वहां से मुहावरा ही ग़ायब हो गया है। वह वाक्य इस प्रकार है :—

इध राअउले तं दे भोदु कण्ठट्ठिदं जं भअवं तिलोअणो सीसे समुव्वहदि[1]

अर्थात् इस राजकुल में तुम्हारे कंठ पर वही स्थित हो जिसे भगवान् त्रिलोचन अपने सिर पर धारण करते हैं।

'जीभ गिर जाना' हिंदी का एक मुहावरा है। इस का अर्थ है 'मुँह बंद हो जाना'। किसी मनुष्य के मुख से कोई अशिष्ट वात सुन कर लोग प्रायः कह उठते हैं—'तुम्हारी जीभ गिर जाय'। इस मुहावरे का प्रयोग गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामायण की निम्नलिखित चौपाई में भी किया है :—

राम मनुज बोलत अस बानी।
गिरहिं न तव रसना अभिमानी।

---

[1] **संस्कृत रूप : 'इह राजकुले तत् ते भवतु कण्ठस्थितं यत् भगवान् त्रिलोचनः शीर्षे समुद्वहति।'**

यह मुहावरा 'वेणीसंहार' के तृतीय अंक में अश्वत्थामा द्वारा कथित वाक्य में इस रूप में मौजूद है :—

कथमेवं प्रलपतां वः सहस्रधा न दीर्णमनया जिह्वया

अर्थात् 'इस प्रकार वार्तालाप करते हुए तुम्हारी जीभ के सहस्र टुकड़े क्यों नहीं हो जाते ?'

पालि में मुहावरे

संस्कृत की अपेक्षा पालि से मुहावरे ढूँढ़ लेना सरल है। यहां 'उदान'[1] से दो मुहावरे दिए जाते हैं।

भोजपुरी का एक मुहावरा है "मछरी के बॉजार लॉगावल" अथवा "मछरी मारल"। मछली के बाज़ार में अथवा मछली पकड़ते समय बड़ा शोर गुल होता है। इस मुहावरे का अर्थ भी "शोर गुल होना" ही है। इस का ठीक प्रतिरूप पालि में इस प्रकार मिलता है :—

केवट्टा मञ्ञे मच्छं विलोपेन्ति[2]

अर्थात् 'मछुए मानो मछली मार रहे हों', भारी शोरगुल हो रहा है।

किसी बात का मन में बैठ जाना हिंदी का एक मुहावरा है। भोजपुरी में इस मुहावरे का रूप है, मन में बइठल। इस का ठीक रूप इसी अर्थ में पालि में है, अर्थात्

"चित्तानि नमेन्ति"[3]

आधुनिक भाषाओं का प्राकृत से अत्यंत सन्निकट का संबंध है। अतएव इन में

प्राकृत में मुहावरे

मुहावरों का मिलना सर्वथा स्वाभाविक है। नीचे उदाहरण-स्वरूप दो मुहावरे दिए जाते हैं।

हिंदी में एक मुहावरा है—"मुँह पर मोहर लगाना" 'कर्पूरमंजरी' में यह मुहावरा "मुद्देसुमुद्दा"[4] रूप में मिलता है। इसी प्रकार 'बुलाने' के अर्थ में प्राकृत का "शद्दावेदि"[5] 'शब्द करना' मुहावरा मिलता है।

---

[1] बुद्ध-धर्म के सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रंथों, 'सूत्रपिटक', 'विनयपिटक', तथा 'अभिधर्मपिटक' से हिंदी के विज्ञ पाठक सुपरचित होंगे। इन में 'सूत्रपिटक' के अंतर्गत 'दीघ', 'मज्झिम', 'संयुक्त', 'अंगुत्तर', तथा 'खुद्दक निकायों' की गणना होती है। 'खुद्दक निकाय' में कुल पंद्रह ग्रंथ हैं। इन्हीं में एक 'उदान' भी है।

[2] नंदवग्ग, ३ [3] 'पाटलिगामीयवग्ग', ८ [4] मुखेषु मुद्रा।

[5] अले के मं शद्दावेदि (अरे का मां शब्दायते) 'वेणीसंहार', अंक ३

उर्दू के कवि और लेखक गद्य तथा पद्य में रोज़मर्रा और मुहावरे के महत्व को खूब जानते हैं। इस विषय में, मौलाना हाली की सम्मति अन्यत्र उद्धृत की जा चुकी है। उदाहरण-स्वरूप कुछ शेर नीचे दिए जाते हैं। मुहावरों के नीचे लकीर खींच दी गई हैं :—

उर्दू में मुहावरे

न छेड़ ऐ नखते बादे बहारी राह लग अपनी।
तुझे अठखेलियां सूझी हैं यां बेज़ार बैठे हैं॥

(इन्शा उल्ला ख़ां)

गदा समझ के वह चुप था मेरी जो शामत आए।
उठा और उठ के क़दम में ने पासबां के लिए॥

(ग़ालिब)

बाल चोटी के करेंगे बदनाम।
ये मुए पीछे पड़े रहते हैं।
यह किस ने जाके शिगूफ़ा चमन में छेड़ दिया।
कि आज तक गुलो बुलबुल में बोल चाल नहीं॥

यह कहा जा चुका है कि जीवित भापाओं के मुहावरे प्राण हैं और इन के उचित प्रयोग से शैली तथा शक्ति की अभिवृद्धि होती है। उदाहरण के लिए स्वर्गीय पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा पंडित रामचंद्र जी शुक्ल की शैलियां ली जा सकती हैं। इन दोनों आचार्यों की शैलियों की एक बड़ी विशेषता यह है कि पांडित्य तथा गांभीर्य के अतिरिक्त उस में रोज़मर्रा तथा मुहावरों का उचित उपयोग हुआ है। स्थान-संकोच से उदाहरण नहीं दिए जा सकते।

हिंदी में मुहावरे

हिंदी के पुराने कवि भी मुहावरों का पर्याप्त ध्यान रखते थे, यह बात निम्नलिखित पदों के देखने से स्पष्ट हो जायगी :—

भामिनि भयेहु दूध की माखी।

(रामायण)

हाथ झार जस चलै जुआरी।

(पद्मावत)

बड़े पेट के भरन में है रहीम दुख बाढ़ि।
याते हाथी हहरि कै दये दाँत द्वै काढ़ि॥

(रहीम)

मुहावरों के संबंध में ऊपर लिखा जा चुका है। अब यहां 'भोजपुरी मुहावरों' पर कुछ लिखा जायगा। भोजपुरी बोली की सीमा आदि के संबंध में इसी पत्रिका में प्रकाशित 'भोजपुरी लोकोक्तियां'[1] शीर्षक के अंतर्गत विचार किया जा चुका है। उसे यहां दुहराने की आवश्यकता नहीं। उस लेख में यह दिखलाया जा चुका है कि भोजपुरी लोकोक्तियों में स्पष्टवादिता का प्राचुर्य है। वास्तव में भोजपुरी मुहावरों के विषय में भी यह बात सर्वथा सत्य है।

भोजपुरी मुहावरों के संबंध में

युद्ध-प्रिय होने के कारण भोजपुरियों को वाह्याडंबर से स्वाभाविक घृणा है। इसी कारण इस विषय के अनेक मुहावरे भी हैं। उदाहरण के लिए कुछ मुहावरे नीचे दिए जाते हैं :—

(१) ताथा बाँढ़ावल।
(२) पोंभि बाँढ़ावल।
(३) खटराग बाँढ़ावल।
(४) टिमाक बाँढ़ावल।

भोजपुरी लोकोक्तियों की भाँति कहीं-कहीं मुहावरों में भी गहरा व्यंग्य है। विवाह के समय वर तथा कन्या पक्ष के पुरोहित अपने-अपने पक्ष के पिता-पितामह आदि के नाम तथा गोत्र का उच्चारण करते हैं। इसे भोजपुरी में "गोतरुचार" कहते हैं। किंतु व्यंग्य में "गोतरुचार कइल" का अर्थ होता है 'गाली-गलौज करना'। इसी प्रकार "देवता भइल" तथा "महापुरुष भइल" का अर्थ होता है, 'दुष्ट प्रकृति का होना' और "कचर कूट कइल" का व्यंग्यार्थ है, 'खूब छक कर खाना'।

भोजपुरी के अतिरिक्त बिहार में मगही और मैथिली बोलियां प्रधान हैं। इन

[1] 'हिंदुस्तानी', अप्रैल, जूलाई १९३९

में साहित्यिक दृष्टि से मैथिली का स्थान बहुत ऊँचा है। वास्तव में बिहार की बोलियों में मैथिली ही ऐसी है जो वहां की अन्य बोलियों की उत्पत्ति तथा विकास का इतिहास लिखने में सहायक सिद्ध हो सकती है। नीचे कतिपय ऐसे मुहावरे उद्धृत किए जाते हैं जो भोजपुरी, मैथिली तथा मगही में एक ही रूप में मिलते हैं। सुविधा के लिए इन मुहावरों के अर्थ तथा भिन्न-भिन्न बोलियों में प्रयोग भी नीचे दिए जाते हैं।

भोजपुरी तथा बिहार की अन्य बोलियों के मुहावरों की तुलना

भोजपुरी	मैथिली	मगही	अर्थ
(१) लँगोटिया इग्रार भइल	लँगोटिया इग्रार भेलाह	लँगोटिया इग्रार भेल	घनिष्ट मित्र होना
प्रयोग—उ हाँमाँर लँगोटिग्रा इग्रार हउए।	ग्रो हमर लँगोटिग्रा इग्रार भेलाह।	उ हम्मर लँगोटिया इग्रार होल।	
(२) नियति बिगरल	नियति बिगड़ल	नियति बिगड़ल	बेइमान हो जाना
प्रयोग—उन्कर [हुन्हिकर] नियति बिगरि गइल	हुनक नियति बिगडि गेलन्हि	हुन्हुकर नियति बिगड़ गेल।	
(३) डाँड़ परल	डाँड़ पड़ल	डाँड़ पड़ल	नुक़सान होना
प्रयोग—उन्का डाँड़ परि गइल	हुनका यहि व्यापार में बहुत डाँड़ लगलन्हि	उन्का बॉड़ा डाँड़ पड़ गेल।	

स्थान-संकोच से और उदाहरण नहीं दिए जा सकते, किंतु इस संग्रह में अनेक ऐसे मुहावरे होंगे जो मैथिली तथा मगही में उसी रूप में मिलेंगे। मेरा तो ख़याल है कि अन्य मागध भाषाओं, जैसे बँगला, उड़िया आदि में भी थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ ये मुहावरे मिलेंगे। भोजपुरी का एक मुहावरा है "हरस दीरिघ के ग्यान ना भइल"। इस का प्रयोग है "ओकरा हरस दीरिघ के ग्यान नइखे"। बँगला में भी यह मुहावरा इसी रूप में मिलता है। इस का प्रयोग है, "ताहार ह्रस्व दीर्घेर ज्ञान नाई"।

संग्रह में कतिपय अशिष्ट मुहावरे भी मिले थे, किंतु उन्हें इस से पृथक् रक्खा गया है।

इस संग्रह को प्रस्तुत करने में अनेक सज्जनों ने मेरी सहायता की है। उन के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करना मेरा धर्म है। मुहावरों को अकारादि क्रम से रखने में ठाकुर सुदर्शनसिंह ने मेरी विशेष-रूप से सहायता की। आप के अतिरिक्त श्री गंगाधर इनदूरकर, ठाकुर रामेश्वरप्रसाद सिंह, पंडित शारदाप्रसाद मिश्र तथा मेरे अनुज पंडित विश्वनाथ तिवारी ने भी मेरी पर्याप्त सहायता की। श्री राहुल सांकृत्यायन, भिक्षु जगदीश काश्यप, डाक्टर उमेश मिश्र तथा श्री क्षेत्रेशचंद्र जी चट्टोपाध्याय का भी मैं अत्यंत आभारी हूं। इस संग्रह में पालि, मगही, मैथिली तथा बँगला संबंधी सामग्री आप लोगों की ही कृपा का फल है। डाक्टर बाबूराम जी सकसेना का मैं विशेष रूप से आभारी हूं। आप के ही निरीक्षण में भोजपुरी संबंधी संग्रह तथा अनुसंधान का यह कार्य चल रहा है।

उच्चारण चिह्न

'भोजपुरी लोकोक्तियां' शीर्षक में ह्रस्व 'आ' के लिए ॅ चिह्न का प्रयोग किया गया था। इस लेख में वही चिह्न है। जैसे 'ऑगॉराइल' में 'आ' तथा 'गा' के 'आ' का उच्चारण 'अ' तथा 'आ' के बीच का होगा। इसी प्रकार 'ए' तथा 'ओ' के ह्रस्व रूप भी भोजपुरी में वर्तमान हैं। इस ह्रस्व उच्चारण को प्रदर्शित करने के लिए इन अक्षरों के नीचे लकीर खींच दी गई है। जैसे "एकबदि विगड़ल" तथा "ओझाई कइल" में 'ए' तथा 'ओ' ह्रस्व हैं।

मुहावरों की सूची

प्र०=प्रयोग

अँइठि के चलल—गर्व से चलना। प्र०—का 'अँइटि के चल (अ) तार (अ)'?

अँकवारि पूजल—कार्य पूर्ण होना। प्र०—तोहार 'अँकवारि पूजल न्' चाहे दोसैरा के किछऊ होखो।

अँखिगर भइल—अँखिगर (दिव्य दृष्टि वाला) मंत्र तंत्र जानने वाले ओझा को कहते हैं। प्र०—उ 'अँखिगर' हउए।

अँखि देखारे कइल—प्रत्यक्ष काम करना। प्र०—इ बड़ बदमास बाटे, 'अँखि-देखारे' अइसन काम कर(अ)ता।

अँखिफोर भइल—कुत्ते बिल्ली आदि के बच्चों की आँख पैदा होने के कुछ दिन बाद खुलती है। तब उन्हें 'अँखिफोर' होना कहते हैं। व्यंग्य में मनुष्य के लिए भी इस

का प्रयोग होता है। इस का अर्थ होता है—'चालाक या बुद्धिमान होना।' प्र०—अब इ 'अँखिफोर' हो गइले।

अँखि मटकउअलि कइल—आँखें मटकाना, इशाराबाज़ी करना। प्र०—कतनो अँखि मटकउअलि कर(अ)' अब तोहार जान ना बाँची।

अँगुरी चाँमाँकावल—बात चीत या लड़ाई करते समय हाथ और उँगलियों को हिलाना या मटकाना। यह विशेष कर स्त्रियों और ज़नखों का स्वभाव है। प्र०—उए, होकर 'अँगुरी चाँमाँकावल' देख(अ) तार(अ)।

अँगुरी देखावल—निंदा करना। प्र०—ए घरी उन्हिका के मए गाँव 'अँगुरी देखाव(अ)ता'।

अँगुरियावल—उँगलियाना, परेशान करना। प्र०—ढेर 'अँगुरियावल' नीक ना ह(अ)।

अंडा सेवल—प्रतीक्षा करना। प्र०—का 'अंडा सेव(अ)तार (अ)'।

अँतरासें सूखल—डर के मारे सूखते जाना। प्र०—उ 'अँतरासे सूखल' जाता।

अंतिआवल—जानबूझ कर किसी बात पर अनभिज्ञता प्रकट करना। प्र०—का 'अंतिआव(अ)' तार (अ) कुल्हि बात त तोहरा मॉलुमे बा।

अँवटि घालल—परेशान करना। प्र०—तूँ त (अ) 'अँवटि घलले' बाड़ (अ)।

अँवासल—नवीन कोरी वस्तु विशेषतया मिट्टी के वर्तन का प्रथम प्रयोग करना। प्र०—आजु एगो कँहतरी 'अँवासि द (अ)'।

अइगा दिहल—निमंत्रण देना। प्र०—आजु बाबा जी लोग के 'अइगा दिहल' बा।

अइनि बोकरल—अइनि=आईन (अ०)=क़ानून। बहुत बहस-मुबाहसा करना। प्र०—इहाँ का बहुत 'अइनि बोकरिलें'।

अकिलि के पूरा भइल—अकिलि=अक़्ल (अ०) मूर्ख होना। प्र०—इहाँ का 'अकिलि के पूरा हउईं'।

अकेला घर में छकेला मारल—अकेले घर में खूब मौज उड़ाना। प्र०—उ (वह स्त्री) 'अकेला घर में छकेला मार (अ) तारी'।

अखज भइल—अखज=अखज (अ०)=ग्रहण करना। भोजपुरी में इस का अर्थ है निषिद्ध वस्तुओं का भोजन करने वाला होना। मैले-कुचैले घृणित मनुष्य पर भी मुहावरे का प्रयोग होता है। प्र०—इ बॉड़ा भारी 'अखज हवे'।

अखड़ल—जब दो साँड़ लड़ने के लिए आमने-सामने आते है तो पहले वे अपने अगले पैरों से ज़मीन गोड़ने लगते हैं। इसे 'अखड़ना' कहते हैं। व्यंग्य में मनुष्य के लिए भी इस का प्रयोग होता है। तब इस का अर्थ होता है—शोर करते हुए क्रोध प्रदर्शित करना। प्र०—सीताराम भइया त (अ) आजु बॉड़ा 'अखड़त' रहले हा।

अखड़ेरे जान गइल—मुफ़्त में प्राण जाना। प्र०—ए में उन्हिकर इचिकिओ दोस ना रहे, ओ बेचारू के त (अ) 'अखड़ेरे जान गइल'।

अखरल—दुख अनुभव करना। प्र०—आजु उन्हुकर ए मोका पर ना रहल बॉड़ा 'अखर (अ) ता'।

अगुआ भइल—अगुआ=अग्रगामी। विवाह पक्का कराने वाला 'बिचवई' जिसे बँगला में 'घटक' कहते हैं। प्र०—ए बिआह में ऊहे 'अगुआ बाड़े'।

अछरंग लॉगावल—दोषारोपण करना। प्र०—उ हॉमॉरा के 'अछरंग लॉगाव (अ) तारे'।

अछरि कट्टू भइल—अछरि कट्टू=अक्षर काटने या लिखने वाला। अक्षर जानने वाला होना, कुछ कुछ पढ़ा लिखा होना। प्र०—उन्हि 'अछरि कट्टू' हउअनि।

अछोप भइल—निकृष्ट कर्म करने वाला होना। प्र०—मार (अ) एकरा कें इ 'अछोप हवे'।

अड़बॉड़ाइल—काम ठीक न चलना। प्र०—एकरा ना रहला से हॉमार कामे 'अँड़बॉड़ाइल' बा।

अदँक समाइल—अदँक=आतंक। भयभीत होना। प्र०—ओकरा मन में 'अदँक समाइल' बा।

अधभेसरि भइल—मूर्ख होना। प्र०—आरे इ अधभेसरि हउअनि हो।

अधर में परल—दुविधा में पड़ना। प्र०—उ 'अधर में परल' बाड़े, उन्हिका बुझात नइखे जे का करसु।

अधिका चलल—अनीति करना। प्र०—'अधिका चलल' नीक ना ह (अ)

अनखुन खोजल—ज़बरदस्ती बहाना ढूँढना। प्र०—उ रोबे खातिर 'अनखुन' खोज (अ) ता।

अनभल ताकल—बुराई चाहना। प्र०—उ केहु के 'अनभल ताकल' ना चाहे ले।

अन्मुनाहे गइल—तड़के जाना। प्र०—उ 'अन्मुनाहे गइले' हा।

अनेति कइल—अनीति करना, ज़ुल्म करना। प्र०—का 'अनेति कइले' बाड़ (अ)।

अनेति चलल—लोक तथा समाज के विपरीत चलना। प्र०—आजु कालिह उ बॉड़ा 'अनेति चल' (अ) तारे।

अनेरिया भइल—व्यर्थ होना, किसी काम का न होना। प्र०—इ 'अनेरिया भइल' फिर (अ) ता।

अंत ना पावल—भेद न पाना, रहस्य न जान पाना। प्र०—उन्करा घर के केहु 'अंत ना पावे'।

अंते गइल—(अंते=अन्यत्र) अन्यत्र जाना। प्र०—उन्हि आजु 'अंते गइल' बाड़े।

अन्हुआइल—अर्द्ध निद्रितावस्था में होना। प्र०—का 'अन्हुआइल' बाड़ (अ), उठत काँहें नइख (अ)।

अन्हे बतियावल—पीठ पीछे निंदा करना। प्र०—केहु का 'अन्हे ना बतियावे' के चाहीं।

अन्हेर मचावल—(अन्हेर=अंधेर) अत्यंत अत्याचार करना। प्र०—का 'अन्हेर मचवले' बाड़ (अ)।

अपने ओटल—अपनी ही बात करना, और किसी की न सुनना। प्र०—उ 'अपने ओटेले', उन्का दोसरा केहु के थोरे सुने के बा।

अपपी भइल—कमज़ोर होना। प्र०—उ बॉड़ा 'अपपी हवे'।

अफनाइल—छक जाना। प्र०—उ खाइ के 'अफनाइल' बाड़े।

अभवा सोचल—अनुमान करना। प्र०—इहाँ का 'अभवे सोचीलें'।

अम्मर के घरिआ पिअल—आशा से अधिक दिनों तक जीना। प्र०—इ 'अम्मर के घरिआ पिअले' बाडे।

अरई कइल—परेशान करना। प्र०—राति दिन केहु का 'अरई कइल' नीक ना ह (अ)।

अरकस बथुआ बिटोरल—(बथुआ=एक प्रकार का शाक जो गाँवों में बहुत सस्ता मिलता है।) निरर्थक वस्तुओं का संग्रह। प्र०—का 'अरकस बथुआ बटोरले' बाड़ (अ)।

अरधी राखल—पाणिग्रहण संस्कार के बिना ही किसी स्त्री को रख लेना। प्र०—उ 'अरधी रखले' बा।

अर्की के आइल—विशेष तौर पर आना। प्र०—का हम आजु 'अर्की के आइल' बानी।

अर्की के चॉलान चलावल—नया रिवाज चलाना। प्र०—का 'अर्की के चॉलान चलवले' बाड़ (अ)।

अरठ भइल—जल्दी टूटने वाला होना। प्र०—सहिजन के डाढ़ि बॉड़ा 'अरठ होले'।

अरे खाइल परें पादल—मौज उड़ाना। प्र०—उ 'अरे खातारे परें पाद (अ) तारे'।

अलहदी भइल—सुस्त होना। प्र०—का 'अलहदी भइल' बाड़ (अ)।

अल्हड़ भइल—अनुभव शून्य होना। प्र०—उ 'अल्हड़ ह' (अ), उ का जाने।

अवतार भइल—दुष्ट प्रकृति का होना। प्र०—इहाँ का 'अवतार हउई'।

अवहल—विफलता के कारण हृदय में विशेष रूप से कष्ट की अनुभूति करना। प्र०—कुल्हि काम कइलसि तबो ना ओकरा मेहरारू के जान बाँचल; एही से ओकरा बॉड़ा 'अवह (अ) ता'।

आँगॉराइल—अत्यंत हर्षित होना। प्र०—आजु तूँ बॉड़ा 'आँगॉराइल' वाड़ (अ)।

आॅन का बल पर फउकल—किसी दूसरे का सहारा पाकर बहुत बढ़-चढ़ कर बोलना। प्र०—उ 'आॅन्का बल पर फउक (अ) तारे'।

आॅन्हारे मुँह गइल—तड़के जाना। प्र०—उ 'आन्हारे मुँह गइले' हा।

आँवाँकाति से बाहर कइल—शक्ति से अधिक काम करना। प्र०—हती मुकी त (अ) बा, बाकी 'आँवाँकाति से बाहर काम करेला'।

आँसाँरा टूटल—निराश होना। प्र०—अब उनुकाँरा बाँचे के 'आँसाँरा टूटि गइल' बा।

आँसाँरा दिहल—आश्रय देना, वचन देना। प्र०—जे तोहारा के 'आँसाँरा दिहल' ओकरे से इ हालि कइले बाड़ (अ); तोहरे 'आँसाँरा दिहाँला' से त इ काम होता।

आँसाँरा देखल—इंतज़ार करना। प्र०—कबे से तोहार 'आँसाँरा देखत रहली' हा।

आँखि आइलि—आँखों का उठना। प्र०—कई दिन से उनिकर 'आँखि आइलि' बा।

आँखि ओंखि टँगाइल—मृत्यु के सन्निकट पहुँच जाना। प्र०—धउर (अ) ए दादा, उन्हुकर 'आँखि ओंखि टँगा गइल' बा।

आँखि कवड़ेना भइल—कौड़ी की तरह साफ़ तथा बड़ा होना। प्र०—उन्हिकर 'आँखि त कवड़ेना ह (अ)'।

आँखि के ओट कइल—आँखों के सामने से हटाना। प्र०—हम इन्हिका के 'आँखि के ओट कइल' नइखीं चाहत।

आँखि के पुतरी भइल—अत्यंत प्यारा होना। प्र०—बबुआ त हमरा 'आँखि के पुतरी हउए'।

आँखि खुलल—आँख खुलना, बुद्धिमान होना। प्र०—अब इ वाँहरा रहतारे, इन्हिकर 'आँखि खुलि गइलि'।

आँखि गिड़ोरल—(गिड़ोरल=गड़ोरना) आँख गड़ोरना, आँखों से क्रोध प्रदर्शित करते हुए, धमकी देना। प्र०—का 'आँखि गिड़ोरले' बाड़ (अ), हम का तोहरा जगहि में बसल बानी।

आँखि चमकावल—आँख मटकाना। प्र०—का 'आँखि चमकावत' रहलु हा।

आँखि झँपल—नींद आना। प्र०—ओ घरी हाँमार 'आँखि झँपि गइल' रहे।

आँखि ताँखि निकलल—बेहोश हो जाना। प्र०—जब उ ई समाचार सुन (अ) ले, त उन्हुकर 'आँखि ताँखि निकलि' गइलि।

आँखि देखावल—आँख दिखाना, धमकी देना। प्र०—हम केहु के 'आँखि देखावल' सहि ना सकीलें।

आँखि नै ठहरल—किसी अत्यंत उज्ज्वल तथा चमकती हुई वस्तु को देख कर इस मुहावरे का प्रयोग करते हैं। प्र०—इ अइसन साफ बाटे जे एकरा पर 'आँखि नइखे ठहरति'।

आँखि निकालल—शत्रु को जोर की धमकी देना। प्र०—एह पारीं हम तोहार 'आँखि निकाल् लेबि'।

आँखि नीचे कइल—लज्जा करना। प्र०—का 'आँखि नीचे कइले' बाड़ (अ) तनी सोझ ना ताक (अ)।

आँखि फरकल—आँख की पलक का बार-बार हिलना, इस से लोग शुभाशुभ की पहचान करते हैं। प्र०—आजु हॉमॉर दहिनी आँखि फरकल बा, देखीं त (अ) का मिलेला।

आँखि फेरल—मित्रता तोड़ना, प्रतिकूल होना। प्र०—काहें तू 'आँखि फेरले' बाड़ (अ)।

आँखि बइठलि—आँख फूटना। प्र०—जब से ओकरि 'आँखि बइठलि' तब से का केहू ओकरा के पूछ (अ) ता।

आँखि बॉचावल—कतरा कर जाना। प्र०—उ ए घरी 'आँखि बॉचाइ' के भागि जा तारे।

आँखि मुना गइल—आँख बंद हो जाना; मृत्यु को प्राप्त हो जाना। प्र०—जब ले बयद अइले तब ले उन्हुकर 'आँखि मुना गइल'।

आँखि में आँजन कइल—आँख में अंजन करना, परेशान करना। प्र०—अबहीं तोहरा मरद से भेंट ना भइल रहल हा। चल (अ), अब तोहरा 'आँखि में आँजन कइ देबि'।

आँखि में काचा बइठल—अंधा अथवा अंधे के समान हो जाना। प्र०—का तोहरा 'आँखि में काचा बइठल बा'।

आँखि में राखल—यत्न से रखना। प्र०—उन्हिका के त तू 'आँखि में रखले' रहे ल (अ)।

आँखि लागल—आँख लगना; नींद आ जाना। प्र०—जब उ अइले त 'आँखि लागल' रहे।

आँखि से भादो खेपल—कमज़ोरी दिखलाना। प्र०—एही "आँखि से भादो खेपाई'?

आँखि आँजन कइल—मारने, पीटने अथवा किसी को दुरुस्त कर देने के लिए धमकी देना। प्र०—ए पारीं हम तोहरा 'आँखी आँजन कइ देबि'।

आँखी देखल—अपशकुन देखना। प्र०—ए बबुआ, बुझाता जे आजु तूँ किछु 'आँखी देखले' बाड़ (अ)।

आँखी में गड़ल—बुरा लगना; पसंद आना। प्र०—इ हॉमॉरा 'आँखी में गड़ल' बाड़े। हइसन वा, एही से नू ओकरा 'आँखी में गड़ल' बा।

आँगे आइल—आविर्भाव होना। प्र०—ओकरा 'आँगे माता आइल बाड़ी'।

आँचरा तर तोपल—अंचल के नीचे छिपाना। प्र०—चउथि के चान 'आँचरा तर ना तोपाला'।

आँजल—अपनी बराबरी का न समझना। प्र०—उ अपना आगे केहुके 'आँजल' नइखे।

आँजुरि दीहल—आँजुरि=अंजलि। बोआई के समय प्रति दिन जब सध्या समय अनाज बच जाता है तो अंजलि में भर-भर कर बढ़ई लोहार तथा हलवाहे को देते हैं। इसे 'आँजुरि देना' कहते हैं। प्र०—जल्दी 'आँजुरि दीं', जे हम जाईं।

आँट परल—आँट=गाँठ। गाँठ पड़ना, शत्रुता होना। प्र०—आजु काल्हि उन्करा से 'आँट परल' बा।

आँट लिहल—भेद लेना। प्र०—हम उन्हुकर 'आँट लिहलीं' हाँ, बाकी उ तेयार नइखन होत।

आँवक में आइल—क़ब्ज़े में आना। प्र०—उ हॉमॉरा 'आँवक में नइखे आवत'।

आॅकास में चकती लगावल—असंभव कार्य करने का दम भरना। प्र०—इहां का 'आॅकास में चकती लगाइलें'।

आग पाछ जानल—भूत भविष्य जानना। प्र०—उ 'आग पाछ जानत' रहे।

आग पाछ में परल—दुविधा में पड़ना। प्र०—का 'आग पाछ में परल' बाड़ (अ)।

आगा सँभारल—मुँहड़ा सँभालना। प्र०—जा 'आगा सँभाल' (अ) गे, एज्रूत हम बटले बानी।

आगि बरिसल—बहुत गर्मी पड़ना, लू चलना। प्र०—आजु काल्हि 'आगि बरिस (अ) ता'।

आगि लॉगा के तॉमासा देखल—झगड़ा खड़ा करके मनोरंजन करना। प्र०—ए घरी 'आगि लॉगा के तॉमासा देखल' त (अ) इन्हिकर कामे वा।

आगी में झोंकल—आफ़त में डाल देना। लड़की को ऐसे घर ब्याह देना जहां उसे हरदम कष्ट हो। प्र०—जे हॉमॉरा धिया के 'आगि में झोंकल' हा ओकर भाला ना होखे।

आगी में मूतल—आग में पेशाब करना, अत्याचार करना। प्र०—ढेर 'आगि में ना मूते के'।

आगे निकलल—आगे बढ़ जाना। प्र०—ऑतॉना तेज दउरे ला की कुल्ही जाना से 'आगे निकल जाला'।

आगो मागो कइल—मूर्खता करना। प्र०—का 'आगो मागो कइले' बाड़ (अ)।

आजु काल्हि कइल—बहाना करना। प्र०—का 'आजु काल्हि कइले' बाड़ (अ)।

आधि न रहल—मर्यादा न रहना। प्र०—अब ओ लोगनि के कवनो 'आधि नइखे'।

आन्ही उठावल—हलचल मचाना। प्र०—आजु का इ 'आन्ही उठवले' बाड़े।

आन्ही के आम भइल—बिना परिश्रम के मिली वस्तु; थोड़े दिन रहने वाली वस्तु। प्र०—एकॉरा के नइखे पूछे के, इ 'आन्ही के आम ह'।

आन्ही भइल—तेज होना। प्र०—हमनिओं का चलबि जा हो, खाड़ा रह (अ), का 'आन्ही भइल' बाड़ (अ)।

आपन कइल—अपने अनुकूल करना। प्र०—उन्हिका के का 'आपन कइल' चाह (अ) तार (अ)?

आपन खून भइल—अपने वंश का होना; सगोत्री होना। प्र०—उन्हि 'आपन खून हउए'।

आपन घर भइल—आराम की जगह होना; संकोच का स्थान न होना। प्र०—इ 'आपने घर ह' जब मन करे तब चलि अइलीं।

आपुस के भइल—अपना भाई-बंधु या निकट संबंधी होना। प्र०—इ सभ केहु 'आपुसे के ह'।

आफति ढाहल—उपद्रव मचाना। प्र०—तूँ त (अ) 'आफति ढहले बाड़' (अ)।

आभा में परल—स्वप्न देखना; विपत्ति में पड़ना। प्र०—आजु रातिखानी हम 'आभा में परल' रहली हाँ। आजु कात्हि हम 'आभा में परल बानी'।

आम दरफ भइल—आम दरफ=आमद-रफ़्त। घनिष्टता होना। प्र०—ए लोग काँ आपुस में आजु काल्हि 'बाँड़ा आम दरफ' बा।

आमे मछरी भेंट भइल—आम पेड़ पर तथा मछली पानी में रहती है। दोनों का मिलन प्रायः असंभव होता है। असंभव कार्य का संभव हो जाना। प्र०—संजोग के बात ह (अ), 'आमे मछरी भेंट हो जाला'।

आरती कइल या भइल—पूजा करना। प्र०—काली माई के 'आरती कइल (अ)' हाँ, कि ना।

आराम से भइल—फ़ुरसत से होना। प्र०—अबहीं कवनो अकुताई बा 'आराम से होई'।

आल्हा गावल—अपना वृत्तांत सुनाना। ताँहार 'आल्हा गावल' कब ले ओराई।

अवाज फाटल—आवाज़ भर्राना। प्र०—तोहार त 'आवाज फाटि गइल' बा।

आस टूटल—आशा भंग होना। प्र०—ओजुगी से कबे के 'आस टूटल' बा।

आस तुरल—निराश कर देना। प्र०—आँताँना दउरा के 'आस तुरल' ना चाहत रहल हा।

आसन कइल—योग के अनुसार अंगों को तोड़-मरोड़ कर बैठना। प्र०— उ 'आसन कइके बइठल बाड़े।

आसन जमल—बैठने में स्थिर भाव आना। प्र०—अब इहाँ के 'आसन जमि गइल', जल्दी नइखे उठे के।

आसन डिगल—चित्त चलायमान हो जाना। प्र०—अब इहाँ से इहाँ के 'आसन डिगल बा'।

आसन डोलल—चित्त का चलायमान होना। प्र०—अब इहाँ के आसन डोलल बा।

आसन दीहल—सत्कारार्थ बैठने के लिए कोई वस्तु रख देना या बतला देना। प्र०—ऑपाँना के बड़ के 'आसन दीहल' नीमन ह।

आसन मारल—पालथी मार कर बैठना। प्र०—वाड़ा 'आसन मरले' बाड़ (अ) हो।

आस बन्हल—आशा उत्पन्न होना। प्र०—हामरा उन्हिकाँरा बात सुनॉला से किछु 'आस बन्हल' बा।

आस भइल—सहारा होना; गर्भ रहना। प्र०—उनहीं ले त 'हॉमॉरा आस' बा। उन्हिकरा पतोहिया के किछु 'आस बा'।

आसा दीहल—उम्मीद बँधाना। प्र०—कहिआ से 'आसा दीहले' रहल (अ) हा।

आसा बन्हल—आशा करना। प्र०—का अब ही ले 'आसा बन्हले' बा।

आसामी बुझल—अपने वश का समझना। प्र०—का तुँ ओकारा के 'आसामी बुझले' बाड़ (अ)?

आहि दाओ भइल—मेहरा होना। प्र०—उ 'आहि दाओ ह'।

आहें गरई धइल—आहे=अंदाज़ से; गरई=मछली विशेष जो अत्यंत चंचल होती है। बहुत दूर का अंदाज़ लगाना। प्र०—इहाँ का 'आहें गरई धर (अ) तानी।

इँकाँटा बरोबरि बुझल—कुछ न समझना। प्र०—ऑनाँका धन के उ इँकाटा बरोबँरि बुझे ले।

इतलाइ कइल—इतलाइ=इत्तला। राजकर्मचारी को किसी बात की सूचना देना। प्र०—जा 'इतलाइ कइले' आव (अ) इ मनिहें ना।

इन्ना भइल—तमाशा होना। प्र०—इ एगो 'इन्ना' हउए।

इमान से कहल—सच कहना। प्र०—का तू 'इमान से कह' (अ) तार (अ)?

इमान दिहल—सत्य छोड़ना। प्र०—का अतने में 'इमान दिहल (अ)' हा?

इमिली घोंटावल—विवाह के समय लड़के या लड़की का मामा अपनी बहन को आम्र-पल्लव दाँत से खोंटाता है और यथा शक्ति कुछ दक्षिणा भी देता है इसी रीति

को 'इमली घोंटावल' कहते हैं। प्र०—ए मामा जा 'इमली घोंटा' आव (अ)।

उकठल—सूख जाना। प्र०—इ फेड़ 'उकठि गइल' बा।

उकुटारल या उटुकारल—बुझती हुई आग को जब तेज़ करने के लिए नीचे से चलाते हैं, तो उसे 'उकुटारल' या 'उटुकारल' कहते हैं। समाप्त हो गए काम को फिर से जागृत करना। प्र०—तूँ बुताइल झॉगॉरा 'उकुटारि' (या 'उटुकारि') दिहल (अ)।

उकुसावल—दीपक की बत्ती जब नही जलती है तो तेज़ प्रकाश के लिए उसे 'उकसाते' हैं। मनुष्य के लिए भी इस का प्रयोग होता है। तब इस का अर्थ होता है 'उत्तेजित करना'। प्र०—इहाँ का लड़े खातिर 'उकुसावतानी'।

उखम भइल—उखम=उष्म। बहुत गर्म होना। प्र०—आजु बाड़ा 'उखम भइल' बा।

उघटा पुरान कइल—गाली गलौज करना। प्र०—का 'उघटा पुरान कइले' बाड़ (अ) स (अ) रे।

उघरवार भइल—चमकते हुए सूर्य का निकलना। प्र०—बादरि फाटि गइलि, एही सें आजु दिन 'उघरवार भइल' बा।

उँचा खालाँ लात परल—भ्रष्ट होना। प्र०—'उँचा खालाँ लात परला' पर केहू केहू के ना होला।

उचापति कइल या नाधल—आफ़त करना। प्र०—का 'उचापति कइले (या नधले)' बाड़ (अ)।

उछिटा दिहल—जब किसी खेत में फ़सल कमज़ोर हो जाती है तो उस की रक्षा न कर के उसे पशुओं को चरा देते हैं। इसे 'उछिटा देना' कहते हैं। प्र०—आजु पछिम वाला खेत 'उछिटा दिहल' गइल हा।

उजड्ड भइल—मूर्ख होना। प्र०—उ बॉड़ा भारी 'उजड्ड भइल' बा।

उजुग भइल—जगते रहना, सावधान होना। प्र०—आजु काल्हि उन्हन्हिका 'उजुग' बाड़े सनि।

उजुबुक भइल—उजुबुक=उज़बेक। सोवियट रिपब्लिक के अंतर्गत उज़बेकिस्तान के लोग, जो अभी कुछ दिन पूर्व इस्लाम के अनुयायी थे। मूर्ख होना। प्र०—उ आजु काल्हि 'उजुबुक भइल' फिर (अ) ता।

उजुबुजाइल या उजुबुजा गइल—दम घुटना, परेशान हो जाना। प्र०—घर के कचकच देखि कें हॉमार मन 'उजुबुजा गइल' बा।

उभंख लागल—सूना लगना। प्र०—आजु काल्हि ए जी बाड़ा 'उभंख लाग (अ) ता'।

उभिटा में परल—निर्जन तथा भयानक स्थान में पड़ना। प्र०—काल्हि त हम बॉड़ा 'उभिटा में परल' रहलीं।

उभुकत चलल—गिरते परते चलना। प्र०—का राह में 'उभुकत चल (अ) तार (अ)'।

उटक्कर के फतिहा भइल—व्यर्थ घूमने वाला होना। प्र०—ओकरॉ कें का ले ले बाड़ (अ), उ त (अ) 'उटक्कर के फतिहा भइल' बाटे।

उटुकार कइल—उभाड़ना। प्र०—इ बीतल भॉगॉरा 'उटुकार' (अ) तार (अ)।

उठक बइठक कइल—कसरत करना। प्र०—आजु काल्हि इ 'उठक बइठक कर (अ) तारे'।

उठती परती जानल—वास्तविक स्थिति से परिचित होना। प्र०—उन्हिकर 'उठती परती जान' (अ) तानी।

उठा बइठी भइल—मेल जोल होना। प्र०—आजु काल्हि ओ लोग में बॉड़ा 'उठा बइठी' बा।

उठा रखल—कसर छोड़ना। प्र०—जा तू 'उठा मति रखिह (अ)'।

उठि गइल—बिकना; भाड़े पर जाना। प्र०—ऐ बाबू हॉमार गेस त (अ) 'उठि गइल' बा।

उठि बइठल—जाग पड़ना। प्र०—'उठि बइठ (अ),' बिहान भइल।

उड़त चिरई के हर्दी लगावल—बहुत चालाक होना। प्र०—इहाँ का 'उड़त चिरई के हर्दी लगाइ' लें।

उड़ाँक भइल—चालाक होना। प्र०—उ बॉड़ा भारी 'उड़ाँक ह'।

उतराइल—पानी के ऊपर आना। मुहावरे में, घमंड करना। प्र०—ढेर 'उतराए' के ना।

उतरा के चलल—गर्व करना। प्र०—आजु कालिह उ 'उतरा के चल (अ) तारे'।

उद्बुद् भइल—अत्यंत प्रसन्न होना। प्र०—ई एही नथिया पर 'उद्बुद् भइल' बाड़ी।

उधार कइल—गाली देना, क़र्ज़ करना। प्र०—उ आई त कई पुस्ति के 'उधार करी'।

उपर नीचे ताकल—निरुत्तर हो जाना। प्र०—पुछला पर उ 'उपर नीचे ताके लगले'।

उपर लिहल—उत्तरदायित्व ग्रहण करना। प्र०—हॉमॉरा से त (अ) ना सँपरी तूँ ऑपॉना 'उपर ले ल'।

उबड़ खाबड़ भइल—ऊँचा नीचा होना। प्र०—इ रॉहता बॉड़ा 'उबड़ खाबड़' बा।

उमा उम भइल—लबालब होना। प्र०—गंगा जी त आजु कालिह खुब 'उमा उम भइल' बाड़ी।

उरठ बोलल—सख़्त बातें बोलना। प्र०—काहें तूँ एङो 'उरठ बोलेल (अ)'।

उरठ दिन भइल—धूप तेज़ होना। प्र०—आजु दिन बॉड़ा 'उरठ भइल बा'।

उरुआ बोलल—उजाड़ होना या उजड़ जाना। प्र०—थोरे दिन में ओजवाँ उरुआ बोलिहें स (अ)।

उरेब परल—घाटा लगना; नुक़सान पहुँचना। प्र०—हॉमॉरा ए रोजिगार में बॉड़ा 'उरेब परल' हा।

उर्ध लागल—कंठगत प्राण होना। प्र०—उन्हुकरा 'उर्ध लागल' बा।

उल्हा कइल—स्थानच्युत करना; हराना। प्र०—बात में हॉमॉरा के केहू 'उल्हा' ना कइ सकेला।

उल्हि मेल्हि कइल—चंचलता दिखलाना। प्र०—का 'उल्हि मेल्हि कइले' बाड़ (अ), एक जगह बइठ (अ) ना।

उल्हि मेल्हि भइल—कल न पड़ना, चैन न पड़ना। प्र०—जब से इ बात सुनुअनि तब से इन्करा 'उल्हि मेल्हि भइल' बा।

उल्हि मेल्हि में रहल—व्यर्थ (कामों में) व्यग्र रहना। प्र०—आजु हम 'उल्हियें मेल्हि में रहि गइलीं'।

उल्हि मेल्हि लागल—मृत्यु के निकट पहुँचना। प्र०—बाबा काँ अब 'उल्हि मेल्हि लागल' बा।

ऊँच सुनल—कम सुनना। प्र०—थोरे दिन से इ ऊँच सुन (अ) तारे।

ऊँट भइल—ऊँट के समान होना; निरर्थक घूमने वाला होना। प्र०—मार (अ) एकें, इ 'ऊँट भइल' फिर (अ) ता।

ऊड़ बुड़ भइल—अत्यंत प्रसन्न होना। प्र०—ई एही नथिया पर 'ऊड़ बुड़ भइल' बाड़ी।

एक तरफा डिगरी भइल—वह व्यवस्था जो प्रतिवादी का उत्तर बिना सुने ही दी जाय। प्र०—हॉमॉरा 'एक तरफा डिगरी भइल' हा।

एकवदि बिगाड़ल—परलोक बिगाड़ना। प्र०—का तु आप 'एकवदि बिगड़ले' बाड़ (अ)।

एक बग्गा अदिमी भइल—झक्की होना, एक बात पकड़े रहना। प्र०—उ 'एक बग्गा अदिमी हउए'।

एड़वसल—पैर से मारना, सज़ा देना। प्र०—इन्हिका के बे 'एड़वसलें' काम ना चली।

एक पेट के भइल—सहोदर भ्राता होना। प्र०—उ दुनो भाई 'एक पेट के ह लोग'।

एक भइल—मिलना-जुलना। प्र०—थोरे दिन से उ लोग 'एक भइल' ह।

एड़ी ले धोती छाँटल—एड़ी तक धोती छोड़ना; शौक़ीनी करना। प्र०—उ 'एड़ी ले धोती छाँटेले'।

एने के बात ओने कइल—इधर की बात उधर करना; झगड़ा लगाना। प्र०—उ हमेस 'एने के बात ओने करेले'।

ओझाई कइल—रूठे हुए आदमी को मनाना। प्र०—का इन्हिकर ऑतॉना 'ओझाई कइले' बाड़ (अ)।

ओठ्घँल—बीमार होना। प्र०—आजु कालिह् उ 'ओठ्घँल' बाड़े।

ओठ चाँबाइल—क्रोध और दुख प्रकट करना। प्र०—का 'ओठ चाबा' तार (अ)।

ओठ बिदोरल—होंठ बिचकाना; मूर्खता प्रदर्शित करना। प्र०—का 'ओठ बिदोरले' बाड़ (अ)।

ओनइसबीस भइल—मात्रा में कुछ कम या अधिक होना। प्र०—इहे नु की ओकरा से 'ओनइस बीस होई'।

ओनइस भइल—कम होना। प्र०—उ एकरा से तनी 'ओनइस ह'।

ओलिह् गइल—कूद जाना। प्रा०—आँतॉना के 'ओलिह् गइल' कवनो भारी नइखे।

ओहाइन कइल—पशुओं द्वारा कामवासना का प्रदर्शन। व्यंग्य में मनुष्य के लिए भी इस का प्रयोग होता है। प्र०—उ 'ओहाइन कइले' बाड़े।

ओहारि लागल—पारी आना। प्र०—काहाँ बाड़ (अ) हो 'ओहारि लागल बा'।

(क्रमशः)

'जोश' मलीहाबादी

[लेखक—श्रीयुत कैलाश वर्मा, बी० ए०]

उर्दू साहित्यिक संसार में परिवर्तन एवं क्रांति उत्पन्न करने वाला, सोए हुए हृदयों को जाग्रत करने वाला, स्वतंत्रता का संदेश लाने वाला, जीवन की रहस्यमय गुत्थियों को सुलझाने वाला, निर्धनों का सहायक, उन की सेवा करने वाला तथा उन के दुख-सुख में सम्मिलित होने वाला, भारतवर्ष की दरिद्रता पर आँसू बहाने वाला, धनवानों की फ़ज़ूलख़र्ची पर शोक प्रकट करने वाला, हिंदू मुस्लिम एकता का पाठ पढ़ाने वाला, दीनता पर करुण क्रंदन करने वाला, शायर इन्क़लाब हज़रत 'जोश' मलीहाबादी के नामनामी से कौन अपरिचित होगा। जहां एक ओर डाक्टर सर मुहम्मद 'इक़बाल' का नाम आता है, दूसरी ओर 'जोश' मलीहाबादी का। दोनों महान कवियों ने उर्दू अदब को एक नया वस्त्र पहना कर उस में रूह फूँकी है; परंतु जब हम ज़रा गहरी दृष्टि से हज़रत 'इक़बाल' की रचनाओं को देखते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि उन की अंतिम समय की कविता में वह बात नहीं है जो होनी चाहिए। सारांश यह कि उन की रचनाएं आगे बढ़ कर सांप्रदायिक मरुस्थल में विलीन हो गई हैं, जो दुख की बात है। परंतु हमें यह प्रकट करते हुए गर्व होता है कि हज़रत 'जोश' की कविताओं में अभी तक यह रंग नहीं आया। उन पर 'इक़बाल' की भाँति इस्लामिज़्म का प्रभाव नहीं पड़ा, वह ख़िलाफ़त आंदोलन से पृथक् हैं। वह आज तक अपना वही रंग अपनाए हुए हैं जिस रंग में आप ने कविता कहना आरंभ किया था। सच तो यह है कि दिनोंदिन आप की रचनाएं उन्नति के मार्ग पर जा रही हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए यदि यह कहा जाय कि आप का दर्जा 'इक़बाल' साहब से भी अधिक ऊँचा है तो अनुचित न होगा। 'जोश' ने अपनी कविताओं का अधिकांश क्रांति के साँचे में ढाला है और स्वयं क्रांति के कवि बने हैं। कवि प्राचीन रूढ़ियों का क़ायल नहीं है। उस ने अपने हृदय एवं मस्तिष्क को एक नवीन शैली की ओर आकर्षित कर इल्म व अदब की दुनिया में तहलका मचा दिया। कवि के

कथनानुसार—

ख़्वाब को जज़्बये बेदार किए देता हूं;
क़ौम के हाथ में तलवार दिए देता हूं।

'जोश' साहब एक बहुत ही लाग्रोबाली शायर हैं। आप में बेसाख़्तगी हद से ज़्यादा है। आप का सारा कलाम पढ़ जाइए ज्ञात होता है कि उमँड़ता हुआ दरिया है, जिस के प्रवाह में रुकावट का अंश नहीं दिखाई पड़ता। आप ने नज़्मों में बहुधा ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो साधारणतः समझ से बाहर हैं। जहां तक वर्णनात्मक कविताओं का संबंध है, फ़ी ज़माना आप की जोड़ का कोई नहीं है। यदि कोई कवि आप के टक्कर का बैठता है तो हज़रत 'सीमाब' अकबराबादी। 'सीमाब' साहब नज़्में उसी अंदाज़ से कहते हैं जैसा कि ग़ज़लें; किंतु हज़रत 'जोश' की कविताएं केवल वर्णनात्मक ही होती हैं। ग़ज़ल में आप को वह सफलता नहीं प्राप्त हुई। यदि कोई आप के विचारों की उड़ान देखे तो आप की नज़्में इस का भली भाँति प्रदर्शन कराएंगी।

ज़माना करवट बदल चुका है। अब प्राचीन युग नहीं रहा। प्राचीन कविता भी काफ़ी बदनाम हो चुकी है; क्योंकि उस में आकर्षण नहीं रहा। आधुनिक युग में आवश्यकता थी अछूते ख़याल की, नवीन विचारों की, और ऐसे जज़्बात की जो संसार में क्रांति पैदा कर सकें, मनुष्यों में एक नई रूह फूंके, उन के हृदयों को कहने की अपेक्षा कार्य की ओर प्रेरित करे, उन को अवसर दिया जाय कि वह भी चमकें और इस बात को समझें कि वह संसार में किस लिए हुए हैं, उन का कर्तव्य क्या है, उन की ज़िम्मेदारी क्या है, एक-दूसरे में प्रेम-भाव किस प्रकार उत्पन्न करें, बड़ाई छोटाई के विचारों को किस प्रकार दूर करें। प्रत्येक कवि के वश की बात नहीं है कि वह अपनी कविता में आत्मा पैदा कर उपदेशक बने और यह बात मानी हुई है कि कवि से बढ़ कर अच्छा उपदेशक और कोई नहीं हो सकता। कवियों में इतनी शक्ति होती है कि यदि वह चाहें तो अपनी लेखनी के बल से संसार में परिवर्तन कर दें। अस्तु नई जान फूँकने के लिए कविता के मैदान में हज़रत 'चकबस्त' और हज़रत 'इक़बाल' आए। 'चकबस्त' साहब ने जो भी कहा, एक बिल्कुल नए ढंग में और नवीन शैली में। स्वतंत्रता का बेहतरीन पाठ पढ़ाया। आप की कविताओं का एक-एक शब्द ख़्यालात का कोष लिए हुए है। ज़रा आप के तीन पदों का रसास्वादन कीजिए—

शैदाये बोस्तां को सरवे समन मुबारक;
रंगीं तबीयतों को रंगे सुख़न मुबारक।
बुलबुल को गुल मुबारक गुल को चमन मुबारक;
हम बेकसों को अपना प्यारा वतन मुबारक।
ग़ुंचे हमारे दिल के इस बाग़ में खिलेंगे;
इस ख़ाक से उठे हैं इस ख़ाक में मिलेंगे।

इस से बढ़ कर स्वतंत्रता का और क्या अच्छा पाठ हो सकता है? डाक्टर 'इक़बाल' ने प्रारंभ में जो कुछ कहा बहुत खूब कहा। इन महाकवियों की कविताएं अब भी दिलचस्पी के साथ पढ़ी जाती हैं। इन कवियों ने उर्दू साहित्य में काफ़ी परिवर्तन कर दिया। अब इन के बाद 'सीमाब' साहब और 'जोश' साहब का नंबर आता है। 'सीमाब' साहब की कविताओं के विषय में यहां कुछ लिखना लेख को बढ़ाना है—मुझे जो कहना है वह 'जोश' साहब और उन की कविता के विषय में।

आप का नाम शब्बीर हसन और 'जोश' उपनाम है। आप का जन्म सन् १८९४ ई० में मलीहाबाद (ज़िला लखनऊ) के निकट कंबलहार नामी गाँव में हुआ था। आप ने शायराना तबीयत अपने पूर्वज से तरके में पाई थी। आप के परदादा फ़क़ीर मुहम्मद ख़ां, 'गोया' एक प्रसिद्ध कवि हो चुके हैं। हज़रत 'गोया' के पुत्र हज़रत मुहम्मद ख़ां अहमद की गणना उस समय के प्रसिद्ध कवियों में थी। इस प्रकार 'जोश' ने उर्दू कविता के वायुमंडल में अपने नेत्र खोले, और उसी वातावरण में आप का पालन पोषण भी हुआ। जब आप की आयु केवल नौ वर्ष की थी आप ने कविता कहना आरंभ कर दिया था। आप कुछ समय तक प्रसिद्ध कवि हज़रत 'अज़ीज़' लखनवी के शिष्य रहे, तत्पश्चात् इस बंधन से भी मुक्त हो कर स्वयं उस्ताद (काव्य-गुरु) बने। आप के कथनानुसार कवि को स्वतंत्र विचार का होना चाहिए, अनुसरण करना लाभदायक नही सिद्ध होता। सामयिक साहित्यिक क्षेत्र में वह आज 'शायर आज़म' के नाम से भारत-विख्यात हो रहे हैं।

आप ने अरबी तथा फ़ारसी शिक्षा प्राचीन रीति के अनुसार घर ही पर प्राप्त की। अँगरेज़ी भाषा पढ़ने के लिए जुबली स्कूल सीतापुर, सेंट पीटर्स स्कूल आगरा और अलीगढ़ कालेज में आप ने पदार्पण किया, किंतु लाओबाली स्वभाव होने के कारण आप

की शिक्षा अधूरी रह गई। सन् १६२४ ई० में आप हैदराबाद दकन में अनुवाद विभाग में मुलाज़िम हुए, और इस विभाग के साहित्यिक तसानीफ़ के निरीक्षक के पद पर नियुक्त किए गए। इस प्रकार कई वर्ष तक 'नाज़िर अदब' का काम करते रहे। इसी काल में आप मदरास विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग में परीक्षक का काम करते रहे। इन बंधनों में फँसे हुए भी आप अपनी रचनाओं में परिश्रम करते रहे और उन में काफ़ी उन्नति हुई। कई साल हुए आप की प्रारंभिक कविताओं का संग्रह 'रूहेअदब' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। इस संग्रह की कविताओं में अधिकतर लखनऊ के रंग की झलक थी। फिर भी विचारों, सुकुमार सूक्तियों, रंगीनी के विचार से आप का कलाम प्रशंसनीय था। ग़ज़लों से पता लगता है कि आप ने इस कला में उर्दू महाकवि 'ग़ालिब' का पूरा अनुसरण किया है, और कहीं-कहीं टैगोर का रंग प्रकट होता है।

सन् १६३५ ई० में जाड़े के दिनों में 'जोश' हैदराबाद से दिल्ली आए और यहां लगभग ४ वर्ष व्यतीत किए। यहां से एक उर्दू मासिक पत्रिका 'कलीम' का संपादन करते रहे। इस पत्रिका का प्रकाशन उन्हों ने अपने बल-बूते पर किया और अपनी रचनाओं को चार जिल्दों में प्रकाशित किया, जिन के नाम 'नक़्शो निगार', 'फ़िक्रो निशात', 'शोलओ शबनम', और 'जुनूनो हिकमत' हैं। इन पुस्तकों के अतिरिक्त अपनी नई रचनाओं की भी क्रमवृद्धि की। गत पहली मई सन् १६३६ ई० को 'जोश' ने दिल्ली छोड़ दिया, और अपने वतन मलीहाबाद वापस आए। साथ-साथ पत्रिका भी मलीहाबाद लाई गई, जो यहां से प्रकाशित होती रहेगी।

इस से पूर्व कि मैं 'जोश' की कविताओं को समालोचनात्मक दृष्टि से देखूं इन के प्रति 'साग़र' निज़ामी साहब के विचारों को प्रकट कर देना उचित समझता हूं। आप फ़रमाते हैं "......लेकिन इस वक़्त उन ('जोश') की मजमूई शख़्सियत के मुताल्लिक़ इतना ही कहना काफ़ी है कि ऐसे और इतने मेलजाद अनासिर का फ़िल्सफ़ी शायर दुनिया सदियों में पैदा करती है। हिंदुस्तानी क़ौम की इस से बड़ी खुशबख़्ती और कोई नहीं हो सकती कि उस में 'जोश' जैसा जवान पैदा हुआ, जिस को मुसलमान......बर्दाश्त नहीं कर सकते। लेकिन जो मुस्तक़बिल में आसमान पर मेह्र नीम रोज़ बन कर चमकेगा......'जोश' दिमाग़ी इंसान है वह सुसाइटी की नीची

सतह पर नहीं आ सकता। यहां तक कि निजी तौर पर मस्लहतें भी उस को ज़बान का गुलाम नहीं बना सकतीं, लेकिन समाज के इस खतरनाक निज़ाम में जिस की बागें अहले-ज़र के हाथों में हैं दिमाग़ी इंसान और खास कर शायर के लिए कोई ऐसा मरकज़ नहीं जहां से वह ताक़त परस्त दुनिया को मरऊब कर सके......।"

हज़रत 'जोश' मलीहाबादी की कवित्वकला आधुनिक युग में अपना जोड़ नहीं रखती। आप के विचार और तर्ज़ अदा अद्वितीय हैं। कृत्रिम से आप को घृणा है। जो भी आप कहते हैं अपने सिद्धांतों के अनुसार। आप का हृदय साफ़ है। सांप्रदायिक मामलों में आप कदापि नहीं पड़ते, बल्कि अपनी कविताओं द्वारा इस विषय पर लानत-मलामत करते हैं। वह सांसारिक मनुष्यों में सभी के सच्चे मित्र हैं। निर्धनों और निर्बलों की हार्दिक सहायता करने पर सदैव तत्पर रहते हैं। आपस में समानता का उपदेश देते हैं। आप के गद्य और पद्य दोनों में क्रांति का बहुधा ज़िक्र रहता है। खोई हुई देशी कला, शिक्षा, तथा हिंदुस्तानी वेषभूषा और गौरव पर चार-धार आँसू बहाते हैं। हिंदू-मुस्लिम एकता का पाठ पढ़ाते हैं। वह चाहते हैं देश स्वतंत्र हो, खुशहाल हो, राजनैतिक दासता शेष न रहे। प्राचीन भारतीय वेषभूषा के उपासक हैं, और इस में कोई परिवर्तन पसंद नहीं करते। स्त्रियों की आज़ादी के सख्त खिलाफ़ हैं। उन्हें इस बात से भी घृणा है कि हिंदुस्तानी स्त्रियां योरोपियन शिक्षा ग्रहण करें। वह स्त्रियों का सदैव आदर-सत्कार करते हैं। वह स्त्री को अपने हृदय का मालिक बनाने के लिए तैयार हैं, पर वह नहीं चाहते कि उसे पुरुषों के बराबरी का दर्जा दिया जाय। यह उस का यहां तक सम्मान करते हैं कि मनुष्य उस की पूजा करें, किंतु इस बात से नफ़रत करेंगे कि वह परदे से बाहर निकल कर सांसारिक क्षेत्र में आकर राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक मामलों में पड़े। आप ने इन सारी बातों को नवीन विचारों में अलंकारों द्वारा इस प्रकार सुसज्जित किया है कि श्रोतागण तथा अध्ययन करने वाले मंत्र मुग्ध हो जाते हैं। आप की उपमाएं तथा अलंकार बिल्कुल नए होते हैं, और ख्यालात अछूते। आप ने मुहावरों का प्रयोग इस खूबी से किया है कि वे अपने स्थान पर बहुत भले प्रतीत होते हैं। आप की तरकीबें अनोखी लेकिन प्रभावशाली होती हैं। आप को ज़बान पर पूर्ण अधिकार है। आप की क़विताओं में दूरदर्शी उपमाएं रहती हैं। उपमाओं और अलंकारों का प्रयोग आप ने कविता में बहुतायत से किया है जिस से ज्ञात होता है कि आप के पास इन का एक

बड़ा कोष है। आप नज़्मों में अपना सानी नहीं रखते, आप की ग़ज़लें आप की नज़्मों का मुक़ाबिला नहीं कर सकतीं। आप की ग़ज़लों में बहुधा मुसलसल नज़्म का रंग पाया जाता है। आप की नज़्मों में बहुधा ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है जो सर्वसाधारण की समझ से परे हैं, और जो कानों को भले नहीं प्रतीत होते और सक़ील और ग़ैरमानूस दीख पड़ते हैं। 'जोश' प्रेम और सौंदर्य के सच्चे उपासक हैं। सौंदर्य को ग्रहण करने के विषय में उन की सर्वत्र तीव्र दृष्टि रहती है।

वह दुखों से आज़ाद हैं। मदिरा और प्याले के भी उपासक हैं। धार्मिक रूढ़ियों और रीतियों पर उन्हें विश्वास नहीं है। आप की कविताएं आप के नेचर (प्रकृति) का दर्पण है, जिन से आप के सारे जीवन का रहस्य प्रकट होता है। हार्दिक विचार आप की सचाई, प्रेम, वफ़ा, सांसारिक व्यवहार, आपस में भाईचारे का ख़याल सभी बातों पर आप की कविताएं प्रकाश डालती हैं। इन के अतिरिक्त आप के कलाम में रहस्यवाद, छायावाद, मिस्टिसिज़्म और फ़िलासफ़ी का भी गहरा रंग नज़र आता है। 'जोश' के कलाम में जोश है, प्रवाह है, रोचकता है, किंतु माधुर्य कम है। आप ने प्राकृतिक दृश्यों का भी अच्छा निरीक्षण किया है, जो आप की कविताओं से प्रकट है। कवि ने किसी का अनुसरण नहीं किया। वह लकीर का फ़क़ीर कवि बन कर रहना नहीं चाहते, वरन् अपनी एक नवीन शैली रखना चाहते हैं। वह औरों से भी कहते हैं कि पैरवी छोड़ देना चाहिए। अपने विचारों को स्वतंत्रता के साथ प्रकट करना चाहिए। आप ने वर्णनात्मक कविता में जिस विषय को लिया उस का पूरा चित्र खींच दिया है। इस बात का सच्चा उदाहरण 'कोहिस्तान की औरत', 'जामुनवाली' इत्यादि शीर्षक कविताओं से मिलता है। आप ने 'जामुनवाली' कविता में उत्तरी भारत के निर्धन देहाती स्त्रियों का सजीव चित्र खींचा है। 'जोश' साहब की कविताएं हमारे लिए गर्व की चीज़ें हैं। जब तक उर्दू साहित्य जीवित रहेगा, आप की कविताएं अमर रहेंगी, और उर्दू साहित्य पर प्रकाश डालती रहेंगी। अब हिंदी पाठकों का परिचय, जोश की कविता से, कुछ उद्धरणों द्वारा कराना, आवश्यक है। 'कोहिस्तानी औरत' शीर्षक कविता के सजीव चित्र का निरीक्षण कीजिए—

यह उबलती औरतें इस चिलचिलाती धूप में;
संग असवद की चटानें आदमी के रूप में।

चाल जैसे तुंद चश्मे, त्योरियां जैसे ग़ज़ाल;
आरिज़ों में जामुनों का रंग आँखें बेमिसाल।
औरतें हैं या कि हैं बरसात की रातों का ख़्वाब;
फट पड़ा जिन पे कि तूफ़ां ख़ेज़ पथरीला शबाब।
जिस्म है कुछ इस क़दर ठोस अलहफ़ीज़ो अलअमां;
लीजिए चुटकी तो छिल जाएं ख़ुद अपनी उँगलियां।
मछलियां शानों की उभरी-सी बटी सी काकुलें;
आहनो फ़ौलाद के पट्ठे, सलाख़ों की रगें।
दीद के क़ाबिल है इन काफ़िर बुतों का रंगो रूप;
खप चुकी हैं जिस में बारिश डस चुकी है जिस को धूप।
इन नबाते कोह की कडियल जवानी अलअमां;
पत्थरों का दूध पी-पी कर हुई हैं जो जवां।
कंकड़ों के फ़र्श पर दुनिया सुलाती है जिन्हें;
आँधियों के पालने में नींद आती है जिन्हें।
क्या ख़बर कितने दिलों की 'जोश' पामाली हुई;
इन अदाओं से कि तूफ़ानों की हैं पाली हुई।

इसी प्रकार 'जामुनवाली' का यह पद—

मस्त भौंरा गूंजता फिरता है कोहो दश्त में;
रूह फिरती है किसी वहशी की घबराई हुई।

अपनी जवाब नहीं रखता।

उपर्युक्त कविताएं पढ़ने से ज्ञात होता है कि कितना सजीव चित्र पेश किया गया है। पहाड़ी स्त्रियों के अंग-अंग से वीरता प्रकट होती है। इन स्त्रियों ने कितनी कठोर मुसीबतों का सामना किया है, कितने दुख उठाए हैं जिन का सारा जीवन धूप और वर्षा में व्यतीत हो रहा है और जो कंकड़ों के फ़र्श पर सोनेवाली हैं, और जिन्हें आँधियों के पालने में नींद आती है, जो पत्थरों का दूध पी-पी कर जवान हुई हैं, और जिन का पालन-पोषण तूफ़ानों में हुआ है; क्या वह वीर स्त्रियां नहीं हो सकतीं? इन का शरीर इतना ठोस है कि यदि उन में चुटकी ली जाय तो स्वयं अपनी उँगलियां छिल जायँ। उन के

कंधों की मछलियां उभरी रहती हैं, केश बटे हुए, और जिन के पट्ठे इसपात के से हैं और नसें लोहे के छड़ों की भाँति हैं और चाल तेज़ चश्मे की तरह है, और त्योरियां हिरन की सी, कपोल जामुन के रंग की भाँति और नेत्र अद्वितीय हैं। यह पहाड़ी स्त्रियां क्या हैं मनुष्य के रूप में काले पत्थरों की चट्टानें हैं। देखिए कितना सुंदर चित्र है और उपमाओं और अलंकारों की छटा प्रस्फुटित हो रही है। अब ज़रा इस के साथ-साथ एक पत्थर कूटने वाली कोमल सुंदर स्त्री का भी चित्र देखिए, कितना सुंदर वर्णन है और कैसी-कैसी उपमाएं हैं—

एक दोशीज़ा सड़क पर धूप में है बेक़रार;
चूड़ियां बजती हैं कंकड़ कूटने से बार बार।
चीथड़ों में दीदनी है रूए रंगीने शबाब;
अब्र के आवारा टुकड़ों में हो जैसे माहताब।
हुस्न से मजबूर कंकड़ कूटने के वास्ते;
दस्त नाज़ुक और पत्थर तोड़ने के वास्ते।
फ़िक्र से झुक जाय वह गरदन तुफ़ ऐ लैलो नेहार;
जिस में होना चाहिए फूलों का यक हलका सा हार।
भीक में वह हाथ उट्ठें इल्तजा के वास्ते;
जिन को क़ुदरत ने बनाया हो हिना के वास्ते।
नाज़ुकी से जो उठा सकती न हों काजल का बार;
उन सुबुक पलकों पे बैठे राह का बोझल ग़ुबार।
नाज़नीनों का यह आलम मादरे हिंद आह आह;
किस के जौरे नारवा ने कर दिया तुझ को तबाह।
हुन बरसता था कभी दिन रात तेरी ख़ाक पर;
सच बता ऐ हिंद तुझ को खा गई किस की नज़र।
बाग़ तेरा क्यों जहन्नुम का नमूना हो गया?
आह क्यों तेरा भरा दरबार सूना हो गया?
जिस के आगे था क़मर का रंग फीका क्या हुआ?
ऐ उरूसे नौ तेरे माथे का टीका क्या हुआ?

ऐ ख़ुदा हिंदोस्तां पे ये नहूसत ता कुजा?
आख़िर इस जन्नत पे दोज़ख़ की हुकूमत ता कुजा?

एक विवाहित कम उम्र सुंदर लड़की सड़क पर कंकड़ कूट रही है और वह धूप की तेजी के कारण बेचैन हो रही है, और कंकड़ कूटने से उस की चूड़ियां बार-बार बजती हैं। चीथड़े के अंदर उस के यौवन का रंग-रूप देखने योग्य है, उस का रूप चीथड़ों में ऐसा प्रकट होता है मानो बादल के टुकड़ों में चाँद हो। शोक के साथ कवि कह रहा है कि सौंदर्य कंकड़ कूटने के वास्ते विवश हो और उस के कोमल कर पत्थर तोड़ें। ऐ रात दिन तुझ पर लानत है कि वह गरदन जिस पर पुष्पों का एक हल्का सा हार होना चाहिए वही चिंता के कारण झुक जाय। वह हाथ जिन को ईश्वर ने मेंहदी के लिए बनाया हो, वही भीक के लिए उठें, और वह नेत्र जो कोमलता के कारण काजल का भी बोझ न सह सकें, उन्ही हलके पलकों पर रास्ते की गर्द बैठे। ऐ भारत माता, नाज़नीनों की यह दशा! शोक, तुझ को किस के असह्य अत्याचारों ने बरबाद कर दिया। कभी दिन-रात तेरी मिट्टी पर सोना बरसता था। ऐ हिंद, बता तुझे किस की नज़र खा गई, तेरी बाटिका क्यों नरक का नमूना बन गई और तेरा भरा-पुरा दरबार क्योंकर सूना हुआ? ऐ नई दुल्हन, तेरे माथे का वह टीका जिस के सामने चाँद का भी रंग फीका था क्या हुआ? ऐ ईश्वर, तू ही बतला कि हिंद पर यह मनहूस घड़ी कब तक रहेगी? और इस स्वर्ग पर नर्क का शासन आख़िर कब तक रहेगा?

'मालिन' शीर्षक कविता के कुछ पदों का भी रसास्वादन कीजिए—

आ रही है बाग़ से मालिन वह इठलाती हुई;
मुस्कराने में लबों से फूल बरसाती हुई।
बार बार आँखें उठाती, साँस लेती तेज तेज;
रस जवानी की भरी पलकों से टपकाती हुई।
फूल हैं आँचल में आँचल लोटता है दोश पर;
और आँचल पर घनी ज़ुल्फ़ें हैं लहराती हुई।
'जोश' कोई पूछे इस गुल पैरहन मालिन का नाम;
आ रही है गुंचए दिल को जो चिटकाती हुई।

बाटिका से एक मालिन इठलाती हुई आ रही है, और उस की मुस्कान से ऐसा

प्रतीत होता है मानो उस के अधरों से पुष्प की वर्षा हो रही है। वह अपने नेत्र बार-बार उठाती है और साँसें तेज़ी से लेती है, और जवानी की भरी अपनी पलकों से रस टपकाती है। उस के आँचल में फूल हैं, और आँचल कंधे पर लोट रहा है और आँचल के ऊपर उस के घने केश लहरा रहे हैं। 'जोश' कहते हैं कि उस गुलाब के पुष्प जैसे शरीर वाली मालिन का कोई नाम पूछे जो हृदय की कली को विकसित करती, चिटकाती हुई आ रही है। घनी पलकों से जवानी का रस टपकना कितनी सुंदर उपमा है। इस कविता के तृतीय पद में कवि ने आँचल का कितना अछूता चित्र खींचा है।

कवि ने हैदराबाद के अपने निजी जीवन का दैनिक क्रम इस ढंग से चित्रित किया है:—

ऐ शख़्स अगर 'जोश' को तू ढूँढना चाहे;
वह पिछले पहर हल्क़ए इरफ़ां में मिलेगा
औ' सुब्ह को वह नाज़िरे नज्ज़ारये क़ुदरत;
तरफ़े चमनो सहनो बियाबां में मिलेगा।
औ' दिन को वह सरगश्तए इसरार मआनी;
शहरे हुनरो कूए अदीबां में मिलेगा।
औ' शाम को वह मर्दे ख़ुदा रिंद ख़ुश औक़ात;
रहमत कदए बादा फ़रोशां में मिलेगा।
औ' रात को वह ख़िल्वतिए काकुलो रुख़सार;
बज़्मे तरबो कूचए जानां में मिलेगा।
औ' होगा कोई जब्र तो वह बंदए रंजूर;
मुर्दे की तरह क़ल्बए अहज़ां में मिलेगा।

ऐ मनुष्य यदि 'जोश' को तू ढूँढना चाहे तो पिछले पहर वह पवित्र आत्मा पुरुष के घर में मिलेगा। प्रातः समय वह प्राकृतिक दृश्यों का निरीक्षण करने वाला बाटिका, आँगन और बनों में मिलेगा। दिन के समय वह रहस्य और मानी में परीशान रहने वाला किसी कला के शहर और साहित्यिक पुरुषों की गलियों में मिलेगा, और संध्या समय वह ईश्वर का बंदा मदिरा बेचने वाले के भवन में मिलेगा, और रात्रि में वह केशों और कपोलों का प्रेमी आनंद की महफ़िल तथा प्रेमिका की गली में मिलेगा, और यदि उस पर

कोई ज़ुल्म और अत्याचार होगा तो वह मृतक मनुष्य की भाँति शोक-भवन में मिलेगा'।

निर्धन और धनवान सभी के यहां त्योहार मनाए जाते हैं, परंतु दोनों में क्या अंतर है, 'मुफ़लिसों की ईद' शीर्षक कविता में देखिए—

अहले दवल में धूम थी योमे सईद की;
मुफ़लिस के दिल में थी न किरन भी उमीद की।
इतने में और चर्ख़ ने मिट्टी पलीद की;
बच्चे ने मुस्करा के सदा दी जो ईद की।
फ़र्ते मेहन से नब्ज़ की रफ़्तार रुक गई;
मां बाप की निगाह उठी और झुक गई।
दोनो हुजूम ग़म से हम आगोश हो गए;
यक दूसरे को देख के ख़ामोश हो गए।

धनी पुरुषों में इस शुभ घड़ी ईद की धूम थी, किंतु निर्धन के हृदय में आशा की कोई किरण तक न थी। इतने में आकाश ने इन की दशा को और अवतर कर दिया, जब बच्चे ने मुस्करा कर ईद की आवाज़ दी। उस की कोमल वाणी सुन कर दुख की अधिकता के कारण उन की नाड़ी की चाल रुक गई। निर्धन माता-पिता की दृष्टि ऊपर उठी और उठ कर झुक गई। दुख की अधिकता के कारण दोनों एक-दूसरे से मिल गए, उन की निराशाएं बढ़ीं और दोनों चुप हो गए। कितना मार्मिक चित्र है!

एक स्थान पर आप ने दासता के संबंध में कहा है—

दौर महकूमी में राहत कुफ़्र इज़्ज़त है हराम;
दोस्तों की चाह आपस की मुहब्बत है हराम।
इल्म नाजायज़ है दस्तारे फ़ज़ीलत है हराम;
इंतहा यह है ग़ुलामी की इबादत है हराम।

इस दासता के ज़माने में सुख और आनंद कुफ़्र है। मर्यादा हराम है। मित्रों का प्रेम और आपस का प्रेम भी हराम है। विद्या नाजायज़ है और बुज़ुर्गी की पगड़ी भी हराम है। हद यह है कि दासता की पूजा तक हराम है।

आप की 'भूका हिंदुस्तान' शीर्षक कविता अपना विशेष महत्व रखती है, साथ-साथ बड़ी प्रभावशाली भी है। आप ने इस कविता द्वारा एक ऐसे धनवान घर का चित्र

खींचा है जो अंत में निर्धन हो चुका है। कविता में कठिन शब्द नहीं आने पाए हैं :—

एक मुफ़लिस के मकां में कल हुआ मेरा गुज़र;
ख़ाक पर बैठा था बच्चा और बीवी तख़्त पर।
तख़्त ईंटों की कमी बेशी से नाहमवार था;
वज़न इक नाज़ुक सी औरत का भी जिस पर बार था।
तीरा क़िस्मत घर का मालिक पायमाले सद जुनूं;
बोरिये पर इक तरफ़ बैठा हुआ था सर निगूं।
जो मकां कल नग़मए ख़ुद्दाम से पुर जोश था;
आज आक़ा को लिए आग़ोश में ख़ामोश था।
ताक़ पर रक्खा हुआ था एक सोया सा चिराग़;
ताक़ के नीचे थे कड़वे तेल के बूँदों के दाग़।
तेल बहने का निशां दीवार पर असला न था;
एक दिन वह भी दिया शायद कभी छलका न था।
एक गोशे में था बिस्तर के एवज़ थोड़ा पयाल;
जिस पै दो टुकड़े दरी के और इक सदपास शाल।
बच्चा बहला सा हुआ था ख़ाक के इक ढेर से;
मा डुपट्टा सी रही थी सर झुकाए देर से।
खेलने में तिफ़्ल के गुलफ़ाम था डूबा हुआ;
आई इतने में गली से आम वाले की सदा।
काँपती आई सदा हिलने लगा बच्चे का दिल;
साँस ली यूं जैसे रक्खी हो कोई छाती पै सिल।
मा की नज़रें उठ गई, उठ कर पड़ीं, पड़ कर झुकीं;
हाय मेरे लाल मेरे पास तो कुछ भी नहीं।
छा गया आँखों में सन्नाटा दिले नाकाम का;
अश्क बन कर आँख से टपका तसव्वर आम का।

मुफ़लिस से तात्पर्य निर्धन, नाहमवार से जो समतल न हो, नाज़ुक से कोमल, बार से बोझ, तीरा क़िस्मत से अभागा, पायमाले सद जुनूं से सैकड़ों भाँति की परी-

शानियों से पागल, सर नगूँ से सर नीचा किए हुए, नग़मए ख़ुद्दाम से नौकर चाकर की आवाज़, आका से मालिक, आगोश से गोद; असला से कदापि, गोश से कोना, एवज़ से बदले, सदपारा शाल से सैकड़ों टुकड़े वाला दुशाला, तिफ़्ल के गुलफ़ाम से गुलाब सा पुष्प-मुखी बालक, सदा से आवाज़ और तसव्वर से ख़याल है।

देश की फ़ज़ूलख़र्ची और अंधविश्वास से कवि उकता गया है। इसे बुरा समझता है, अतः समझाता है :—

ऐ बिरादर पुल पे गंगा के जब आ जाती है रेल;
फेंकता है किस लिए पैसे यह क्या करता है खेल।
क़ौम की आँखों से जारी हैं लहू की नद्दियां;
बह रही हैं जिस के अंदर इज़्ज़ते हिंदोस्तां।
क्यों नहीं आता है तू इस ख़ून की नद्दी के पास;
जिस को गंगा से कहीं बढ़-चढ़ के है दौलत की प्यास।
डूब कर गंगा में इक पैसा उभर सकता नहीं;
हिंद की आँखों से आँसू ख़ुश्क कर सकता नहीं।
देख कर नद्दी यह नादानी यह कारे नासवाब;
शर्म के मारे हुई जाती है गंगा आब आब।
बाज़ुए ज़र नाख़ुदाई के लिए तैयार हो;
डूबने वाली है कश्ती क़ौम की तैयार हो।

कारे नासबाब से तात्पर्य अनुचित कार, बाज़ुये ज़र से धनवान, नाख़ुदाई से नाव खेने वाला है।

अब आप के प्राकृतिक निरीक्षण तथा अध्ययन से भी परिचय प्राप्त कीजिए :—

ख़ुरशेद तुलूअ हो रहा है;
अफ़साना शुरू हो रहा है।
गर्दों की जबीं दमक रही है;
पौदों की कमर लचक रही है।

फूटी है किरन जो तिलमिलाती;
शबनम की धड़क रही है छाती।
जागे हैं तयूर चहचहाते;
चौंके हैं हसीन कसमसाते।
लाई है नसीम बूम गेसू;
गलियों में मचल रही है ख़ुशबू।

सूर्य निकल रहा है, आकाश का मस्तक चमक रहा है, पौदों की कमर लचक रही है। जब सूर्य की किरण तिलमिलाती हुई फूटी तो ओस की छाती धड़कने लगी तात्पर्य यह कि ओस अदृश्य हो गई। चिड़ियां चहचहाती हुई जागीं, हसीन कसमसाते हुए चौंके। प्रातः समय की वायु माशूक़ के केशों की सुगंधि अपने साथ लाई, परिणाम यह होता है कि गलियों में सुगंध मचल रही है।

'नेचर की ख़्वाबगाह' शीर्षक कविता के दो पद देखिए:—

रहम कर अल्लाह ऐ इंजन की सीटी रहम कर;
शाम का है वक़्त वीराने का सन्नाटा न छीन।
ज़र्रा ज़र्रा है यहां रौंदा हुआ तपता हुआ;
दो घड़ी नेचर को सो रहने दे ऐ अंधी मशीन।

ज़र्रा से तात्पर्य कण से है।

'पहाड़ की सदा' के यह दो पद हैं:—

मेरी वादी में है फूलों की दुनिया;
उबलता है मेरे पहलू से चश्मा।
मेरे दामन में है शफ़्फ़ाफ़ दरिया;
मेरी चोटी पे क़ुदरत का तमाशा।
इधर आ, ऐ मेरे शायर इधर आ।

वादी से तात्पर्य घाटी, पहलू से बग़ल, किनारा, चश्मा से सोता, शफ़्फ़ाफ़ से स्वच्छ, और क़ुदरत से प्रकृति है।

'चाँद की सदा' शीर्षक कविता में आप क्या कहते हैं—

ज़मीनों आस्मां मुझ से मुनव्वर;
बिछी है नूर की हलकी सी चादर।
खुनुक मुझ से गुल अंदामों के बिस्तर;
मेरी जौ से झलकता है समंदर।
इधर आ, ऐ मेरे शायर इधर आ!

पृथ्वी और आकाश दोनों मुझ से रौशन हैं, मेरे प्रकाश की हलकी सी चादर बिछी हुई है। मेरे ही कारण पुष्प जैसे शरीर वालों के बिछौने ठंडे रहते हैं और मेरे ही प्रकाश से समुद्र झलकता है। ऐ मेरे कवि, इधर आ!

'फ़स्ल गुल की सदा' शीर्षक कविता के भी दो पदों को देखिए:—

मेरी महफ़िल में बुलबुल का तराना;
दिलों को ज़िंदगी मेरा फ़साना।
हवाएं मेरी खुशबू का खज़ाना;
मोहब्बत खेज़ है मेरा ज़माना।
इधर आ, ऐ मेरे शायर इधर आ!

मेरी महफ़िल में बुलबुल का राग है। और मेरी कहानी हृदय का जीवन है। मेरी हवाएं सुगंधि का कोष और मेरा समय प्रेम बढ़ाने वाला है। ऐ मेरे कवि इधर आ!

इसी प्रकार आप की 'आफ़ताब, समंदर, फूल की सदाएं' इत्यादि कविताएं हैं। इन उपरोक्त कविताओं के अध्ययन से विदित होता है कि आप ने प्राकृतिक दृश्यों का कितना सुंदर चित्र खींचा है, और प्रकृति से अपनी कितनी आत्मीयता स्थापित की है।

काम है मेरा तग़य्युर नाम है मेरा शबाब;
मेरा नारा इंक़लाबो, इंक़लाबो, इंक़लाब।

कवि कहता है कि मेरा काम परिवर्तन करना है और मेरा नाम युवा है और मेरी आवाज़ क्रांति, क्रांति, क्रांति है।

उपर्युक्त पद आप की 'नारए शबाब' नामी कविता का पद है।

. एक स्थान पर आप 'पीरी' को संबोधित कर के कहते हैं। कितने अच्छे पद हैं, और कितने प्रभावशाली!

यह सितम क्या ऐ कनीज़े कुफ़्रो ईमां कर दिया;
भाइयों को गाय और बाजे पे क़ुरबां कर दिया।
डाल दूँगा तरह नौ अजमेर औ' परियाग में;
झोंक दूँगा कुफ़्रो ईमां को दहकती आग में।
कौसरो गंगा को इक मरकज़ पै लाने के लिए;
एक संगम में बना दूँगा ज़माने के लिए
एक दीने नौ की लिक्खूँगा किताबे ज़रफ़ेशां;
सब्त होगा जिस की ज़री जिल्द पर हिंदोस्तां।
फिर उठूँगा अब्र के मानिंद बल खाता हुआ;
घूमता, घिरता, गरजता, गूँजता, गाता हुआ।
ख़ून में लिथड़े बिसाते कुफ़्रो दीं उलटे हुए;
फ़ख्र से सीने को ताने आस्तीं उलटे हुए
वलवलों से बर्क़ के मानिंद लहराया हुआ;
मौत के साए में रह कर मौत पर छाया हुआ।

ऐ कुफ़्र और ईमान की लौंडी तू ने यह क्या अत्याचार किया कि भाइयों का गाय और बाजे के हेतु बलिदान कर दिया। मैं अब अजमेर और प्रयाग में एक नई नींव डाल दूँगा और इस कुफ़्र और ईमान के झगड़े को दहकती हुई आग में छोड़ दूँगा। कौसर (स्वर्ग में मदिरा की नहर है) और गंगा को एक केंद्र पर लाने के लिए एक नया संगम बनाऊँगा। एक नवीन धर्म की सोनहरी पुस्तक लिखूँगा, जिस की सोनहरी जिल्द पर हिंदोस्तान लिखा होगा। तत्पश्चात् मैं मेघों की भाँति बल खाता हुआ, घूमता, घिरता, गरजता, गूँजता और गाता हुआ उठूँगा। खून में लिथड़े हुए कुफ़्र और धर्म के बिछौने को उलट दूँगा और घमंड के साथ सीने को तानूँगा और अपनी आस्तीन उलट लूँगा। जोश के कारण मैं बिजली की भाँति लहराऊँगा और मृत्यु के साये में रह कर मृत्यु पर छा जाऊँगा। मौत के साये में रह कर मौत पर छाना कितनी महान कल्पना है! आप की उपर्युक्त कविता वास्तव में क्रांति का पूरा चित्र है।

'शायरे हिंदोस्तां' शीर्षक कविता के तीन पदों का मुलाहिज़ा कीजिए :—

शेर को बहरों में मुमकिन ही नहीं हुस्ने क़बूल
शायरे हिंदोस्तां हैं अस्ल में जंगल के फूल।

जिस के गिर्दो पेश रहता है वहायम का हुजूम;
रौंदते हैं जिस को चौपाए झुलसती है समूम।
जुहल का दरिया है और ना क़दरियों की लहर है;
शायरे हिंदोस्तां होना ख़ुदा का क़हर है।

वहायम से तात्पर्य चौपाये, जानवर, हुजूम से भीड़, समूम से गर्म वायु, जुहल से मूर्खता, क़हर से ग़ज़ब है।

अब आप के ग़ैर मानूस शब्दों का प्रयोग दो पदों में देखिए—

तू कहे दरिया में था ग़र्क़े नमू;
यार की कड़ियल जवानी का मज़ा।

क़सम उन गाज़ियों की मौत से जो जंग करते हैं;
उपी तलवार की बुंदिश से जिन के ज़ख़्म भरते हैं।

कड़ियल जवानी और उपी तलवार का अर्थ समझ में नहीं आता। इसी प्रकार और भी कविताओं में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है जो सुनने में कम आते हैं।

'नौजवानी के मज़े' शीर्षक कविता का कितने अच्छे ढंग से वर्णन किया गया है !

याद हैं अब तक वह अहदे[1] नौजवानी[2] के मज़े;
नौजवानी के मज़े क्या ज़िदगानी के मज़े।
वस्ल[3] के यादे ख़ुनुक[4] में हिज्र[5] के तूफ़ान में;
कामरानी[6] के मज़े नाकामरानी के मज़े।
बादलों से झूम कर सरशार[7] साग़र[8] चूम कर;
जल्वागाहे रंगो बू में शेरख़्वानी[9] के मज़े।
रूठने और रूठ कर मनने के दौरे[10] नाज़ में;
मेहरबानी के मज़े[11] नामेहरबानी के मज़े।

---

[1]ज़माना। [2]युवा अवस्था। [3]मिलन। [4]शीतल वायु। [5]वियोग। [6]ध्येय पूरा होना। [7]ऊपर तक भरा हुआ। [8]प्याला। [9]कविता पढ़ना। [10]काल, चक्कर। [11]आनंद।

पहलुए जानां[1] के शीरीं[2] गर्मियों से गाह गाह[3];
उम्र फ़ानी[4] में हयाते जावदानी[5] के मजे।
इल्तफ़ाते यार[6] से दौरे तरब आहंग[7] में;
हर क़दम पर 'जोश' मर्गे[8] नागहानी[9] के मजे।

अब आप की 'जवानी' शीर्षक कविता के दो बंद देखिए:—

हर ख़ार[10] में यक फूल है हर फूल में रुख़सार[11];
हर बर्ग[12] में यक रंग है हर रंग में गुलज़ार[13]।
हर मौज[14] में यक रक़्स[15] है हर रक़्स में झंकार;
हर शाख़ में यक लोच है हर लोच में तलवार।
तस्वीर यह तस्वीर बनाती है जवानी।
क्या कुफ़्र की क़ूअत[16] है कि दब जाता है ईमां;
इस्लाम के सीने में लरज़[17] उठता है क़ुरआं।
उड़ जाते हैं मस्जिद में मोअज़्ज़न[18] के भी अवसां[19];
घबरा के निकल जाते हैं काबे के निगहबां[20]।
यूं दैर[21] के जंजीर हिलाती है जवानी।

'जवानी की रात' शीर्षक कविता के कुछ बंद यह हैं :—

आँखों में रूए यार था, आँखें थीं रूए यार पर;
ज़र्रा था आफ़ताब में, ज़र्रे में आफ़ताब था।
मौजे हवा में इत्र था, छिटकी हुई थी चाँदनी;
फूल के सेहने बाग़ में, चर्ख़ पे माहताब था।
दर्द से क़ल्ब चूर थे, कैफ़ से रूह मस्त थी;
सोज़ भी बे नज़ीर था, साज़ भी लाजवाब था।

---

[1]प्रेमिका की बग़ल। [2]मधुर। [3]कभी कभी। [4]मिटने वाली आयु। [5]सदैव रहने वाला जीवन। [6]मित्र की कृपा। [7]प्रसन्नता का राग। [8]मृत्यु। [9]अचानक, सहसा। [10]काँटा। [11]चेहरा। [12]पत्ती। [13]वाटिका। [14]लहर। [15]नाच। [16]बल। [17]कांप उठना। [18]अज़ान देने वाला। [19]होश हवास। [20]रक्षक। [21]मंदिर।

ओठों को वक़्त गुफ़्तगू, चूमती थी शिगुफ़्तगी;
बात जो थी सो फूल की, फूल जो था गुलाब था।
गुंबदे क़स्त्र ऐश में, गूँज रही थी यह सदा;
रात न थी वह कैफ़ की, 'जोश' तेरा शबाब था।

नेत्रों में तो माशूक़ का मुख प्रतीत होता था और मेरी दृष्टि माशूक़ के चेहरे पर थी, ऐसा प्रकट होता था कि सूर्य में कण है और कण में सूर्य है। पहले चरण के विचार से दूसरे चरण की कितनी अच्छी उपमा है! वायु की लहरों में इत्र था और चाँदनी छिटकी हुई थी। वाटिका के आँगन में पुष्प थे और आकाश पर चाँद था। हृदय दर्द के कारण चूर हो रहे थे और आत्मा कैफ़ से मस्त थी। वेदना भी अद्वितीय थी और वाजा भी बेजोड़ था। बात करते समय शिगुफ़्तगी (खिलना) अधरों का चुंबन करती थी। बात क्या थी मानो पुष्प और पुष्प गुलाब था। आनंद भवन के गुंबद में यह आवाज़ गूँज रही थी कि वह मस्ती की रात्रि नहीं थी, वरन् ऐ 'जोश' तेरी जवानी थी।

'जवानी के साज़ो वर्ग' शीर्षक कविता कितनी सुंदर है!

कुछ दिनों भीगी हुई रातों का लुत्फ़े बे क़यास;
शक्करी बातों का रस शादाब चेहरों की मिठास।
कुछ तबस्सुम नर्म कलियों की तरह खिलते हुए;
चंद चेहरे चौदहीं के चाँद से मिलते हुए।
सायदों को चंद शमये आरिज़ों के कुछ गुलाब;
कुछ रुख़ों की सुर्ख़ियां कुछ मस्त आँखों के शराब।
कुछ खुनुक लहजों के शबनम कुछ तरानों की फुहार;
कुछ लबों का शहद कुछ ज़ुल्फ़ों का इत्रे मुश्कबार।
लुत्फ़ के दो एक दिन तफ़रीह की एक आध रात;
ऐ जवानी थी तेरी ले-दे के इतनी कायनात।
वक़्त की ख़ूँरेज़ियों पर बढ़ के पानी फेर दे;
उन दिनों को एक ही शब ऐ जवानी फेर दे।

उन भीगी रातों के आनंद की कल्पना विचार से बाहर है जब मधुर बातों में रस था और विकसित मुखों पर माधुर्य था। मुस्कान कोमल कुसुम की भाँति विकसित

ढ़ोती थी और मुख पूर्णिमा के चाँद से मिलते-जुलते थे। कलाइयों की दीपकें और चेहरे का गुलाब, चेहरे की लाली और मस्त नेत्रों की मदिरा; ठंडे लहजों के ओस और संगीत की फुहार, अधरों में शब्द की मिठास थी और केश इत्र बरसाने वाले थे। ऐ जवानी, तेरी पूँजी क्या है? केवल आनंद के दो एक दिन और तफ़रीह की एक आध रात। समय के अत्याचारों को बढ़ कर मिटा दे। ऐ जवानी, उन दिनों की मुझे एक ही रात फेर दे।

अब आप की ग़ज़लों का भी रसास्वादन कीजिए:—

न छेड़ शायर रबाब रंगीं यह बज़्म अभी नुक्तादां नहीं है,
तेरी नवासंजियों के शायां फ़िज़ाए हिंदोस्तां नहीं है।
मुझे हक़ीक़त से आशना कर दिलों को तस्कीन देने वाले,
हर एक काँटे को ज़िंदगी के नज़र में मेरी गुलाब कर दे।
हरीमे जानाँ में बारयाबी की 'जोश' अगर तुझ को आरज़ू है,
जगा दे ग़फ़लत से बे ख़ुदी को ख़िरद को मसरूफ़ ख़्वाब कर दे।

प्रथम पद में कवि कहता है कि ऐ कवि, तू अभी रंगीन वाजे को मत छेड़। अभी यह महफ़िल बारीकियों के समझने वाली नहीं है, अभी भारत का वायुमंडल तेरे गाने के योग्य नहीं है। तात्पर्य यह कि हिंदोस्तान तेरी बारीकियों को नहीं समझ सकता, अतः तेरा उपदेश बेमौक़ा होगा, तू अभी अपने रहस्य को प्रकट न कर। ऐ हृदय को धैर्य देने वाले, मुझे वास्तविकता से आगाह कर। जीवन के प्रत्येक काँटे को मेरी दृष्टि में गुलाब की भाँति कर दे, जीवन की कठिनाइयों को आसान कर दे। तृतीय पद में 'जोश' कहते हैं कि यदि तुझे अभिलाषा है कि तेरा गुज़र माशूक़ की महफ़िल में हो तो आत्मविस्मृति को ग़फ़लत से जगा दे और बुद्धि एवं ज्ञान को सोता हुआ छोड़ दे। तात्पर्य यह कि यदि तू ईश्वर तक पहुँचना चाहता है तो अपने को आत्म-विस्मृति की दशा में कर दे और स्वयं मूर्ख बन जा। इस पद में छायावाद का गहरा पुट है।

अब आप की हुस्नो-इश्क़ संबंधी कविताओं का लुत्फ़ उठाइए। आप की एक कविता 'सताए हुए से हो' के कुछ पद दिए जाते हैं।

क्यों सुब्ह यूं अरक़ में नहाए हुए से हो;
शायद किसी ख़लिश के जगाए हुए से हो।

क्यों ख़ैर तो है आज है क्या दुश्मनों का हाल;
आँखें हैं सुर्ख़ अश्क बहाए हुए से हो।
आसार कह रहे हैं छिपाने से फ़ायदा;
दर परदा दिल किसी से लगाए हुए से हो।
जिन मशग़लों से खेलती रहती थी कमसिनी;
उन मशग़लों से हाथ उठाए हुए से हो।
रखते कहां हो और कहां पड़ रहा है पाँव;
मस्तों की तरह होश गँवाए हुए से हो।
अगला सा आज चश्म ग़िज़ाली में रम नहीं;
शायद किसी के दाम में आए हुए से हो।
क्या 'जोश' ना मुराद को देखा है ख़्वाब में;
यूं सुब्ह को जो शाम बनाए हुए से हो।

मशग़लों से तात्पर्य काम, कमसिनी से कम उम्री, चश्म ग़िज़ाली से हिरन के नेत्र, रम से भागना, दाम से जाल और ना मुराद से जिस की अभिलाषा न पूरी हुई हो।

अब आप की उपमाओं और अलंकारों का रसास्वादन 'बेकस बीमार' शीर्षक कविता में कीजिए :—

मौत के बिस्तर पर एक दोशीज़ा है लेटी हुई;
जिस ने देखी हैं अभी चौदह बहारें उम्र की।
चेहरए गुल रंग है इस तरह बीमारी से फ़क़;
झुटपुटे के आख़िरी लम्हे की हो जैसे शफ़क़।
चल रही है नब्ज़ यूं उठती है जब रह रह के हूक;
फ़िलसफ़ी के क़ल्ब में जैसे मचलते हों शकूक।
कमसिनी के वलवले इस तरह हैं मजरूह यास;
शहद ख़ालिस में कोई जिस तरह हल कर दे खटास।
यूं बिसाते रंगे रोग़न है उलटने के क़रीब;
जैसे अंगारों पे बासी दूध फटने के क़रीब।
रुख़ की जौ यूं मुज़्महिल है रौ में महसूसात की;
हल्की फीकी चाँदनी जिस तरह पिछले रात की।

• एक कुँवारी कम उम्र लड़की, जिस की आयु केवल चौदह वर्ष की है, मृत्यु के बिछौने पर लेटी हुई है, उस का पुष्प जैसे रंग वाला मुख बीमारी के कारण इस प्रकार उतरा हुआ है जिस प्रकार कि गोधूली के समय उषा का रंग हो। उस की नाड़ी जब उस के हृदय में हूक उठती है, इस भाँति चलती है मानो किसी दार्शनिक के हृदय में संदेह मचल रहे हों। कम उमरी की अभिलाषाएं और वलवले निराशाओं से इस प्रकार ज़ख़्मी हैं जैसे शुद्ध शहद में कोई खटास मिला दे। उस का रूप और उस की छटा इस प्रकार अदृश्य हो रही है जैसे बासी दूध आग पर रखने से फटने के क़रीब हो। उस के मुख का प्रकाश उस के विचारों में इस तरह बेकार हो रहा है और ऐसा फीका मालूम होता है जिस तरह कि पिछले रात की चाँदनी हलकी और फीकी हो।

कवि ने कविता के प्रत्येक आरंभ के चरण को दूसरे चरण में उपमाएं लाकर किस प्रकार निबाहा है, यह तो कवि की कुशल कला का नमूना है। प्रत्येक उपमा अपने स्थान पर ठीक मालूम होती है और एक दूसरे चरण की लगावट को भलीभाँति प्रकट करती है। ख़यालात स्वयं मस्तिष्क से काग़ज़ पर आते जाते हैं और कवि उन को इस प्रकार प्रकट कर देता है कि संदेह की कदापि गुंजाइश नही रहती।

अब आप की 'मुंह अँधेरे का जादू' शीर्षक कविता देखिए। कविता इतनी सरल है कि उस का प्रभाव तुरंत हृदय पर पड़ता है।

यह कौन उठा है शरमाता?
रैन का जागा नींद का माता।
नींद का माता धूम मचाता;
अंगड़ाइयां लेता, बल खाता।
यह कौन उठा है शरमाता?
रुख़ पर सुर्ख़ी आँख में जादू;
भीनी भीनी बर में ख़ुशबू।
बाँकी चितवन सिमटे अबरू;
नीची नज़रें बिखरे गेसू।
यह कौन उठा है शरमाता?
नींद की लहरें गंगा-जमुनी;
जिल्द के नीचे हलकी-हलकी।

आँचल ढलका मसकी सारी;
हलकी मेंहदी धुँधली बेंदी।
यह कौन उठा है शरमाता?

अब आप के 'किसान' शीर्षक कविता के कुछ पद देखिए :—

पारा पारा अब्र सुर्ख़ी सुर्ख़ियों में कुछ धुवां;
भूली भटकी सी ज़मीं खोया हुआ सा आसमां।
ख़ामुशी औ' ख़ामुशी में सनसनाहट की सदा;
शाम की ख़ुनकी से गोया दिन की गरमी का गिला।

इन दोनों पदों में कवि ने संध्या समय का चित्र खींचा है। बादल टुकड़े-टुकड़े हो गया है, उस में लाली आ गई है, और लाली में धुवां नज़र आता है। पृथ्वी भूली-भटकी सी दीख पड़ती है और आकाश खोया हुआ सा ज्ञात होता है। बिल्कुल सन्नाटा छाया हुआ है और सन्नाटे में कुछ सनसनाहट की आवाज़ ऐसी मालूम होती है मानो दिन की गरमी शाम की ठंडक से शिकायत कर रही हो। फिर कवि किसान के संबंध में क्या कहता है—

दौड़ती है रात को जिस की नज़र अफ़लाक पर;
दिन को जिस की उँगलियां रहती हैं नब्ज़े ख़ाक पर।

रात को उस की दृष्टि आकाश पर दौड़ती है और दिन में उस की उंगलियां पृथ्वी की नाड़ी पर रहती हैं।

टोकरा सर पर, बग़ल में फावड़ा त्योरी पै बल;
सामने बैलों की जोड़ी दोश पर मज़बूत हल।

इस पद में किसान की एक तस्वीर खींच दी गई है। दोश से तात्पर्य कंधा है।

डूबता है ख़ाक में जो रूह दौड़ाता हुआ;
मुज़महिल ज़र्रों की मौसीक़ी को चौंकाता हुआ।
जिस की ताबानी के अंदर जौ हिलाले ईद की;
ख़ाक के मायूस मतले पर किरन उम्मीद की।
जिस का मस ख़ाशाक में बुनता है यक चादर महीन;
जिस का लोहा मान कर सोना उगलती है ज़मीन।

अपनी दौलत को जिगर पर तीरग़म खाते हुए;
देखता है मुल्क दुश्मन की तरफ़ जाते हुए।
सीमो ज़र, नानो नमक, आबो ग़िज़ा कुछ भी नहीं;
घर में यक ख़ामोश मातम के सिवा कुछ भी नहीं।

किसान अपनी आत्मा को पृथ्वी पर दौड़ाता हुआ डूबता है और इस प्रकार पृथ्वी के कणों को अपनी संगीत सुधा से चौंका देता है। उस के प्रकाश में ईद के चाँद का प्रकाश है, और मिट्टी के निराशामय बादल में आशा की किरन है; उस के मिट्टी के स्पर्श करने से एक महीन चादर सी ख़ाक पर बुन जाती है, और पृथ्वी उस का लोहा मान कर सोना उगलती है। अपनी कमाई की पूँजी को अपने जिगर पर दुख का तीर खाते हुए बैरी के देश की ओर जाते हुए देखता है। उस के पास चाँदी, सोना, रोटी, नमक, पानी, खाना कुछ भी नही है, तात्पर्य यह कि उस के घर में एक ख़ामोश मातम (शोक) के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। 'ख़ामोश मातम' ने पद में जान डाल दी है।

आप ने 'रवां' साहब उन्नावी के मृत्यु पर शोक प्रकट करते हुए 'मातम रवां' शीर्षक कविता लिखी। कितने ग़ज़ब की है। इस से यहां पर अंतिम उद्धरण दिया जाता है:—

यक ऐसा सदमये जाँकाह पहुँचा है कि रह-रह कर;
ख़ुद अपनी जिंदगी की तल्ख़ियों को भूल जाता हूं।
न जाने कौन मुतरिब उठ गया है बज़्म आलम से,
कि अपने दिल के अंदर एक सन्नाटा सा पाता हूं।
फ़िज़ा तारीक हो जाती है, तारे काँप उठते हैं।
'रवां' की मौत पर रातों को जब आँसू बहाता हूं।

'रवां' साहब उन्नाव के एक प्रसिद्ध उर्दू कवि थे। आप की मृत्यु से 'जोश' के हृदय में वज्रपात सा हुआ। दुख प्रकट करते हुए आप फ़रमाते हैं कि उस की मृत्यु से मेरे हृदय में एक ऐसा जीवन को घुलाने वाला दुख मिला है कि वह इस दुख के आगे स्वयं अपने दुखों को भूल जाता है। कवि कहता है कि नहीं मालूम कि इस संसार की महफ़िल से कौन सा गायक उठ गया है कि वह अपने हृदय में एक सन्नाटा सा पाता है।

ज़िस समय मैं रात्रि में 'रवां' की मौत पर आँसू बहाता हूं, वायुमंडल बिल्कुल अंधकारमय हो जाता है और तारे काँप उठते हैं।

'जोश' साहब की रचनाएं वास्तव में जोश पैदा करने वाली होती हैं। उन के अध्ययन से रोमांच उत्पन्न हो आता है, हृदय में क्रांति की लहर दौड़ जाती है, किंतु क्षणिक काल के लिए; क्योंकि यह देखा गया है कि मनुष्य एक कान से सुनते हैं और दूसरे से निकाल देते हैं। यदि उस पर अमल किया जाय तो यथार्थ में एक ज़बरदस्त परिवर्तन हो सकता है; परंतु सुनता ही कौन है ? ख़ैर जो भी हो, 'जोश' साहब अपना एक विशेष उद्देश्य लेकर आए हैं, वह उद्देश्य है मुर्दा दिलों में जान फूँकना। उन्हें जगाना। वह अपने उद्देश्य में उसी समय सफल होंगे, जब समस्त भारतवासी उन के कहने पर अमल करेंगे, अन्यथा यूं तो बहुत आए और बहुत से चले गए।

समालोचना

कविता

हल्दीघाटी—रचनाकार, श्री श्यामनारायण पांडेय; प्रकाशक, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग; कई चित्रों सहित, सजिल्द । पृष्ठ-संख्या २५ + २०० ।

'हल्दीघाटी' पुस्तक महाराणा प्रतापसिंह की काव्यात्मक जीवनी है । इस में उन के जीवन की प्रमुख घटनाओं का वर्णन किया गया है । पुस्तक के प्रारंभ में 'समाधि के समीप' से १६-१७ पृष्ठों की भूमिका है जिस में लेखक ने महाराणा के वीर चरित्र और उन के जीवन के संकटों और परीक्षाओं का उल्लेख किया है । भूमिका महाराणा प्रताप को संबोधित कर के लिखी गई है, और लिखने का ढंग पुराना किंतु प्रभावशाली है । तत्पश्चात् मंगलाचरण और प्रस्तावना के दो-तीन पृष्ठ हैं । फिर १५ पृष्ठों में 'प्रताप', 'चित्तौड़', 'झालामान्ना', 'वीर सिपाही', 'चेतक', 'हल्दीघाटी' और महाराण के 'भाला' का परिचय ओजस्वी रीति से कराया गया है । इस के बाद सर्गबद्ध कथा का आरंभ होता है जो सत्रह सर्गों में समाप्त होती है । पुस्तक में प्रत्येक सर्ग की पंक्ति-संख्या दी गई है जिन का कुल जोड़ ३८१२ होता है । अंत में १०८ पंक्तियों का परिशिष्ट है जिस में मेवाड़ के 'अभिमानी सिंहासन' की रक्षा के लिए महाराणा प्रताप की आत्मा का आवाहन किया गया है । यह पंक्ति-संख्या पंक्तियों के मुद्रण के हिसाब से दी गई है, छंद के हिसाब से वह इस की आधी हो जायगी ।

इस पुस्तक को लेखक ने 'वीररस प्रधान आदि महाकाव्य' शीर्षक दिया है, इसलिए आशा की जा सकती थी कि पुस्तक जीवनी के ढंग पर न चल कर चरित्रप्रधान काव्य के पैमाने पर चलेगी और यदि महाकाव्य कहलाना उस का लक्ष्य है तो उस के कथाक्रम और वर्णनशैली भी उदात्त और उत्कर्षप्राप्त होंगे (जो महाकाव्य के लिए अनिवार्य है) किंतु हम देखते हैं कि लेखक जीवनी के प्रति अपना मोह नहीं छोड़ सका है । इस दृष्टि से दो बातें विशेष रूप से खटकती हैं। प्रथम सर्ग की सारी कथा, जिस में शक्तिसिंह और

प्रताप का प्रसंग है, काव्य के लिए अनावश्यक तो है ही, महाराणा के चारित्रिक उत्कर्ष के लिए घातक भी हो गई है। जो एकत्व ('यूनिटी') काव्य अथवा कथा के संघटन में अत्यावश्यक है उस का कोई पता हमें प्रथम सर्ग में नहीं मिलता। दूसरे सर्ग से लेकर अंत तक कथा महाराणा के चरित्रोकर्ष से संबद्ध है। प्रथम सर्ग में हम यह बात नहीं पाते। शेष काव्य से उस का क्या संबंध है, यह स्पष्ट नही होता। जीवनी का यह अंश काव्य का अंश नहीं बनाया जा सका।

दूसरी घटना जो महाराणा के उदात्त चरित्र से मेल नहीं खाती—बच्चों के दुःख से उन का रो पड़ना और उसी से क्षुब्ध हो कर अकबर के पास संधिपत्र भेजने को तैयार हो जाना है। इस अवसर पर महाराणा के मानवोचित कौटुंबिक स्नेह और उन की पत्नी की चारित्रिक दृढ़ता प्रकट हुई है, किंतु प्रताप के चरित्र का सम्यक् निर्वाह नही हो पाया।

ये दो प्रसंग हैं जो महाराणा के चरित्र और काव्य के संघटन के अनुकल नहीं हुए। महाकाव्य के उत्कर्ष के संबंध में यह कह सकते है कि महाकाव्य के लिए आवश्यक महत् प्रेरणा, नव्य दर्शन और तदनुकूल काव्य-प्रस्रवण लेखक में नहीं हैं। महाराणा प्रताप का रोप उभाड़ने के लिए जिन घटनाओं का संघटन किया गया है वे अलग-अलग बिखरी हुई और छोटी परिधि पर खड़ी हुई हैं। राष्ट्रव्यापी उद्वेजन का आभास देने और दृश्य दिखाने में लेखक सफल नहीं हुआ। विद्रोही और स्तब्ध वातावरण का निर्माण करने के उपयुक्त काव्यशक्ति उस ने नहीं दिखाई। अकबर के चरित्र में कामुकता और चुंबन-आलिंगन आदि का वर्णन न तो महाकाव्य के प्रतिनायक के ऐश्वर्य के अनुरूप है, और न दूसरा पक्ष विवशता और अनिवार्य वैमनस्य की स्थिति पर पहुँचाया गया है। घात और प्रतिघात दोनों ही क्षुद्र पैमाने पर चित्रित है।

इस पुस्तक की कुछ अपनी विशेषताएं भी है। वीररस के साधन-स्वरूप इस में एक तीव्रगति और उद्वेग संनिविष्ट है। क्रियाओं के बाहुल्य द्वारा गति की तीव्रता उत्पन्न की गई है। यह रचनाकार की अपनी चीज़ है—

निर्बल बकरों से बाघ लड़े।
भिड़ गए सिंह मृग छौनों से।
घोड़े गिर पड़े गिरे हाथी।
पैदल बिछ गए बिछौने से।

क्रियाओं का बाहुल्य' देखने लायक़ है ।

एक दूसरी चीज़ जो हमें आकर्षित करती है वह है तुकों का आनुकूल्य और इस प्रकार की द्विरुक्तियां—

राणा का जयकार भरा,
इस में स्वदेश का प्यार भरा ।
शांत जलधि में ज्वार भरा,
नीरव में हाहाकार भरा ।

ये कई जगह तो सस्ते ढंग से व्यवहार की गई हैं किंतु जहां ऐसा नहीं हुआ वहां वे प्रभावशालिनी हुई हैं—

चेत करो अब चेत करो,
चेतक की टाप सुनाई दी ।
भागो, भागो भाग चलो,
भाले की नोक दिखाई दी ।

यह मैथिलीशरण जी की शैली के अनुरूप हैं । लेखक ने सफलतापूर्वक इस को निबाहा है । किंतु अतिरंजित और शिथिल वर्णनों की भी उस में कमी नही है । 'चेतक' के मर जाने पर प्रताप का विलाप—

हा चेतक तू आँखें खोल,
कुछ तो उठ कर मुझ से बोल ।
मुझ को तू न बना निरुपाय,
मत बन मुझ से निठुर अबोल ।

ये पंक्तियां निरी तुकबंदी हैं । इन की प्रशंसा कविसम्मेलनों की भीड़ ही कर सकती है, कोई भी काव्यविवेचक नहीं । 'हल्दीघाटी' में नई उपमाओं, नए भावविन्यास और नवीन मानसिक चित्रणों की कमी बहुत खटकती है ।

अवश्य ही महाराणा प्रताप की कथा हिंदूमात्र के लिए जातीय गौरव का विषय है, किंतु उसे काव्य के साँचे में ढालना और नवीन अभिव्यंजना से सज्जित करना—नए काव्य का स्वरूप देना—विशिष्ट कवि का काम है । प्रस्तुत पुस्तक पुरानी शैली पर

लिखी गई है और वह भी पर्याप्त प्रौढ़ नहीं है। हिंदी में नवीनतर शैलियों और प्रौढ़तर काव्यों के समकक्ष हम 'हल्दीघाटी' को नहीं रख सकते। फिर भी इसे 'देव पुरस्कार' द्वारा पुरस्कृत किया गया है। यहां हम इस विवाद में नहीं पड़ना चाहते कि इस का कारण क्या है या क्या हो सकता है। संभव है निर्णायकों का जातीय अभिमान काव्यविवेचन में बाधक बन गया हो। यह भी असंभव नहीं कि निर्णायक पुरानी शैली के हिमायती हों।

नं० वा०

अपराजिता—रचयिता, रामेश्वर शुक्ल, 'अंचल'; प्रकाशक, छात्रहितकारी पुस्तकमाला, प्रयाग; पृष्ठ संख्या २४+१७४; जिल्द-सहित मूल्य २) । १९३९ ।

'अपराजिता' नवीन काव्यधारा की सृष्टि है। यह मुक्तक काव्य ह। इस में प्रेमी के हृदयोद्गार के रूप में ऐसी प्रेमिका के स्मृतिचित्र हैं जो प्रेमी से मिली ही भर है किंतु स्थिर संबंध-स्थापन के पूर्व ही जो स्वर्ग प्रयाण कर गई है। (प्रचलित सामाजिक प्रतिबंधों का संकेत)। इन चित्रों में प्रचुर भावोन्माद भी मिलता है जो स्वस्थ काव्य के लिए अनुपयोगी है किंतु यह प्रयास नई दिशा में है और कवि द्वारा नियोजित नए रूप-विन्यास, नवीन अलंकार—उस की नव्य प्रतिभा के स्फुरण को देखते हुए हम कह सकते हैं कि अनावश्यक भावोन्माद शीघ्र ही प्रशमित होगा और कवि अपने काव्य को पूर्ण स्वस्थ और शक्तिशाली बना लेगा।

नई और अछूती अभिव्यक्ति की सूचना मिलने पर कवि की प्रतिभा पर आप ही जो विश्वास उत्पन्न होता है वह किसी भी पुरानी पगडंडी पर चलने वाले के प्रति नही उत्पन्न हो पाता। 'बिना लीक वाले शायर' की महिमा आज से नहीं बहुत दिनों पूर्व से ही लोक-प्रचलित है। किंतु साथ ही हम यह आशा नहीं कर सकते कि वह नई सृष्टि आरंभ से ही परिपुष्ट और सर्वगुणसंपन्न भी होगी। आरंभ में हमें देखना इतना ही पड़ता है कि वह रचनाकार किस गतिविधि से आगे बढ़ रहा है। उस के पास संबल कैसा है और उस की प्रवृत्तियां कैसी है।

'अपराजिता' के कवि की प्रवृत्तियों के संबंध में दो आरोप मुख्यतः किए जाते हैं। एक यह कि उस के भावों में अस्पष्टता, धुँधलापन, और अनावश्यक फेन या उबाल है और साथ ही उस की शब्दयोजना में शैथिल्य और रचना में अनाकांक्षित विस्तार है जिस से भावों का मार्मिक प्रभाव घट जाता है। दूसरा यह कि उस की अंतर्निहित भावना यथेष्ट

परिमार्जित नहीं।' ये दोनों दोष ऐसे हैं जो एक युवक कवि के लिए जो नवीन प्रयाग में व्यस्त है, क्षम्य ही नहीं बहुत अंशों में अनिवार्य भी हैं। किंतु इस के साथ ही हमें यह भी देखना है कि रचनाकार की शक्तियां कैसी हैं, वह इन अवरोधों को लाँघने में समर्थ है या नहीं। प्रगतिशील जीवन से उस का संबंध (अवश्य ही काव्यगत संबंध) घनिष्ट है या नहीं। इन दृष्टियों से 'अपराजिता' का स्वागत होना चाहिए। 'अपराजिता' में ऐसी प्रेरणाएं दिखाई देती हैं जो उफान के स्थान पर प्रोज्ज्वल विद्रोह की ओर उस के लिए अत्यावश्यक शांत और सुदृढ़ मनस्थिति की संघटना कर सकें।

यह तुम्हारी व्याप्ति जीवन में न जब तक शांति लाती।
बस समझ लो है अधूरी प्राण तेरी ज्योति बाती॥—अपराजिता

अंचल जी की नई रचनाएं 'रोती हो' 'वह मजूर की अंधी लड़की' और 'दोपहर की बात' आदि उसकी पुष्टि करती हैं। नं० वा०

नाटक

'सत्याग्रही (या हरिश्चंद्र नाटक)—लेखक, श्री ब्रजनंदन शर्मा; प्रकाशक, दक्षिण भारत हिंदी-प्रचार सभा, मद्रास; पृष्ठ-संख्या १२८, सादी जिल्द, मूल्य ॥)

यह नाटक महाराज हरिश्चंद्र की पौराणिक कथा में फेरफार करके संभवतः इस उद्देश्य से लिखा गया है कि इस में नवीन समस्याओं का दिग्दर्शन हो जाय, सत्याग्रह संबंधी लेखक के विचार प्रकाश में आ जाएं और साथ ही स्वप्न में राज्य खोने के अलौकिक हेतु के स्थान पर लौकिक और बौद्धिक हेतु की प्रतिष्ठा हो जाय। इसी लिए लेखक ने स्वप्नवाले प्रसंग को छोड़ कर हरिश्चंद्र से केवल लौकिक प्रतिज्ञा करवाई है यद्यपि यहां भी कोई ऐसा आधार नहीं मिलता जिस से हरिश्चंद्र का प्रतिज्ञाबद्ध हो जाना बुद्धि सम्मत माना जाय। किसी के कहने मात्र से वचनबद्ध हो जाना न तो सत्याग्रही का गुण हो सकता है न बुद्धिवादी का। इस की अपेक्षा तो स्वप्न में राज्य हार जाने पर उसे छोड़ देने का मानसिक और मनोवैज्ञानिक आधार अधिक परिपुष्ट है।

किसानों का सुधार, बुद्धिवाद की प्रतिष्ठा और सत्याग्रह, इन एकाधिक लक्ष्यों का समन्वय करने में नाटककार को सफलता नहीं मिल सकी है, जिस के कारण नाटक की रचना विश्रृंखल और उस का प्रभाव शिथिल हो गया है। विशेष कर विश्वामित्र

१४

संबंधी कथांश में नाटकीयता का अभाव खटक जाता है। मूल पौराणिक कथा में अलौकिकता का जो नाटकीय आकर्षण है, वह भी इस में नहीं।

यदि आधुनिक सत्याग्रही स्वप्न की सत्यता पर विश्वास नहीं करता (पौराणिक कथा में स्वप्न को सत्य मान कर कितना सांकेतिक प्रभाव उत्पन्न किया गया है!) तो वह बिना पूरी बात को जाने और उस की सत्यनिष्ठता परखे, प्रतिज्ञा कर लेना भी सत्याग्रह के नियम के विपरीत मानेगा। कथा में नवीनता का आयोजन न तो नाटकीय दृष्टि से और न सत्याग्रह-संबंधी नवीन धारणा को स्पष्ट करने की दृष्टि से सफल हुआ है।

पुस्तक का पिछला हिस्सा जिस में मूल पौराणिक कथा का, जो अत्यधिक करुणापूर्ण और नाटचोपयोगी है, अनुकरण किया गया है, पूर्वांश की अपेक्षा अधिक अच्छा बन पड़ा है। मालूम होता है लेखक ने नए विचारों को भरने की चेष्टा में बहुत जल्दी की है, पुस्तक को कला की वस्तु बनाने में उन का समुचित उपयोग नहीं किया और नए विचारों मे भी यथेष्ट प्रौढ़ता लाने का प्रयत्न नही किया। पूर्वार्द्ध की नई कथा और उत्तरार्द्ध की मूल कथा का नाटकीय, कलात्मक तथा विचारमूलक संबंध भी वह स्थापित नही कर सका। तो भी नवीन लेखक का यह प्रथम प्रयास उत्साहवर्द्धन के योग्य है।

नं० वा०

आलोचना

साकेत--एक अध्ययन:--लेखक, प्रो० नगेंद्र, एम० ए०; प्रकाशक, साहित्यरत्न भंडार, आगरा; पृष्ठ संख्या २६४। सादे काग़ज़ की जिल्द। मूल्य १॥)

'साकेत' श्री मैथिलीशरण गुप्त जी की सुप्रसिद्ध रचना है। उसी का एक अध्ययन प्रो० नगेंद्र ने इस पुस्तक में प्रस्तुत किया है। 'अध्ययन' शब्द का जो अर्थ पाश्चात्य समीक्षा में प्रचलित है और उस के जैसे निदर्शन हम वहां पाते हैं, उस का इस अध्ययन में बहुत अंशों तक अभाव दीखता है। वहां अध्ययन में पुस्तक के विभिन्न पहलुओं को केवल सामने ही नहीं रखते, सामग्री का केवल वर्गीकरण ही नहीं कर देते, ऐतिहासिक और वैज्ञानिक आधार पर एक-एक पहलू की पूरी छानबीन करके पुस्तक की विशेषताएं प्रकाश में लाते हैं। प्रस्तुत अध्ययन में प्रो० नगेंद्र ने महाकाव्य के उपकरणों, गुप्त जी की काव्य-शक्ति, साकेत के निर्माणात्मक अंगों और पहलुओं और उस के काव्यजन्य समन्वय आदि पर अपना अध्ययन हमें नहीं दिया, यद्यपि

काव्य और कला-समीक्षा के ये केंद्रीय अंग हैं। 'साकेत की शैली और उस के प्रसाधन' वाले अध्याय में, जहां हम इन की कुछ आशा रख सकते थे, इन का अभाव पाते हैं। काव्य-समीक्षा की दृष्टि से जो अपेक्षाकृत कम महत्व के विषय हैं, उन का बड़े विस्तार के साथ हवाला दिया गया है। किंतु यह हवाला भी संग्रह मात्र है, इस में विवेचना का अंश बहुत थोड़ा है। 'साकेत के गार्हस्थ्य चित्र' और 'साकेत का सांस्कृतिक आधार' के अध्यायों में तो ऐसा जान पड़ता है कि अध्ययनकर्ता उन चित्रों की काव्यात्मक विशेषता और उस संस्कृति के ऐतिहासिक आधारों का उल्लेख छोड़ कर अपने को उन्हीं में रमा लेना चाहते हैं। अवश्य ही यह अध्ययन का तरीक़ा नहीं है। 'साकेत' के भावपूर्ण स्थलों के चुनाव में भी व्यक्तिगत अभिरुचि का प्राधान्य है, काव्य के विश्लेषण का प्रयास नहीं। गुप्त जी के प्रति कोरी श्रद्धा उत्पन्न करने में यह पुस्तक काम दे सकती है किंतु उस श्रद्धा का कोई सुदृढ़ आधार स्थापित करने का प्रयत्न लेखक ने नहीं किया (यदि आधारहीनता ही श्रद्धा का दूसरा नाम हो तो बात और है)। श्रद्धा की पराकाष्ठा प्रो० नगेंद्र ने अपने इस काव्य में उपस्थित की है—'मानवत्व, मानव के पारस्परिक संबंध-संसर्गों का व्याख्यान, साकेत की अक्षय विभूति है।' क्या ही अच्छा होता यदि इस प्रकार के कहीं न ले जाने वाले निर्देशों को छोड़ कर प्रो० नगेंद्र इस पुस्तक की भूमिका में पंडित अमरनाथ झा द्वारा सुझाई हुई गुप्त जी की काव्यशैली की ही एक क्रमबद्ध और सुस्पष्ट व्याख्या पाठकों के सम्मुख रखते। तब पुस्तक कम से कम विद्यार्थियों के लिए 'कुंजी' का काम दे सकती। प्रस्तुत रूप में पुस्तक केवल पढ़ी जा सकती है, समझने का काम उस से नहीं लिया जा सकता। इस दृष्टि से लेखक द्वारा इस पुस्तक के लिए प्रयुक्त 'एक अध्ययन' शब्द एक दूसरे प्रकार से सार्थक हो गया है!

नं० वा०

आत्मचरित

आत्मचरित-चंपू—लेखक, प्रोफ़ेसर अक्षयवट मिश्र; प्रकाशक, पुस्तक भंडार, लहेरियासराय। जिल्द और चित्रों सहित। पृष्ठ-संख्या १५०। मूल्य १॥)

प्रोफ़ेसर अक्षयवट मिश्र हिंदी के पुराने लेखकों में से हैं। आजकल आप पेन्शन पा कर घर रहते हैं। घर आप का डुमरांव, बिहार प्रांत में है। वृद्धावस्था के कारण, खेद है, आप का स्वास्थ्य इन दिनों अच्छा नहीं रहता। 'आत्मचरित' में आप लिखते हैं—

'अब तो स्मृति अत्यंत क्षीण होती जा रही है, केवल हरिनाम स्मरण ही अवलंब है।' प्रस्तुत पुस्तक आप ने अपने मित्रों के अनुरोध से लिखी है।

यद्यपि इस पुस्तक को मिश्र जी ने चंपू नाम दिया है किंतु इस में प्रायः सब का सब गद्य है। केवल अध्यायों के आरंभ और अंत में दो एक छोटे-छोटे पद्य दे दिए गए हैं (जो भक्तिमूलक है, और जिन से पुस्तक की कथा का कुछ भी संबंध नहीं)। पुस्तक में प्रसंगवश कुछ कवियों के और स्वयं मिश्र जी के बनाए कुछ छंद भी उद्धृत हैं, किंतु पुस्तक का मूलभाग गद्य में ही है।

मिश्र जी के गद्य की भाषा बड़ी साफ़, सरल और स्पष्ट है। आप के लिखने का ढंग आत्मीयतापूर्ण और आकर्षक है। यही कारण है कि आप की इस जीवनी में उस समय की सामाजिक दशाओं का बड़ा ही जीता-जागता चित्र उतर आया है। आज बहुत से लेखक उन बातों को लिखने में संकोच करते जिन्हें मिश्र जी ने खुले दिल, बिना झिझक, बिना क़लम पर बल पड़े, लिख दिया है। इस से, अनजान में ही, पुस्तक सत्य और स्वाभाविकता के बहुत निकट चली आई है।

अपनी पत्नी के संबंध में मिश्र जी लिखते हैं—"उस समय मेरी सुंदरी पत्नी की अवस्था केवल १३ वर्ष की थी। हृदय का आदान-प्रदान समस्त जीवन भर के लिए हो गया। रूप-शोभा देख कर चित्त वशीभूत हो गया।...मेरे परिवार के सभी लोग इन के रूप-गुण और शील-स्वभाव से प्रसन्न हो गए।...मैं दांपत्य सुख से सुखी हूं। सदा इन को साथ रखता हूं। इन की प्रतिष्ठा भी बहुत करता हूं। अधिकार भी बहुत दे दिए हैं।...जिस ने मेरे लिए जन्मभूमि, भाई, पिता-माता, कुलपरिवार, मान-मर्यादा, सब का त्याग किया उस के प्रति मेरा भी तो कुछ कर्तव्य है।"

यही दिल की सच्ची बात चित्रों को सर्वत्र सजीव बना सकी है। साथ ही चित्र भी ज्यों के त्यों बिना किसी रंगामेजी के खिंच आए हैं। राजघरानों और पूँजीपतियों से संपर्क जोड़ने की प्रेरणा, उन की प्रशंसा में स्तुतियां बनाना, उन की सहायता से पढ़-लिख सकना और सामाजिक मानमर्यादा बढ़ा पाना, संस्कृत और हिंदी पढ़े लिखों की उस समय की कठिनाइयां, अंग्रेज़ अधिकारियों के पास जाकर प्रश्रय पाना, उन के गुणों का गान और उन की मैत्री का सम्मान करना आदि अपनी और अपने समय की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का अच्छा ख़ाका मिश्र जी ने खींचा है।

पुस्तक इतनी छोटी है कि चित्र खूब भरे-पूरे नहीं आ सके हैं। विविधता भी कम है। समसामयिक हिंदी साहित्य और साहित्यिकों की चर्चा बहुत ही थोड़ी है। हम चाहते हैं कि मिश्र जी इस संबंध में एक स्वतंत्र ही पुस्तक लिखें जिस में विहार और कलकत्ता के उस समय के साहित्यिकों का पूरा हवाला हो। अतः हमारी परमेश्वर से प्रार्थना है कि मिश्र जी शीघ्र ही स्वस्थ हो कर इस काम को पूरा कर दें।

नं० वा०

स्फुट

खेती की कहावतें—प्रकाशक, ग्रंथमाला कार्यालय, बाँकीपुर। संग्रहकर्ता, श्री 'व्यथित हृदय'; पृष्ठ-संख्या, ८७। मूल्य ।।=)

यह पुस्तक घाघ और भड्डरी के नाम से प्रचलि कृषिविपयक पुरानी कहावतों का फुटकल संग्रह है। उन कहावतों का, जो पुराने पद्य में हैं, अर्थ खड़ी बोली गद्य में दे दिया गया है। घाघ और भड्डरी की कहावतों का संग्रह हिंदुस्तानी एकेडमी से भी प्रकाशित हो चुका है। वह इस से कही बड़ा है। जनता के उपयोग में इस प्रकार की पुस्तकें तभी आ सकती हैं जब किसी कृपिविशेषज्ञ के द्वारा, आवश्यक टिप्पणियों और विवरणों के साथ ये प्रकाशित की जायँ। यही नहीं, नवीन अनुसंधान को भी उन में स्थान दिया जाय। कृषि भारतवर्ष का सर्वप्रधान उद्योग है। इस के सुधार के लिए सरकारी कमीशनें भी बैठ चुकी हैं और महकमे खुले हुए हैं। आवश्यकता यह है कि उन का काम फ़ाइलों तक ही सीमित न रहे, सस्ती पुस्तकों के रूप में किसानों के सामने वह रक्खा जाय। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक 'खेती की कहावतें' जैसी पुस्तकें केवल साहित्यिक मनोरंजन का काम दे सकती हैं।

नं० वा०

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग १० } जूलाई, १९४० { अंक ३

शाकुंतल का नैतिक रहस्य : एक नया दृष्टिकोण

[लेखक—श्रीयुत भगवतशरण उपाध्याय, एम्० ए०]

पंद्रह सौ वर्ष से अधिक हुए जब महाभारत की एक सामान्य आख्यायिका को लेकर एक महाकवि ने उस में अमर प्राण फूँक दिए। तब से आज तक निरंतर हम ने उस के संपर्क से अनंत साहित्यिक आनंद का लाभ उठाया है। यह शाकुंतल क्या है ? क्या एक श्रृंगारिक कवि की वासना का रौप्य व्यक्तीकरण ? इतने दिनों से देशी-विदेशी विद्वान् इस शाकुंतल के स्रष्टा को असीम श्रद्धा और आश्चर्य से देखते आ रहे हैं, पर क्या उन्हों ने कभी 'अभिज्ञानशाकुंतल' सी अलभ्य कृति के बाह्यरूप के पीछे छिपी हुई उस की आत्मा पर एक दृष्टि डाली है ? महाकवि बाणभट्ट कालिदास की सूक्तियों में 'मधु-मंजरी'[1] का आस्वादन करता है, पर इस मधुरिमा के भीतर झाँक कर कहीं वह देख सकता तो उसे ज्ञात हो जाता कि अध्यात्म की माधुरी इस साहित्यिक मंजरी से कहीं सुस्वादु

---

[1] निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुर सार्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ॥

और टिकाऊ है। मल्लिनाथ सा धुरंधर टीकाकार भी कालिदास की 'सरस्वती' की अंतरात्मा तक पहुँचने से वंचित ही रह गया![1]

'अभिज्ञानशाकुंतल' नाटक एक आध्यात्मिक रहस्य है जिस की पहली झाँकी स्वयं कालिदास ने ली है। दुष्यंत महाभारत का लंपट और कामुक राजा नहीं, प्रत्युत कालिदास का उत्तम पात्र है जिस के चरित्रचित्रण में उस ने अपना सब कौशल लगा दिया है। भले ही शकुंतला के त्याग से हम उस की गर्हणा करें, परंतु क्या कोई सहृदय कला-मर्मज्ञ सचमुच उसे इस प्रतारणा के योग्य ठहरा सकता है? कदापि नहीं। क्योंकि कालिदास के दुष्यंत का प्रेम-राग तो दुर्वासा के ब्रह्मवर्चस् अग्नि में भस्म होकर पवित्र हो गया है। फिर उस बेचारे पर क्रोध करना कहां तक उचित है? यदि किसी पागल को कोई उस के अनाचार के कारण धिक्कारे तो वह क्या स्वयं पागल नहीं कहलाएगा? किस में ऐसा सामर्थ्य है जो अपनी पत्नी पर, जानता हुआ भी भरे सभा-भवन में उपेक्षा-पूर्वक अपचार का दोष लगा सके?

संपूर्ण नाटक में केवल एक ही धारा वह रही है—वह है अध्यात्म की धारा। उस अध्यात्म के दो रूप हैं—एक नैतिक, दूसरा दार्शनिक। हम इस निबंध में केवल पहले पर ही विचार करने का प्रयत्न करेंगे।

स्थूल-पार्थिव रूप में भी दुष्यंत सर्वथा क्षम्य है—यथार्थ में तो इस में उस के दोप का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि इस अवस्था में एक सांसारिक मानव की भाँति ही वह भी दुख-सुख का अधिकारी है, द्वंद्वों का धनी है। वह राजा है। कालिदास के छः काव्य-ग्रंथों में बीसों स्थलों पर राजा को वर्ण और आश्रम-धर्मों का गोप्ता कहा गया है। वह 'वर्णाश्रमाणां रक्षिता' है, वर्णाश्रमों के रक्षणकर्म में अनवरत 'जागरूक' है। वर्णाश्रम धर्म की सीमा का जब कोई पात्र उल्लंघन करता है तब महाकवि की क्षुब्ध लेखनी उस पर आग उगलने लगती है, चाहे ऐसा पात्र राजा अथवा 'तपस्विसुत' ही क्यों न हो। कालिदास के विचार में सामाजिक व्यवस्था को मान कर उस पर 'नेमिवृत्ति' से आचरण न करने वाला वह व्यक्ति पापी है जो नियंता द्वारा प्रतिष्ठित सामाजिक

---

[1] कालिदासगिरां सारः कालिदासः सरस्वती।
चतुर्मुखोऽथवासाक्षाद् विदुर्नान्येतुमादृशः॥

प्रणाली का विरोध करता है। शासन और सामाजिक व्यवस्था मनुष्यों ने कैसे प्राप्त की थी ? एकमत होकर सारे देवताओं ने ब्रह्मा से एक ऐसा व्यक्ति माँगा जो 'शासन और दंडनीति द्वारा समाज का नियंत्रण कर सके, उस में होनेवाले अपचार के कारणों को दंड की आग में जला सके। फलस्वरूप मनु मिले जिन्हों ने मानव-जाति को सर्व-प्रथम समाज और शासन की व्यवस्था दी। उस व्यवस्था को, जिस की मनुष्यों ने स्वयं याचना की थी, भंग करने की उन याचकों में ही क्योंकर क्षमता हो सकती थी ? जो ऐसा करने का साहस करेगा वह कितना साहसिक होगा ! उस का दमन आवश्यक है। ऐसे ही व्यवस्था-भंजकों के दमनार्थ जब राजधर्म का सृजन हुआ है तब राजा वर्णाश्रम के अन्वीक्षण में सतत जागरूक क्यों न हो ? इसी कारण जब-जब वर्णाश्रमधर्म की उपेक्षा की गई है, तब-तब कालिदास ने राजा को उस के रक्षणधर्म का स्मरण कराया है। मनुष्य मात्र को इस व्यवस्था-भंजन के जघन्य पाप से सावधान करने के लिए ही उस ने 'अभिज्ञान-शाकुंतल' की सृष्टि की है। यह पूरा नाटक केवल एक स्रोत है जिस के पूर्वभाग का संबंध वर्णाश्रमधर्म की क्षति से और उत्तरभाग का उस के दंड से है। शाकुंतल में कालि-दास ने संसार के सामने रंगमंच पर खेल कर यह बात घोषित कर दी है, कि समाज की व्यवस्था तोड़ने वाला चाहे समर्थ राजा अथवा तपस्वी ऋषि की सुकुमारी कन्या ही क्यों न हो, उस पर दंडविधान का चक्र अवश्य प्रवृत्त होगा क्योंकि वह चक्र व्यक्तित्व की अपेक्षा नहीं करता।

मृगया करता हुआ दुष्यंत कण्वाश्रम में पहुँचता है। कुलपति नहीं हैं। परंतु आश्रम के आचार की रक्षा के लिए अनेक तपस्वी हैं, और ऋषि-कन्या शकुंतला अतिथि-सत्कार के लिए विशेष प्रकार से नियुक्त है। अतिथि का आचरण करने वाला दुष्यंत इस कन्या द्वारा की गई पूजा सब प्रकार से स्वीकार करता है। अर्घ्यादि प्रदान करने के साथ ही आश्रमवासिनी सरला कन्या अपना सर्वस्व अर्पण कर बैठती है। दुष्यंत उसे हृदय खोल कर स्वीकार करता है। स्वीकार क्या करता है, प्रेम की आराधना करता है। प्रेम का संचार पहले उसी के हृदय में होता है, और उस की वृत्ति चोर की-सी हो जाती है। साधारण ग्राम्यरूप उस के प्रेम का नहीं दीखता, बल्कि लुका-छिपा नागरिक के प्रेम का प्रत्यक्षीकरण होता है। ग्राम्य प्रेम खरा और निश्छल होता है, नागरिक प्रच्छन्न और मिश्रित। ग्राम्य प्रेम का अंत प्राजापत्य विवाह में होता है, और नागरिक

का प्रायः गांधर्व में। नागरिक प्रेम से ओतप्रोत दुष्यंत शकुंतला के शरीरगठन की कमनीयता को चोर की भाँति छिप कर वृक्ष की ओट से देखता है। शकुंतला जब दुष्यंत को देखती है, उस की हो जाती है। दोष किस का है ? दुष्यंत का या शकुंतला का ? क्या यह दोष है भी ? मनुष्य जहां होते हैं वहीं उन की दुर्बलताएं भी होती हैं। फिर भी तपोभूमि विराग का स्थल है, केलि-कानन नहीं। सांसारिक सुखों का आस्वादन समाप्त कर चुकने पर मनुष्य इस आश्रम का वासी होता है। यह आश्रम वह स्थल है जहां शम, दम, नियमादि का पालन किया जाता है। यदि यहां भी सांसारिक इंद्रिय-लोलुपता घर कर ले तब तो बस आश्रम का अंत हुआ समझिए। इसी कारण 'वेतसनिकुंज' के गांधर्व प्रेम के अनंतर अनुसूया घबरा उठती है—आश्रम के नियमों पर वरुण की भाँति दृष्टि रखने वाले कुलपति कण्व के आने पर यह अनाचार की बात उन से कैसे कही जायगी ? इस पाप की जघन्यता क्या स्वयं शकुंतला नहीं समझती ? साधारण नियमों को देख-देख कर आज इस व्यवस्था-ह्रास के युग में भी जब बिना सावधान किए ब्राह्मण का पाँच वर्ष का बालक यह जानता है कि जूठे हाथों घड़ा नहीं छूना चाहिए, बिना पाँव धोए चौके में नहीं जाना चाहिए, तो क्या तपोधनी कण्व की कन्या आचारपूत आश्रम में आजन्म रह कर भी, नित्यप्रति संपादित होने वाले क्रियाप्रबंधादिकों को देख कर भी, उचित-अनुचित नहीं समझती ? असंभव ! वह कला जानती है, प्रेम की पीड़ा पहचानती है, अनुकूल आकर्षण की प्रेरणा से उसे सात्विक स्वेद और रोमांच हो आते हैं, खुले दरबार में शास्त्रों में अकुंठिता बुद्धि रखने वाले अप्रतिरथ सम्राट् को वह उस के अनौचित्य पर भर्त्सना देती है, फिर क्या उसे इतना भी नहीं बोध कि गांधर्व विवाह आश्रम की भूमि के उपयुक्त नहीं ? इतना होने पर भी उस ने क्यों अनाचार करने पर कमर कस ली ? उस के ऊपर राग का आवरण क्यों चढ़ गया ? अपना तो सर्वस्व उस ने दे ही डाला, प्रथम कर्तव्य भी वह भूल गई। पिता कण्व ने उसे अतिथि-सेवा में नियुक्त किया था, परंतु वह प्रेम-वारुणी का पान करके अपनी सुध-बुध इस तरह खो बैठी कि उसे अपने धर्म का ज्ञान न रह गया। जब शरीरधारी ब्रह्मचर्य मानों दुर्वासा के रूप में आश्रम में उपस्थित होता है तब भी वह सुन्न है। अतिथि-सत्कार कैसा—वह भूल गई है। दुर्वासा के आगमन के समय शकुंतला दुष्यंत के विरह में उस की प्राप्ति के अर्थ संतप्त हो रही है। उस के विरह-ताप का कोई भान नहीं, उसे किसी अन्य विषय का मान नहीं, परम तेजस्वी रुद्र-

रूप दुर्वासा के आगमन का उसे किंचित् मात्र भी ध्यान नहीं। 'कुमारसंभव' में पार्वती भी शिव के लिए तपश्चरण[1] करती है। उस में भी दुर्वासा की भाँति ब्रह्मचर्य शिव के रूप में ब्राह्मण का वेश धारण कर पार्वती के समक्ष जाता है। पार्वती की यही परीक्षा है, पर वह उस में पूर्णतया उत्तीर्ण होती है। उस के 'स्फुरत्प्रभामंडल' में कोई विकार नहीं होता। कठिन तपश्चरण के पश्चात् भी वह अपने को जानती है, अपने आश्रम को पहचानती है, अतिथि ब्रह्मचारी का सत्कार करती है, शिव मूल-रूप में उस को प्राप्त होते हैं। शकुंतला के पास भी ब्रह्मचर्य परीक्षा के लिए आता है। पर वह उस को नहीं पहचानती। पार्वती तो पति की चिंता में थी, उसे तो प्रेम का व्यवहार ज्ञात था। उस का पतन यदि कहीं हुआ होता तो वह क्षम्य होता, क्योंकि उस ने तो जानबूझ कर ही इस मार्ग में पाँव रक्खा था, परंतु शकुंतला ने तो यह रूप कभी जाना ही न था। सदा आश्रम में रहने वाली कन्या का अपने पद की रक्षा न करते हुए आश्रमवृत्ति के विरुद्ध आचरण कैसे क्षम्य हो सकता है ? यदि शकुंतला ने मर्यादा का उल्लंघन न किया होता, तो वहुत संभव था कि परीक्षक ब्रह्मचर्य दुर्वासा का रूप छोड़ कर दुष्यंत बन जाता परंतु यहां तो स्वयं ब्रह्मचर्य को आश्चर्य हो रहा था। यह क्या ? युगांत तक कण्व सरीखे महात्मा द्वारा दीक्षिता कन्या भी अपचार का एक झोंका न सह सके, कितने अनर्थ की बात है ! ब्रह्मचर्य १२ वर्ष से अधिक, इस कन्या का इस पुनीत आश्रम में शरीर और चरित्र का गठन करता रहा परंतु दुष्यंत के दर्शन मात्र ने उस के शरीर में यह कौन सी विजली भर दी जिस से उस क्षणिक संबंधी दुष्यंत के सम्मुख इस चिर-परिचित ब्रह्मचर्य को भी शकुंतला ने ठुकरा दिया। ब्रह्मचर्य क्षुब्ध हो उठा, कालिदास की धर्मभीरु आत्मा काँप उठी, दुर्वासा का रुद्ररूप व्यक्त होकर पुकार उठा—

आः अतिथिपरिभाविनि,
विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।

---

[1] **मृणालिकापेलवमेवमादिभिर्व्रतैः स्वमङ्गं ग्लपयन्त्यहर्निशम्।**
तपः शरीरैः कठिनैरुपार्जितं तपस्विनां दूरमधश्चकार सा॥
—कुमारसंभव, ५। २९

स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि स-
न्कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव[१] ।।

कितना बड़ा अनाचार है ! ब्रह्मचर्य का धैर्य छूट गया; क्यों न हो ! जहां शकुंतला को आश्रम की निवासिनी होने के कारण ब्रह्मचर्य को सदा आश्रय देना चाहिए था, वहां उस की प्रतिष्ठा तो दूर रही उस के स्वयं आकर उपस्थित होने पर भी वह उस की उपेक्षा करती है । वह चिल्ला कर कहता है कि मेरा धन तप है, (तप की आँच से ब्रह्मचर्य के पास कोई फटक नहीं सकता) मैं तपोभूमि का धन हूं, तुम मेरे राज्य की प्रजा हो, तुम्हें बराबर मेरी ही पूजा करनी चाहिए, क्योंकि मेरे ही भीतर अपनी स्थिति रखने की तुम ने दीक्षा ली है, सो स्वयं तो तुम मेरी प्रतिष्ठा क्या करोगी मेरे उपस्थित होने पर भी तुम मेरा तिरस्कार करती हो । मैं स्वयं उपस्थित होकर तुम्हें अपनी सत्ता का बोध कराता हूं, फिर भी तुम अपनी अवस्था पर, अपने स्खलन पर आश्चर्य नहीं करतीं, इस लिए जिस की चिंता में तुम इस समय निरत हो वह स्मरण कराने पर भी तुम को नहीं पहचानेगा । कालिदास ने कहा सही है—शकुंतला की यह स्पर्धा ? शकुंतला ने सोचा—वह क्या चीज़ है, मैं ने जिस समय अवगुंठन हटा कर अपना यह नयनाभिराम भुवनमोहन रूप दिखाया लोभायमान हो जायगा, चुंबक की भाँति खिंच आयगा ! परंतु यह क्या ? व्यवस्थापक धर्मासन से तिरस्कार पूर्वक निर्घोष कर उठा—

भोस्तपोधनाः, चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणमत्रभवत्या स्मरामि । तत्कथमिमामभिव्यक्तसत्वलक्षणां प्रत्यात्मनं क्षेत्रिणमाशङ्कमानः प्रतिपत्स्ये[२] ।

इस से बढ़ कर आर्यकन्या के लिए और कौन सा दंड हो सकता है कि वह खुले आम व्यवहारासन पर बैठे पति द्वारा तिरस्कृत हो ! 'अभिव्यक्तसत्वलक्षणा' होती हुई भी, उस की ओर इंगित करती हुई भी वह ठुकरा दी जाए । शकुंतला इस दुख से जर्जर हो जाती है, फिर जब तप से तप कर वह शुद्ध होती है तब कहीं दुष्यंत उसे प्राप्त होता है । तप से तपने के लिए वह कण्व के आश्रम में नहीं जा सकती, वह तो ब्रह्मचर्य का पूर्वकांड है, उत्तरकांड तो मरीचि के आश्रम में, काश्यप के आलोचनात्मक

---

[१] **अभिज्ञानशाकुंतल, ४ । १**
[२] **वही, ५**

नेत्रों के नीचे है। वह वानप्रस्थाश्रम है जहां के प्रशांत वातावरण में शकुंतला का पुत्र ही शैशव के शब्दों का उच्चारण करता है। वहां वास करती हुई शकुंतला से उस का उपहास करता हुआ वानप्रस्थ नित्य पूछता होगा—'अप्रौढ़े, तेरा गार्हस्थ्य कहां है?' गार्हस्थ्य तो शकुंतला ने खो दिया था। ब्रह्मचर्यव्रत-भंजन के साथ ही उस का भी नाश हो चुका था। फिर वह उसे क्योंकर सुखी करता? ब्रह्मचर्य का सौम्य और स्वाभाविक अंत गार्हस्थ्य में होता है, उस का वानप्रस्थ में, और उस का भी सन्यास में। जिस की नींव ही बिगड़ जाय, उस के और आश्रमों की अट्टालिका किस पर खड़ी हो? इस आश्रम में नित्य शकुंतला को ग्लानि होती होगी। धन्य कालिदास! तुम ने शकुंतला को कण्वाश्रम में नहीं भेजा मरीचि के आश्रम में भेजा। काश्यप नित्य पतिव्रत का उपदेश करते हैं। एक-एक उपदेश देह धारण कर शकुंतला से पूछता होगा—तेरा पति कहां है? यह तेरा पुत्र कैसा? तू स्वीकृता है अथवा परित्यक्ता? उस का दंड कितना भीषण है, कोई शकुंतला से पूछे?

राजसभा में शकुंतला औरों के साथ स्वयं भी राजा को धिक्कारती है, उस से झगड़ती है, परंतु एक बार भी यह नहीं कहती कि जिस दोष को व्यवस्थापक और परिपालक राजा होकर तुम ने स्वयं किया उस का दंड मुझे तुम किस अधिकार से दे सकते हो? कालिदास साधारण कवि नहीं हैं। दुष्यंत राजा आज है, जब वह शकुंतला को व्यवस्थाधर्म तोड़ने के अपराध में दंडित कर रहा है, चाहे वह उस की प्रेयसी ही क्यों न हो। जिस समय स्वयं दुष्यंत ने कण्व के आश्रम में व्यवस्थाभंग की थी उस समय वह राजा नहीं केवल एक साधारण प्रेमी मात्र था। कम से कम शकुंतला उसे एक साधारण 'तपोवनधर्म की रक्षा में नियुक्त राजपुरुष"[1] मात्र ही जान कर स्वीकार करती है। इस लिए उसे क्या अधिकार है जो वह चुनौती-पूर्वक राजा से कह सके कि जब राजा होकर (जिस का कार्य व्यवस्था की रक्षा है) तुम ने स्वयं वही अनर्थ किया तो एक ही पाप के भागी दोनों में से एक दंड घोषित करे और दूसरा उसे भोगे यह कैसी दुर्व्यवस्था है? पर नहीं अब दुष्यंत प्रेमी नहीं है, वह केवल राजा है और कुछ नहीं। वह उस

[1] राज्ञः परिग्रहोऽयमिति राजपुरुषं मामवगच्छथ।
—अभिज्ञानशाकुंतल, १

आसन पर शासन की बागडोर धारण किए दंड-निग्रह के अर्थ बैठा है जिसे कालिदास ने कहीं धर्मासन, कहीं कार्यासन और कहीं व्यवहारासन कहा है। उस आसन का साथी न्याय और दंड हैं, पत्नी और प्रेयसी नहीं। शकुंतला का दंड हो चुका।

अब दुष्यंत को लीजिए। उस का दंड और भी कठोर है। यद्यपि वह एक साधारण नागरिक की हैसियत से प्रेम करता है और अपने उत्तरदायित्व को कम करने के लिए अपने को एक साधारण राजपुरुष घोषित करता है, परंतु नियति का नियामक चक्र उस को पहचानता है। व्यवस्था दुष्यंत और शकुंतला दोनों ने तोड़ी है, दोनों ने समान अपराध किया है, दंड दोनों को मिलेगा। शकुंतला को मिल चुका, पर दुष्यंत को दंड कौन दे? शकुंतला तो प्रजा थी, दुष्यंत राजा था। राजा सब को दंड दे सकता है, क्योंकि वह सब से बड़ा है, सब का नियामक है। पर उसे दंड कौन दे? कौन उस से बड़ा है? मनुष्य तो उसे दंड दे नहीं सकता, क्योंकि राजा 'सर्वातिरिक्तसार' एक विशेष व्यक्ति है, सर्वतेजोमय है, पृथ्वी के सारे 'सत्वों को मेरु की भाँति वह आक्रांत कर'[1] उन पर शासन करता है। वह देवताओं का अंश है। जब दिलीप की रानी सुदक्षिणा गर्भ धारण करती है तब उस के गर्भ में लोकपाल[2] प्रवेश करते हैं। सो इंद्रादि देवताओं के अंश रूप, ऐतरेय ब्राह्मण के मंत्रों से अभिषिक्त, शासन-शपथ के धनी कालिदास के इस राजा को कौन मानव दंड दे सकता है? कोई नहीं। उसे स्वयं वही दंड देगा। नियति उस पर अपना शासन चक्र रक्खेगी। उस के शरीर में देवताओं का निवास है; सब मिल कर उसे दंडित करेंगे।

छठे अंक के आरंभ में नागरिक शकुंतला को दी हुई राजा की अँगूठी दुष्यंत के पास ले जाता है। राजा के नेत्र अँगूठी देख कर भर आते हैं। यदि कोई साधारण कलाकार होता तो राजा को विक्षिप्त बना देता। परंतु कालिदास का राजा अपने गहरे दुःख

---

[1] सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोभिभाविना।
स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वीं क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना॥
—रघुवंश, १। १४

[2] नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी
गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः॥
—वही २। ७५

की स्मृति में भी राजधर्म का संपादन करता है, और अन्यत्र कुछ समय बाद जब प्रथम बार उस का कंठ खुलता है, तब उस की दीन दशा का बोध कराने वाली उस करुणवाणी का सृजन होता है, जो कभी किसी प्रायश्चित्ती ने न कही होगी—

प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम् ।
अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं संप्रति विबुद्धम्[१] ॥

'उस समय मेरा हृदय किस नींद में सोया था जब प्रिया के बारंबार जगाने पर भी न उठा; अब वह अभागा असीम दुःख की चोट का अनुभव करने के लिए उठा।' दंड का आरंभ हो चुका है। इस की कठोरता और निर्ममता यदि किसी को देखनी हो तो वह छठे और सातवें अंकों के दुष्यंत को देखे। वहां उस के दंड और प्रायश्चित्त का सूक्ष्म दर्शन हो सकता है। उस का हृदय दुःखातिरेक से जाग उठा है, वही जो प्रिया की कोमल स्मृति के आघातों से नहीं जागा था। दुर्वासा के रूप में ब्रह्मचर्य ने भी यही कहा था—तुम स्वयं मेरी अभ्यर्थना कहां तक करोगी—मद्यपी की नाईं आचरण करती हो—मुझ स्वयं आए हुए को देख कर भी औचित्य नहीं पालती, इस लिए बारंबार स्मरण कराने पर भी तुम्हारा प्रेमी तुम्हें नहीं पहचानेगा। शकुंतला के पक्ष में तो यह शाप पूरा उतरा, परंतु क्या दुष्यंत के पक्ष में भी सत्य सिद्ध हुआ ? हां, उसे शकुंतला ने बारंबार याद दिलाया—'चेतो, उठो, देखो मैं वही हूं—वही वेतसनिकुंज वाली !' कितने अवसाद का स्थल है कि प्रेयसी अपना संकेत स्थान तक बता देती है, परंतु दुष्यंत का हृदय फिर भी नहीं जागता। दुष्यंत की ओर से आश्रम की व्यवस्था रक्षित कहां हुई थी ? उस ने यद्यपि अपने को राजा नहीं बताया, पर आश्रमों की रक्षा में नियुक्त राजपुरुष तो बताया ही था। ऐसी अवस्था में भी उस ने कौन सा कम पाप किया ? अब वह क्या करे ? दुःखावेग निरंतर बढ़ता जाता है और उस की पराकाष्ठा तब होती है जब वह इंद्रलोक से लौट कर मरीचि के आश्रम में आता है, और वहां अपने तनय सर्वदमन को गोद में लेता है। मा के पहुँचने पर बालक उस से पूछता है—'मा, भला यह कौन है ?' दुःख की मारी परित्यक्ता पत्नी, समाज की व्यवस्था का उल्लंघन और उस के भयंकर

---

[१] **'अभिज्ञानशाकुंतल'**, ६। ७

दंड का स्मरण कर पुत्र से कहती है—'ते भागधेयानि पृच्छ !'[१] 'बेटे, अपने भाग्य से, अपने भाग्य-स्रष्टा से पूछ ! बेटा अपने भाग्य से क्या पूछे ? उस का भाग्य कहां है ? किस ने उस का सृजन किया ? उस के इस भाग्य का जिस के फलस्वरूप उस का पिता व्यवहारासन से—न्याय की कुर्सी से—न्यायालय में चिल्ला कर कहता है—तुम मेरे नहीं हो—उस भाग्य का स्रष्टा कौन है ? शकुंतला और दुष्यंत का अपावन प्रेम ! वह प्रेम जिस ने ऋषिप्रणीत पवित्र अनुशासन की उपेक्षा करके आश्रम की व्यवस्था को भंग किया। 'ते भागधेयानि पृच्छ' ही 'अभिज्ञानशाकुंतल' की कुंजी है जिस से इस रहस्य की पेटी के भेद का परदा हटता है। सारे दुःखों को समेट कर शकुंतला ने इस वाक्य का उच्चारण किया है। कालिदास की कला ने इस व्यंग्य में अकथनीय मार्मिक चोट भर दी है। एक बार दुष्यंत की सारी शक्ति क्षीण हो गई, वही शक्ति जो दुर्जय असुरों का अभी-अभी संहार कर विजयी हुई थी। वह अब खड़ा नहीं रह सकता, सोचता है—'क्या मैं वही दुष्यंत हूं जिस ने उत्सुक समाज के समक्ष खुले दरबार में कह दिया था—तू मेरी नहीं है, चली जा।' वह शकुंतला के चरणों पर गिर जाता है, और वह उसे उठा कर हृदय से लगा लेती है। दोनों ओर से आँसुओं की धाराएं निकल कर प्रायश्चित्त रूप में उन के पापों के ऊपर बह जाती हैं। इस दंड-रूप भट्टी में जल कर जब उन का पाप भस्म हो जाता है, तब पुत्र-रूपी राग उत्पन्न होकर उन के हृदयों के घावों को दोनों ओर बैठ कर भर देता है। भला पति की इच्छा मात्र पर प्राण देने वाली शकुंतला के चरणों पर दुष्यंत गिरे। कितना बड़ा गौरव है ! पतिरूपी देवता उस के चरणों पर गिरता है, इस का उसे कितना दुःख है ! 'अभिज्ञानशाकुंतल' का पार्थिव-रूप में अर्थ सिद्ध हो गया। इसी प्रकार यह भी देखना है कि दुर्वासा ब्रह्मचर्य के रूप हैं, कण्व गृहस्थाश्रम के, और काश्यप वानप्रस्थ के।

यही 'अभिज्ञानशाकुंतल' के नैतिक अध्यात्म का रहस्योद्घाटन है। शाकुंतल का दार्शनिक अध्यात्म जिस का संबंध शैवों के अद्वैत प्रत्यभिज्ञा-दर्शन से है एक पृथक् प्रसंग है।

---

[१] **'अभिज्ञानशाकुंतल', ७**

चरक और सुश्रुत का काल

[लेखक—डाक्टर देवसहाय त्रिवेद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०]

ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ ।

भेडाद्याः किं न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम् ।।

वाग्भट्ट, उत्तरस्थान, ४०—८८

श्री वाग्भट्ट के उपर्युक्त श्लोक से ज्ञात होता है कि उन के समय में भी चरक और सुश्रुत ऋषिप्रणीत ग्रंथ माने जाते थे और भेलादि अनेक पुस्तकें प्रचलित होने पर भी पठनीय नहीं थीं। किंतु शोक के साथ कहना पड़ता है कि जो प्राचीनतम आयुर्वेद ग्रंथ भारत में प्रचलित हैं उन को पाश्चात्य विद्वान् ईसा की १६वीं शताब्दी तक खींच लाते हैं, यथा हैस महोदय। किंतु सभी विवेकी पंडित जानते हैं कि इन पक्षपात-पूर्ण पाश्चात्य विद्वानों की उक्तियां कितनी विश्वसनीय हैं। आप लिखते हैं कि 'सुश्रुत' शब्द अरबी भाषा के सुक़रात शब्द से बना है और यह किसी यूनानी भाषा की पुस्तक के आधार पर लिखा गया है। हम भारतीयों को सर्वदा निष्पक्ष होकर अपनी संस्कृतियों का अध्ययन तथा मनन करना चाहिए, तथा जो बात भारतीय परंपरा के प्रतिकूल हो वह किसी दशा में भी नहीं मानना चाहिए।

चरक

वर्तमान चरक और सुश्रुत दोनों प्राचीन आधार के सारांश हैं। वर्तमान 'चरक-संहिता' प्राचीन 'चरकसंहिता' के आधार पर दृढ़बल के द्वारा लिखी गई थी[1]। और 'चरकसंहिता' स्वयं चरक द्वारा आत्रेय पुनर्वसु के शिष्य अग्निवेश की लिखी प्राचीन पुस्तक के आधार पर लिखी गई थी। चरक और सुश्रुत दोनों दृढ़बल, नागार्जुन और

[1] 'चरकचिकित्सा', ३० । २८६—६०

वाग्भट्ट के समय तक प्रक्षिप्त होते आए हैं। तथापि संपूर्ण वर्तमान चरक टीकाकार चक्रपाणिदत्त से बहुत प्राचीन है।

चरक का अनुवाद पहले पहलवी में (पैशाची भाषा में) हुआ था। फिर उस से अली के पुत्र अब्दुल्ला ने अरबी अनुवाद किया था। चरक और सुश्रुत का अनुवाद अरबी और फ़ारसी में ८०० ईस्वी तक हो चुका था[१]।

चरक उपदेशक, दार्शनिक और कनिष्क का राजवैद्य था। स्वर्गीय श्री सिलवान लेवी ने भी चीनी त्रिपिटकों से चरक वैद्य का नाम ढूँढ़ निकाला था। उन के अनुसार चरक कनिष्क के धर्माधिष्ठाता थे। अतः शीघ्र ही उन्हों ने चरक की पुस्तक में भी यूनान का प्रभाव दिखाने के लिए चरक को कनिष्क का समकालीन प्रथम शताब्दी ईसा से पूर्व माना। किंतु कनिष्क का काल अत्यंत विवादपूर्ण है। 'राजतरंगिणी' के अनुसार उस ने कलि संवत् १८१५ से १८६५ तक (१३३६ से १२८६ ई० पू० तक) राज्य किया[२]। अपितु पतंजलि ने भी चरक पर टीका लिखी है। यथा :—

आप्तो नाम अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कात्स्र्येन निश्चयवान्।
रागादिवशादपि नान्यथावादी य स इति चरके पतंजलिः[३]॥

अपितु—

पातंजलमहाभाष्यचरकप्रति संस्कृतैः।
मनोवाक् कायदोषाणां हर्त्रेऽहियतये नमः॥[४]

तथा—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं[५] मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोस्मि॥[६]

---

[१] 'माडर्न रिव्यू', जून, १९३६, पृष्ठ ६८१

[२] मेरा लेख—'काश्मीर की संशोधित राजवंशावली', 'विज्ञान', प्रयाग, मीनार्क, १९६३। तथा 'जर्नल अव् इंडियन हिस्ट्री', भाग १८, पृ० ४९–६७ 'दि रिवाइज्ड क्रानोलाजी अव् काश्मीर किंगस्'।

[३] नागेश भट्ट की 'लघुमंजूषा' में उद्धृत।

[४] चरक की चक्रपाणिदत्तकृत आयुर्वेददीपिका टीका का मंगलाचरण।

[५] 'वरदम्' पाठांतरं।

[६] 'योगवार्तिक' विज्ञानभिक्षु गणनाथ सेन संपादित, कलकत्ता १९२४, प्रत्यक्ष शारीरोपोद्घात, पृ० ७

यदि चरक के टीकाकार महाभाष्यकार पतंजलि हैं, जो पुष्यमित्र के समकालीन माने जाते हैं तो पतंजलि १२ शताब्दी विक्रम पूर्व हुए[1]। अतः चरक को इन से बहुत पूर्व होना चाहिए। पाणिनि ने भी अपनी अष्टाध्यायी[2] में चरक का ज़िक्र किया है और चरक का अर्थ चरकानुयायी हुआ।

चरक एक वैदिक देवता का भी नाम[3] है। श्री भावमिश्र के 'भावप्रकाश'[4] में चरक का प्रादुर्भाव निम्न प्रकार है। मत्स्यावतार से जब विष्णु भगवान् ने वेदों का उद्धार किया तब शेषनाग ने वहीं पर उन से सांगवेद और अथर्वांतर्गत आयुर्वेद प्राप्त किया। एक बार वह चर (जासूस) के समान पृथिवी देखने आए। वहां पर बहुत से मनुष्यों को रोगग्रस्त, व्याधिपीड़ित और व्यग्र होकर मरते देखा। उन को देख कर अत्यंत दया से युक्त होकर उन्हों ने (अनंत ने) रोग शांति का कारण सोचा। खूब सोच कर वह वहीं पर वेदवेदांग-ज्ञाता प्रसिद्ध विशुद्ध मुनि के पुत्र हुए। चर के समान आए और इस लिए किसी ने न जाना अतः वह चरक नाम से संसार में ख्यात हुए। वे शेषनाग के (सहस्र-वदन के) अंश थे जिन्हों ने रोगों का नाश किया। वह चरकाचार्य आकाश में देवाचार्य के समान सुशोभित हुए। आत्रेय मुनि के अग्निवेशादि बहुत मुनि शिष्य हुए और सबों ने अपना-अपना तंत्र बनाया। उन के तंत्रों का सुचारु रूप से संस्करण करके विद्वान् चरक ने अपने नाम से 'चरकसंहिता' नामक ग्रंथ बनाया।

चरक के[5] समय कम से कम अग्निवेश, भेल,[6] जातुकर्ण, पराशर, हारीत[7] और क्षारपाणि के ग्रंथ विद्यमान थे, जिन के ग्रंथों से चरक ने यत्र-तत्र उदाहरणार्थ अपने ग्रंथ में उद्धृत किया है :—

---

[1] मेरे लेख—'दि डेट आफ़ योगदर्शन', 'योगप्रचारक', काशी, १९९४; 'मगध की नई वंशावली', नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, काशी, १९९४

[2] कठचरकाल्लक—पाणिनि, ४।३।१०७

[3] वैदिक कोष, कीथ और मैकडानल्ड संपादित, भाग १, पृ० २५६

[4] 'भावप्रकाश', पूर्वखंड, ५७—६५

[5] चरक सूत्रस्थान, १।२

[6] वर्नलस् तंजोर के काटलाग में एक भेलसंहिता का वर्णन है, यद्यपि यह चिथड़े की हालत में है।

[7] वाग्भट्ट ने हारीत और भेल के ग्रंथों का ज़िक्र किया है। एक 'हारीतसंहिता' प्रकाशित भी हुई है, यद्यपि उस का प्राचीनत्व प्रश्नास्पद है।

सुश्रुत के समान चरक वैज्ञानिक पद्धति पर नहीं लिखा गया है। इस में केवल वैदिक देवता और मंत्रों का वर्णन है। पौराणिक कथाओं का नामोनिशान भी नहीं है। यह न्यायदर्शन का प्रतिरूप है। चरक में वेदानुसार मनुष्य शरीरास्थियों की संख्या ३६० ही है[1] और बचपन की हद ३० वर्ष तक है।[2] चरक में हाथ के पंजे की अस्थियों की संख्या १५ बताई गई है किंतु आजकल हम लोगों के हाथ में १४ ही हड्डियां पाई जाती हैं। अतः चरक बहुत प्राचीन होने का दावा कर सकता है।

इस के सरल गद्यों में ब्राह्मण ग्रंथों की रीति का आभास मिलता है। अतः यह पुस्तक अवश्य ही बहुत प्राचीन है। इस के प्राचीन रूप की रचना ३००० ई० पू० तथा वर्तमान रूप की रचना बौद्धकाल से पूर्व की है[3]। संभवतः यह २००० ई० पू० रचा गया होगा। किंतु 'चरकचिकित्सास्थान' (५।४४ और ५।६३) से मालूम होता है कि धन्वंतरी का सुश्रुत प्राचीनतर है—यथा 'तत्र धान्वंतरीयाणामधिकारः क्रिया विधौ' और 'दाहे धान्वंतरीयाणामत्रापि भिषजां बलं'। किंतु सूत्र चार प्रकार के हैं यथा गुरुसूत्रं, शिष्य-सूत्र, प्रतिसंस्कृतसूत्र और एकीयसूत्र। निःसंदेह उपर्युक्त प्रतिसंस्कृतसूत्र है और प्रक्षिप्त है।

सुश्रुत

वर्तमान 'सुश्रुतसंहिता' धन्वंतरी के शिष्य सुश्रुत की बृहत् 'सुश्रुतसंहिता' का नागार्जुन द्वारा संशोधित संस्करण है। चरक और सुश्रुत के व्यावहारिक शब्दों में बहुत कम अंतर है। कुछ अंश चरक से अक्षरशः मिलते हैं। 'भावप्रकाश' के परंपरानुसार भी 'चरकसंहिता' 'सुश्रुतसंहिता' से प्राचीनतर है। अतः चरक निःसंदेह सुश्रुत से प्राचीन-तर[3] है।

संभवतः यह नागार्जुन वही हैं, जिन्हों ने पतंजलि महाभाष्य टीका की रचना[4] की,

---

[1] त्रीणि सषष्ठीनि शतान्यस्थ्नां सह दन्तोलूखलनखेन। चरक ७।६। त्रीणि सषष्ठीन्यस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते। शल्यतन्त्रे तु त्रीण्येव शतानि। सुश्रुत शारीर ५।१८

[2] विवर्द्धमानधातुगुणं पुनः प्रायेणानवस्थितसत्वमात्रिंशद्वर्षमुपदिष्टम्। चरक-विमान ८।१२२

[3] श्रीप्रफुल्लचंद्रराय रचित 'हिंदू केमिस्ट्री', भाग १, भूमिका, कलकत्ता, १९०३

[4] भोजवृत्ति और चक्रपाणि देखिए।

जो सिद्ध नागार्जुन के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा जिन्होंने 'लौहशास्त्र' तथा 'माध्यमिक सूत्र-वृत्ति' की रचना की[1]। वर्तमान सुश्रुत अवश्य ही टीकाकार डल्हण तथा 'रुग्विनिश्चय' के लेखक माधव से पुराना है। सुश्रुत की प्राचीनतम उपलब्ध टीका चक्रपाणिदत्त की (१११७ विक्रमी) 'भानुमति' है। डल्हण अपने प्राचीन सुश्रुत टीकाकार जेज्जट, गयादास, भास्कर और माधव का, जिन का समय यथेष्ट प्रमाणों के अभाव से नियत नहीं किया जा सकता है, उल्लेख करते हैं। हमारे प्राचीन टीकाकार भी पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार किसी भी पाठ को समालोचना की कसौटी पर कस कर ही ग्रहण करते थे। यथा[2] :—

अनार्योऽयं योगः जेज्जटाचार्येण नोक्तत्वात्। तस्मान्न पठनीयम्।

नागार्जुन ने सुश्रुत में उत्तर तंत्र जोड़ा था, तथा अन्य स्थानों में भी उस ने हेर-फेर[3] किया था। यदि यह नागार्जुन कनिष्क का समकालीन था तो नागार्जुन का समय कलि-संवत् १८०० या १३०० ई० पू० होना चाहिए तथा 'महावग्ग' इत्यादि ग्रंथों में भी कुमारभृत्य वैद्यों का ज़िक्र होने से सुश्रुत का समय कम से कम २५०० ई० पू० भगवान् गौतम बुद्ध[4] से पहले होना चाहिए।

किंतु 'भावप्रकाश'[5] में यह वर्णन मिलता है। "इंद्र ने मनुष्यों को अत्यंत पीड़ित देख कर धन्वंतरी को समस्तायुर्वेद की शिक्षा देकर मृत्युलोक में भेजा। वह पृथ्वी पर आकर काशी में दिवोदास नाम से प्रसिद्ध राजा हुए। विश्वामित्र इत्यादि ने ज्ञानबल से जान लिया कि काशी में यह काशीराज धन्वंतरी हैं। उन में से विश्वामित्र ने अपने पुत्र सुश्रुत से कहा। हे पुत्र शिवप्रिय वाराणसी को जाओ। वहां पर दिवोदास नामक काशी का क्षत्रिय राजा है। वह साक्षात् धन्वंतरी आयुर्वेद के जानने वालों में श्रेष्ठ है। तुम संसार की भलाई के लिए आयुर्वेद पढ़ो। पिता के वचन को शिरोधार्य कर सुश्रुत काशी गए। और भी मुनियों के पुत्र उन के साथ पढ़ने के लिए गए। उन विनीतों ने श्रेष्ठ

---

[1] श्री प्रफुल्लचंद्र राय की 'हिंदू केमिस्ट्री', कलकत्ता, १९०९, भाग २, पृ० १३०

[2] 'सुश्रुत चिकित्सा', ७।३ डल्हण की टीका।

[3] यत्र यत्र परोक्षे लिट् प्रयोगस्तत्र तत्रैव प्रतिसंस्कृतसूत्रं ज्ञातव्यमिति प्रतिसंस्कर्तापीह नागार्जुन एव। डल्हण टीका, सुश्रुत सूत्रस्थान १।२

[4] मेरा लेख—'दि डेट अव् गौतमबुद्ध', १८८५, ई० पू०, 'डेली हेरल्ड', लाहौर, २७ जनवरी, १९३६

[5] 'भावप्रकाश', पूर्वखंड १।७६–८९

मुनियों से प्रशंसित भगवान् धन्वंतरी दिवोदास को वानप्रस्थाश्रम में देखा। उन्हें देख कर यशोधन दिवोदास ने उन का स्वागत किया। कुशल पूछने के बाद आने का कारण पूछा। उन सबों ने सुश्रुत के द्वारा उत्तर दिया। हे भगवान्! व्याधि से पीड़ित मनुष्यों को चिल्लाते हुए और मरते हुए देख कर हम लोगों के हृदय में अत्यंत पीड़ा होती है। हम लोग रोगों की शांति का उपाय जानने आए हैं। आप यत्नपूर्वक हम लोगों को आयुर्वेद पढ़ावें। उन का वचन अंगीकार करके राजा ने उन को शिक्षा दी। पठनोपरांत वे मुनि प्रसन्न हो कर राजा को जयाशीर्वाद देकर अपने-अपने घर गए। उस में सुश्रुत ने अपना सुश्रुत नामक तंत्र पहले बनाया। उन के मित्रों ने भी अलग-अलग अपना तंत्र बनाया। सुश्रुत के बनाए तंत्रों को बहुतों ने अच्छी तरह सुना अतः यह पृथ्वी पर सुश्रुत नाम से प्रसिद्ध हुआ।"

'गरुड़पुराण' तथा 'महाभारत' के अनुसार भी सुश्रुत विश्वामित्र के सुपुत्र थे। काशीराज दिवोदास का वर्णन ऋग्वेद में भी है। अतः सुश्रुत का समय भी बहुत पहले होना चाहिए।

अतः यह सिद्ध होता है कि चरक और सुश्रुत दोनों आर्ष ग्रंथ हैं और पाश्चात्य विद्वानों का इन पुस्तकों की रचना सिकंदर के आक्रमण के बाद मानना ठीक नहीं है। जिस प्रकार चरक कायचिकित्सा के लिए सब से प्रामाणिक है, उसी प्रकार सुश्रुत शल्य-चिकित्सा के लिए अत्यंत प्रामाणिक है।

द्वितीय पेशवा बाजीराव प्रथम की द्विशती

[लेखक—श्रीयुत ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल्-एल्० बी०]

जिन नर-पुंगवों के चरित्रों को लेकर मराठों का क्रमबद्ध इतिहास लिखा गया है या भविष्य में लिखा जायगा यदि उन के नाम उन के महत्वपूर्ण कार्यों को दृष्टि में रखते हुए संख्या-क्रम से लिखे जायँ तो जिस प्रकार प्रथम नाम छत्रपति शिवाजी का अंकित किया जायगा, उसी प्रकार द्वितीय नाम प्रायः उतने ही समादर तथा सम्मान के साथ इस लेख के चरितनायक का लिखा जायगा। इन का अपने ही समय में भारत के प्रमुख वीरों में कितना आदर तथा मान था और इन की शक्ति तथा प्रताप की कैसी धाक जम गई थी, यह इसी से ज्ञात हो जाता है कि सुप्रसिद्ध देशभक्त बुंदेला वीर-केसरी पन्नानरेश महाराज छत्रसाल ने, जिन की आयु का साठ वर्ष से अधिक काल रणचंडी ही की सेवा में व्यतीत हो चुका था, आपत्तिकाल में बाजीराव को निम्न-लिखित दोहा लिखते हुए इन की भगवान हरि से तुलना की थी—

जो गति ग्राह गजेंद्र की सो गति भइ है आज।
बाजी जात बुंदेल की बाजी राखो लाज॥

बाजीराव ने किस प्रकार अपने नाम की सार्थकता दिखलाते हुए महाराज छत्रसाल की हारी बाजी जिता दी थी, उस का इसी लेख में आगे यथास्थान वर्णन दिया जायगा। किस स्थिति में बाजीराव ने मराठा-साम्राज्य के डगमगाते पोत का कर्णधारत्व अपने हाथ में लिया था, उस का परिचय देने के लिए अति संक्षेप में इन के पहले के मराठा-इतिहास की रूपरेखा यहां दे दी जाती है।

सं० १७३७ वि० में महाराज शिवाजी का देहावसान हुआ और इस के नौ वर्ष के अनंतर इन के पुत्र शंभाजी कवि-कलश के सत्संग में संगमनेर में रहते हुए पकड़े जाकर मारे गए। शंभाजी के अल्पवयस्क पुत्र शिवाजी द्वितीय द्वारा इस प्रकार के उपद्रव-काल में राज्य-परिचालन असंभव था, इस लिए इन की माता येशूबाई की सम्मति पर

शंभाजी के छोटे भाई राजाराम इन के अभिभावक नियत हुए और उन्हों ने प्रबल मुग़ल सम्राट् औरंगज़ेब के पंजे में पड़े हुए मराठा राज्य के उद्धार का प्रयास आरंभ किया। येशूबाई पुत्र के साथ रायगढ़ गईं पर उस दुर्ग पर भी उसी वर्ष मुग़लों का अधिकार हो गया और ये माता-पुत्र क़ैद हो गए। औरंगज़ेब ने शिवाजी द्वितीय को राजा साहू की पदवी दी और इन दोनों को अपनी पुत्री ज़ीनतुन्निसा को सौंप दिया।

साहू के क़ैद होने पर मराठा राज्य पुनः बिना कर्णधार का हो गया। राजाराम गद्दी पर बैठना अनुचित समझते थे पर अंत में येशूबाई की उदार आज्ञा मिलने पर तथा यह घोषित करके कि साहू की अनुपस्थिति ही तक वह मराठा-राज्य के कर्णधार बन रहे हैं, वह जिंजी में गद्दी पर बैठे। इस के अनंतर मुग़लों ने जिंजी घेरा और उस पर उन का अधिकार भी हो गया। यह विशालगढ़ गए, जहां इन की सं० १७५७ में मृत्यु हो गई। इन की स्त्री ताराबाई ने अपने पुत्र को गद्दी पर बिठाया और अपनी सपत्नी को पुत्र सहित क़ैद कर दिया। मुग़लों से मराठे सरदार यत्र-तत्र बिना संगठन के, पर एक आदर्श रखते हुए निरंतर लड़ते रहे। सात वर्ष बाद औरंगज़ेब की मृत्यु हुई और उस के उत्तराधिकारी बहादुरशाह ने राजा साहू को इस विचार से छुट्टी दे दी कि मराठा सरदारों में भेद पड़ जायगा और उन में दो दल हो जायँगे।

मुग़ल हरम में रहने तथा बाद में उन के सत्संग से साहू जी में अनेक व्यसन आ गए थे और वह पूर्ण मराठा नहीं रह गए थे। छुट्टी पाते ही यह औरंगज़ेब की क़ब्र की 'ज़ियारत' को गए पर जो मराठे इन के पास एकत्र हो गए थे, उन्हों ने औरंगाबाद के बाहरी महालों को लूट लिया, जिस से त्रस्त हो यह सितारा में जा बैठे और सांसारिक आनंद लेने में लग गए। इतना अवश्य हुआ कि इन के राजगद्दी पर बैठते ही मराठों के दो दल हो गए पर अधिक लोगों के साहू जी का पक्ष ग्रहण कर लेने से यही वास्तव में मराठाधिपति कहलाए।

इतने अधिक उलट-फेर के कारण मराठा सरदारों में संगठित रूप में मुग़ल-साम्राज्य की वीरवाहिनी का सामना करने का ध्येय नहीं रह गया था और वे स्वतंत्र रूप से अपने-अपने स्वार्थ के लिए यत्र-तत्र युद्ध तथा लूट-मार करते रहते थे। फलतः इन के कार्यों से केंद्रीय मराठा राज्य को विशेष लाभ न पहुँचता था और न उस का उत्कर्ष हो पाता था। सौभाग्य से राजा साहू के अष्टप्रधान में बालाजी विश्वनाथ भट्ट नामक एक चितपावन

ब्राह्मण थे, जो पहले वीर सेनापति धन्नाजी जादव के सहकारी थे। यह सं० १७७१ वि० में पेशवा नियत किए गए और इन्हों ने इन सरदारों की बँटी हुई शक्तियों को एकत्र करने का पूर्ण प्रयास किया तथा सफल भी हुए। सैयद हुसैन अली खां अमीरुल्‌उमरा दक्षिण का सूबेदार होकर जब आया तब उसे इसी सुगठित मराठा सेना का सामना करना पड़ा, जिस से उस ने अंत में चौथ तथा सिरदेशमुखी दिलाने का वचन दे कर संधि कर ली और बालाजी ने पंद्रह सहस्र सवार सेना दक्षिण के सूबेदार की सहायता के लिए तैयार रखने का वचन दिया। फ़र्रुख़सियर के इस संधि के अस्वीकार कर देने पर तथा सैयद अब्दुल्ला के विरुद्ध षड्यंत्र करने पर हुसैन अली खां दिल्ली को रवाना हुआ और बालाजी विश्वनाथ भी उस की सहायता को १५००० सेना के साथ गए। फ़र्रुख़सियर मारा गया, दो नाम-मात्र के मुग़ल सम्राट् छः मास में मर गए, और तब सं० १७७७ वि० में तत्कालीन बादशाह मुहम्मदशाह ने इस संधि को स्वीकार कर लिया और सनद ले कर पेशवा लौट आए। इसी वर्ष बालाजी की मृत्यु हो गई और यह मराठा-साम्राज्य का स्वप्न देखते हुए ही चले गए।

बालाजी विश्वनाथ के दो पुत्र वीसाजी प्रसिद्ध नाम बाजीराव तथा अंताजी प्रसिद्ध नाम चिमनाजी आप्पा हुए। इन में प्रथम का जन्म सं० १७५५ वि० में हुआ था और द्वितीय इन से दस वर्ष छोटे थे। इन्हें दो पुत्रियां भी थीं, जिन में बड़ी अंबाबाई का व्यंकटराव जोशी से और छोटी भिउबाई का आबाजी जोशी से विवाह हुआ था। बाजीराव अपने पिता की मृत्यु के समय केवल बाईस वर्ष के युवक थे और राजा साहू इन्हें पेशवा पद पर अधिष्ठित करने में इसी कारण कुछ आनाकानी कर रहे थे, पर इन से वार्तालाप करने पर इन की योग्यता पर मुग्ध होकर इन्हें कुछ ही दिनों बाद उस पद पर नियत कर दिया, जिस से पेशवा का पद इस वंश में परंपरा के लिए निश्चित हो गया। इस प्रकार युवा बाजीराव ने मराठा आधिपत्य अपने हाथ में लेकर किस प्रकार साधारण कोंकणस्थ राज्य को मराठा साम्राज्य में परिणत कर दिया था, यही इन के जीवन की विशेषता है।

साहूजी के दरबार में कोंकणस्थ चितपावन ब्राह्मण दल के विरुद्ध देशस्थ सरदारों का एक दल प्रबल हो रहा था, जिस में श्रीपतिराव प्रतिनिधि तथा फ़तहसिंह भोंसले प्रमुख थे। इन लोगों ने बाजीराव के पेशवा नियत करने में बाधा डालने का उपाय किया था पर फल कुछ न निकला। यद्यपि बाजीराव अपने पिता या वंशजों के समान विद्वान न थे पर उन्हों ने अपनी किशोरावस्था पिता के साथ युद्ध-क्षेत्र ही में व्यतीत की थी और

यह अच्छे शहसवार, शस्त्रविद्या में कुशल तथा राजनीति के ज्ञाता थे। यह अपने पिता के साथ दिल्ली गए थे और वहां की स्थिति का इन्हों ने अच्छा अध्ययन किया था। वहां से लौटने पर खानदेश की मराठा सेना के यह अध्यक्ष रहे। इन का साहस, धीरता तथा सहन-शीलता सब पर व्यक्त थी, और इन्हीं सब को दृष्टि में रखते हुए साहूजी ने देशस्थ दल की सम्मति की अवज्ञा कर सात महीने बाद इन्हें पेशवा पद पर नियत कर दिया था। इस पद पर नियत होते ही बाजीराव ने दरबार में अपनी आगे की कार्य-प्रणाली तथा नीति भी प्रकट की और विरोधी दल के मुखिया श्रीपतिराव ने उस का खंडन तीव्र भाषा में किया। दोनों में बहुत मतभेद था। बाजीराव का विचार उत्तर की ओर दिल्ली साम्राज्य को अंग-भंग करने का था और श्रीपतिराव की दृष्टि दक्षिण की ओर थी। इन का कथन था कि पहले अपने अस्तव्यस्त राज्य को दृढ़ कर तथा दक्षिण के प्रांत पर अधिकार कर तब उत्तर की ओर प्रबल शत्रु को छेड़ने के लिए बढ़ना चाहिए पर बाजीराव का कहना था कि उक्त प्रथम दो कार्यों के लिए पहले धनधान्य-पूर्ण उत्तरी प्रांतों को लूटना ही नितांत आवश्यक है। इन्हों ने अपनी बात का अत्यंत ओजपूर्ण व्याख्यान द्वारा समर्थन किया और अंत करते-करते कहा कि 'मुरझाते वृक्ष के तने पर चोट पर चोट दो, 'जिस से शाखाएं आप से आप गिर जायेंगी। केवल मेरी सम्मति मानिए, मैं अटक की दीवालों पर मराठा झंडा फहरा दूँगा।'

राजा साहू बाजीराव के भाषण से इतने प्रभावित तथा उत्साहित हुए कि उन्हों ने उत्तेजित हो कर कहा कि 'ईश्वर की कृपा से तुम किन्नर खंड (हिमालय) में झंडा फहरा दोगे।'

बाजीराव ने पहले अपने पिता द्वारा किए गए कार्यों को आगे बढ़ाया और चौथ तथा सिरदेशमुखी करों को उगाहने में पूरा प्रयत्न रक्खा। दक्षिण के प्रत्येक प्रांत में इन्हों ने अपने कर्मचारी भी नियत किए, जो इन करों का हिसाब जाँच कर उन्हें मराठा केंद्र-स्थान को भेजते रहते थे। बाजीराव ने इस सिलसिले को और आगे बढ़ाया तथा उत्तरी भारत के अनेक प्रांतों में, जहां मराठे सरदार-गण स्वतंत्र रूप से लूट-मार मचा रहे थे, उन लोगों की सहायता कर उन्हें अधीनस्थ बनाते तथा मराठा साम्राज्य की सीमा का विस्तार करते हुए अपने ध्येय की तैयारी करते रहे।

फ़र्रुखसियर के मारे जाने के बाद जब मुहम्मदशाह दिल्ली की राजगद्दी पर

बैठा तब उस ने सैयद भ्राताओं—अब्दुल्ला और हुसैन अली खां—को नष्ट करने का षड्-यंत्र रचा, जिन्हों ने सारे अधिकार अपने हाथ में कर रक्खे थे। इस षड्यंत्र में जिन सरदारों ने सहयोग दिया था, उन में निज़ामुल्मुल्क आसफ़जाह प्रधान था, जो सैयद भ्राताओं से मनोमालिन्य रखता था। यह मालवा का प्रांताध्यक्ष था और उस ने सु-अवसर के लिए अच्छी सेना एकत्र कर रक्खी थी। इस की दृष्टि दक्षिण में राज्य स्थापित करने की थी और सैयद भ्राताद्वय इसे इसी कारण मालवा से दूर हटाना चाहते थे। उन्हों ने इसे उत्तरी भारत के किसी प्रांत को देने के लिए बुलाया पर यह कुशल नीतिज्ञ अवसर चूकने वाला न था। यह अपनी पूर्ण शक्ति के साथ उज्जैन से आगरे को रवाना हुआ और तीन दिन कूच करने के बाद एकाएक दक्षिण की ओर घूमा तथा शीघ्रता से कूच करता हुआ नर्मदा पार कर इस ने असीरगढ़ तथा बुरहानपुर पर अधिकार कर लिया। सैयद भ्राताओं के संकेत पर दिलावर अली खां बख़्शी तथा दक्षिण का सूबेदार आलम अली खां क्रमशः मालवा तथा औरंगाबाद से ससैन्य युद्ध को आए पर दोनों ही युद्ध में मारे गए। आलम अली खां के साथ संधि के अनुसार १६, १७ सहस्र मराठा सेना खंडेराव धावर्दे, मंताजी सींधिया आदि के अधीन थी पर इन की सम्मति न मानने से तथा औद्धत्य के कारण वह १ अगस्त सन् १७२० ई० को परास्त हो गया। इस प्रकार विजय प्राप्त कर आसफ़जाह दक्षिण का सूबेदार हो गया। इसी के बाद दक्षिण जाते हुए हुसैन अली खां घातक द्वारा मारा गया और अब्दुल्ला दिल्ली में क़ैद हो गया।

उक्त सभी घटनाओं में मुहम्मदशाह बादशाह का हाथ था, इस लिए निज़ामुल्-मुल्क आसफ़जाह को दक्षिण की सूबेदारी की स्वीकृति मिल गई। इस के एक वर्ष बाद ही मुग़ल-साम्राज्य के प्रधान-मंत्री का स्थान रिक्त होने पर यह दिल्ली बुलाया गया और सन् १७२२ के आरंभ में उक्त पद पर नियत हो गया। इस के साथ दक्षिण तथा मालवा की सूबेदारी भी इस के नाम बहाल रही। यहां का वातावरण इस के उपयुक्त न था और मुहम्मदशाह इस की गंभीरता तथा उपदेशों से इस से चिढ़ गया था, इस लिए इसे गुजरात का सूबेदार बना कर वहां शांति स्थापित करने भेजा तथा वहां के सूबेदार हैदर क़ुली खां को निज़ामुल्मुल्क को नष्ट करने का गुप्त आदेश भी भेजा। परंतु धूर्तता से निज़ाम ने ऐसा उपाय किया कि हैदर की प्रायः कुल सेना इस से आ मिली और वह दिल्ली भागा। निज़ाम भी पीछे-पीछे वहां पहुँचा और मंत्रिकार्य करने लगा। परंतु दक्षिण तथा गुजरात

और मालवा प्रांतों से विद्रोह तथा उपद्रव के समाचार आ रहे थे इस लिए इस ने आज्ञा लेकर दक्षिण जाना ही निश्चय किया। मुहम्मदशाह ने भी प्रसन्नता से आज्ञा दे दी।

मालवा तथा गुजरात में शांति स्थापित करता हुआ, जहां मराठों का उपद्रव बढ़ गया था, आसफ़जाह दक्षिण पहुँच गया और २ अक्तूबर सन् १७२४ ई० को मुबारिज खां को सकरखेड़ के पास परास्त कर मार डाला। अब इस ने दक्षिण का प्रबंध अपने हाथ में लिया और सन् १७२६ में दरबार के षड्यंत्र से छुट्टी पाकर मराठों को चौथ न देने के लिए बहाने खोजने लगा। इस की अनुपस्थिति में मुबारिज खां भी शांति से चौथ न देता था पर मराठे किसी तरह वसूल कर लेते थे। निज़ाम ने चौथ देना स्वीकार करते हुए भी यह भेदनीति प्रकट की कि उसे लेने का स्वत्व साहूजी को है या राजाराम के पुत्र शंभाजी द्वितीय को है। जब तक कि आपस में ये निपट न लें कि वास्तव में उन दो में कौन स्वत्वाधिकारी है या दोनों के स्वत्वों को समझ कर वही यह निश्चय न कर ले तब तक चौथ किसी को नहीं दिया जा सकता। यद्यपि पेशवाओं के और मुख्यतः बाजीराव के प्रयत्नों से शंभाजी सतारा के दक्षिण में एक छोटे राज्य का स्वामी मात्र रह गया था पर निज़ाम उसे महत्व देकर अपना स्वार्थ निकाल रहा था। साहूजी ने इस आशंका के उठाने पर क्षुब्ध हो इस का कोई उत्तर नहीं दिया और उस को दमन कर चौथ उगाहने का निश्चय किया।

निज़ाम ने दक्षिण में पहुँचते ही अपने प्रांत या राज्य के विस्तार करने में हाथ लगा दिया और सन् १७२३ ई० में तंजौर-नरेश सर्फोजी के राज्य के एक नगर त्रिचिनापल्ली पर अधिकार कर लिया। सर्फोजी छत्रपति महाराज शिवाजी के भाई व्यंकोजी के पुत्र थे इस लिए इन्हों ने साहूजी को सहायता के लिए लिखा। इस पर सन् १७२७ ई० में राजा साहू ने एक विशाल सेना फ़तहसिंह भोंसले के अधीन वहां भेजी। इसे राजा साहू ने अपना पोष्य-पुत्र बना लिया था और कर्णाटक पर इसे विशेष स्नेह भी था। बाजीराव तथा श्रीपतिराव प्रतिनिधि इस के सहकारी होकर साथ गए। मराठा सेना ने बेदनोर, गडग तथा श्रीरंगपत्तन के सरदारों से पुराना कर उगाहा और अनेक स्थानों पर अधिकार भी कर लिया। परंतु बाजीराव तथा श्रीपतिराव के मनोमालिन्य और फ़तहसिंह के आलस्य के कारण मराठा सेना को हानि भी उठानी पड़ी और उन के चले आने पर निज़ाम ने पुनः कई स्थानों पर अधिकार कर लिया। इस के अनंतर निज़ाम औरंगाबाद से हैदराबाद चला आया और श्रीपतिराव को अपनी राजधानी के चौथ के बदले में बरार में जागीर देने

को कह कर अपने पक्ष में कर लिया। बाजीराव के विरोध करने पर भी राजा साहू ने श्रीपतिराव जी की बात मान ली। इसी के बाद निज़ाम ने राजा साहू तथा शंभाजी के स्वत्व का प्रश्न उठाया और राजा साहू के उगाहने वाले कर्मचारियों को अपने राज्य से निकाल कर दोनों के प्रतिनिधियों को आमंत्रित किया कि वे उस के सामने उपस्थित हो कर अपना-अपना स्वत्व समर्थित करें। श्रीपतिराव ने ऐसा करने की सम्मति दी पर बाजीराव ने घृणा की हँसी से इस प्रश्न को रोक दिया और राजा साहू ने भी युद्ध की आज्ञा दे दी।

बाजीराव ने बड़ी शीघ्रता से अपनी सेना सुसज्जित कर ठीक वर्षाकाल में ७ अगस्त सन् १७२७ ई० को यात्रा आरंभ कर दी। औरंगाबाद के अंतर्गत जालना को इन्हों ने लूटा और निज़ाम की भेजी हुई सेना से, जो एवज़ खां के अधीन थी, युद्ध कर माहुर पहुँचे। वहां से पुनः औरंगाबाद की ओर घूमे और यह प्रसिद्ध कर दिया कि वे बुरहानपुर लूटने चल रहे हैं। उस नगर की रक्षा के लिए स्वयं निज़ाम इस ओर आया पर बाजीराव खान-देश में लूटमार करते हुए गुजरात पहुँच गए। निज़ाम ने इस पर क्षुब्ध हो कर पूना पर आक्रमण करने का निश्चय किया और अपनी सारी सेना के साथ उस ओर चला। यह सुनते ही बाजीराव फिर लौटे और गोदावरी के किनारे-किनारे निज़ाम के राज्य को लूटते चले। इस पर पूना की ओर जाना छोड़ कर निज़ाम फुर्ती से यात्रा करता हुआ बाजीराव का मार्ग रोकने के लिए आया और आगे बढ़ कर गोदावरी उतर पड़ाव डाल दिया। इस प्रकार शत्रु को दौड़ा कर थका देने के बाद बाजीराव अब युद्ध करने के लिए डट गए पर मराठी चाल पर पीछे हटते हुए निज़ाम की सेना को पालखेड़ के पास पार्वत्य स्थान में फँसा कर घेर लिया। बराबर युद्ध होता रहा और निज़ाम को विवश हो अपने सहायक राजा शंभाजी के साथ आत्म-समर्पण कर देना पड़ता यदि उस का तोपख़ाना साथ न होता। वह इन्हीं तोपों की सहायता से मार्ग बनाता हुआ पीछे हटता फिर नदी तक पहुँच गया पर अंत में निरुपाय होकर उसे संधि करनी पड़ी। यह संधि मूँगीशेगाँव में ६ मार्च सन् १७२८ को हुई और इस के द्वारा निज़ाम ने राजा साहू को मराठों का छत्रपति मान लिया, बक़ाया चौथ तथा सिरदेशमुखी चुका दिया और शंभाजी को विदा कर दिया।

इस के अनंतर बाजीराव ने अपने भाई चिमनाजी को गुजरात भेजा, जिस कारण वहां के मुग़ल प्रांताध्यक्ष ने सन् १७२९ ई० में चौथ आदि देना स्वीकार कर लिया।

इस पर खंडेराव का पुत्र त्र्यंबकराव, जो उस समय मालवा में था, अत्यंत क्षुब्ध हो गया कि गुजरात में उस के पिता के तथा उस के कुल प्रयत्न निष्फल हो गए और वहां की कुल आय राजकोष के लिए बाजीराव ने ले लिया। उस ने राजा साहू को पत्र लिखा जिस पर उसे मालवा छोड़ कर गुजरात चले जाने की आज्ञा हुई। वह इसी चिंता में पड़ा था कि निज़ाम ने यह अवसर अच्छा समझ कर उसे अपनी ओर मिला लिया और यह निश्चय हुआ कि वह अपनी पूर्ण शक्ति के साथ अहमदगनर के पास निज़ाम की सेना से आ मिले। राजा शंभाजी को भी सहायता के लिए लिखा गया परंतु उन में से एक बात भी बाजीराव से छिपी न थी क्योंकि उन के कुशल चर बराबर समाचार ला रहे थे। राजा साहू को यह समाचार सुनाया गया और धावदे के पक्ष वालों ने उस की सी सुनाई पर साहूजी ने अंत में यही कहा कि त्र्यंबकराव का शत्रु से मिल जाना अक्षम्य है और इस राजद्रोह का उसे दंड अवश्य मिलना चाहिए।

यह होते भी साहूजी सर्दारों की आपस की लड़ाई से अपनी ही हानि समझ रहे थे और उन्हों ने बाजीराव तथा चिमनाजी को युद्ध के लिए भेजते समय समझा दिया था कि यथाशक्ति वे पहले धावदे को शांत करने ही का प्रयत्न करें। इन दोनों ने भी इसे स्वीकार कर लिया और अंत तक इस का प्रयत्न भी करते रहे। वर्षा तथा चिमनाजी की पत्नी की मृत्यु के कारण ये दोनों प्रायः तीन मास तक रुके रहे और विजयादशमी को युद्ध-यात्रा आरंभ की। बाजीराव के साथ केवल पच्चीस सहस्र सेना थी और त्र्यंबकराव ने पैंतालीस सहस्र सेना एकत्र कर रक्खी थी। इस कारण बाजीराव के शांति के प्रयत्नों को त्र्यंबकराव ने स्वीकार नही किया पर उस की सेना में कोल-भीलों की नई सेना बहुत थी, जिस से बाजीराव अच्छी प्रकार जानते थे कि वह युद्ध में किसी काम की नही है। नर्मदा नदी पार करते समय पेशवा की अग्गल सेना पर दामाजी गायकवाड़ ने ससैन्य आक्रमण कर दिया और उसे बहुत हानि पहुँचाई पर बाजीराव के कुल सेना के साथ आगे बढ़ने पर विद्रोही सेना हट गई। दाभाई में दोनों सेनाएं आमने-सामने डट गईं और बाजीराव के अनुमान के अनुसार युद्ध आरंभ होते ही कोल-भील भाग खड़े हुए और कंथा कदमबंदे भी साथ छोड़ कर हट गया। परंतु धावदे वंश के पुराने वीर सैनिक बड़े साहस तथा धैर्य से लड़ते रहे। त्र्यंबकराव ने भी असीम वीरता दिखलाई और अपनी सेना का संचालन हाथी पर सवार होकर बड़ी धीरता से करता रहा। उस ने हाथी के पैर तोप की गाड़ी में बँधवा दिए थे

कि वह भाग न सके और शत्रु पर निरंतर तीरों की वर्षा करता रहा। बाजीराव उस का यह साहस देख कर हाथी से घोड़े पर सवार होकर कुछ सिद्धहस्त तलवारियों के साथ त्र्यंबकराव के हाथी तक मार्ग काट कर पहुँचे। इन्हों ने एक सवार को संधि का झंडा लेकर उस के पास भेजा और कहलाया कि ऐसी वीरता महाराज के शत्रु को दिखलानी चाहिए थी। अब भी कुछ नहीं हुआ है, युद्ध रोक कर हम लोग आपस में संधि कर लें। त्र्यंबकराव ने कुछ नहीं सुना और अपने हाथी को पैर खुलवा कर पेशवा पर हूल दिया। इन के साथ के खड्गवीरों ने हाथी को घेर कर महावत को मार डाला और धाबदे पर आक्रमण करने लगे। वह वीर भी महावत के स्थान पर आ बैठा और तीर चलाने लगा। बाजीराव ने आज्ञा दे रक्खी थी कि उसे जीवित पकड़ लें, मारें नहीं। परंतु वह युद्ध से हटता ही न था। इसी समय त्र्यंबकराव के मामा भाऊसिंहराव तोके ने उसे पीछे से गोली चला कर मार डाला, जिस से उस की सेना भाग खड़ी हुई और बाजीराव की पूर्ण विजय हुई। इस के अनंतर दाभदे की शक्ति बिलकुल क्षीण हो गई और गुजरात में पीलाजी गायकवाड़ के वंशजों का प्रभुत्व हो गया।

उक्त घटनाओं के समय ही राजा साहू ने दक्षिण में भी विजय प्राप्त की। शंभाजी ने अपने राज्य को लौट जाने के बाद भी साहू की अधीनता स्वीकार न की और फिर त्र्यंबकराव तथा निज़ाम के लिखने पर उन का पक्ष ग्रहण करने को उद्यत हो गया। उस के एक सरदार ऊदाजी चवन ने उसे उभाड़ा और राजा साहू को मारने के लिए चार घातक भेजे; जो उन के ख़ेमे में घुस गए पर राजकीय तेज के आगे उन का साहस छूट गया और सारी बात कह कर तथा क्षमा पाकर वे लौट गए। साहूजी ने अब शंभाजी पर सेना भेजना निश्चय किया। श्रीपतिराव ने, जो स्वामी की दृष्टि में गिर गया था, अपना सम्मान बढ़ाने के लिए राजा से प्रार्थना की कि उसे दक्षिण जाने वाली सेना का अध्यक्ष नियत किया जाय। राजा साहू ने यह स्वीकार कर लिया पर उस के सहकारी के स्थान पर धन्नाजी जादव के पुत्र अनुभवी सरदार शंभूसिंह जादव को नियत कर साथ भेजा। शंभूसिंह की सम्मति से श्रीपति ने शीघ्रता से कूच कर वारना के पड़ाव पर सन् १७३० के जनवरी में आक्रमण कर दिया और शंभाजी तथा ऊदाजी के पन्हाला भागने पर उस की सेना भी पूर्णतया परास्त हो भाग गई। प्रतिनिधि ने अक्तूबर में विशालगढ़ पर भी अधिकार कर लिया तब शंभाजी ने अधीनता स्वीकार कर ली। शंभाजी आज्ञा मिलने पर भाई से

मिलने आए और कृष्णा नदी के किनारे कर्हद में दोनों भाइयों की भेंट हुई। इन में दोनों ओर बड़ी धूमधाम रही। सतारा में कुछ दिन रहने के बाद संधिपत्र पर हस्ताक्षर हो जाने पर शंभाजी पन्हाला लौट गए और फिर उन्हों ने अपने भाई के विरुद्ध विद्रोह नहीं किया।

मराठों का मालवा पर पहले-पहल आक्रमण सं० १७५५ में ऊदाजी पँवार की अधीनता में हुआ था पर यह लूटमार करने मात्र का एक धावा था। मुग़ल-साम्राज्य की अवनति तथा मुसलमानों की उद्दंडता से चारों ओर अशांति बढ़ती जा रही थी। बाजीराव के पेशवा होने के बाद उन्हीं की अधीनता में ऊदाजी पँवार, रानोजी सिंधिया तथा मल्हारराव होलकर ने सं० १७८० में मालवा पर चढ़ाई की और इंदौर पर अधिकार कर लिया। इसी के साथ ऊदाजी पँवार ने धार पर अधिकार कर लिया। इसी समय निज़ामुल्मुल्क आसफ़जाह को मालवा प्रांत की अध्यक्षता मिली थी, पर यह भी मराठों के उपद्रव को शांत न कर सका और जब स्वयं यह दक्षिण चला गया तब सं० १७८२ के लगभग राजा गिरिधर बहादुर मालवा का सूबेदार नियत हुआ। इस ने मराठों को दमन करने का प्रयत्न किया पर दो वर्ष बाद सारंगपुर के पास इस के पड़ाव पर चिमना जी आप्पा तथा ऊदाजी ने धावा कर इसे युद्ध में मार डाला। इस का चचेरा भाई दयाबहादुर मालवा का प्रबंध करता रहा पर यह भी दो वर्ष बाद धार के पास थालग्राम में मल्हारराव होलकर से युद्ध करता हुआ मारा गया। इस के बाद एक रुहेला सरदार मुहम्मद ख़ां बंगश ग़ज़नफ़र जंग मालवा का सूबेदार बनाया गया, जो इलाहाबाद का सूबेदार था।

मुहम्मद ख़ां ने रुहेलों की भारी सेना एकत्र की और दुर्गों की तोपों को उतार कर एक अच्छा तोपखाना भी तैयार कर लिया। सं० १७९० में यह इस सुसज्जित सेना को लेकर मध्यप्रदेश में आया पर वहां के राजपूत सरदारों को अपने पक्ष में मिलाने के बदले में उन से शत्रुता करने लगा। इस ने इस प्रांत को 'दारुल्हर्ब' समझ कर पहले बुंदेलखंड पर अधिकार करना निश्चय किया, और वहां के एक प्रमुख राज्य पन्ना पर चढ़ाई कर दी।

महाराज छत्रसाल ने अपने राज्य के कई भाग कर एक-एक अपने पुत्रों को दिए थे, जिन में जैतपुरा इन के बड़े पुत्र जगतराज को मिला। मुहम्मद ख़ां बंगश ने जैतपुरा पर पहले भी कई चढ़ाई की थी पर सफल नहीं हुआ था। इस बार इस ने जैतगढ़ विजय कर उस पर अधिकार कर लिया। जगतराज परास्त होकर अपने पिता के पास चले आए। छत्रसाल की अवस्था इस समय ८३ वर्ष की हो गई थी। उन में न लड़ने का सामर्थ्य

था और न कोई बुंदेला वीर उस समय ऐसा था कि जिस से वह ऐसे प्रबल शत्रु के विरुद्ध सहायता प्राप्त कर सकते थे। अंत में इन्हों ने बाजीराव से सहायता माँगने का निश्चय कर उन्हें वही दोहा लिख भेजा, जिस का इस लेख के आरंभ में उल्लेख हो चुका है। इस पत्र को पाते ही बाजीराव ने अपनी वीर-वाहिनी सुसज्जित कर यात्रा आरंभ की और मारा-मार चलते हुए रात्रह दिन में पूना से जैतपुरा आ पहुँचे। मुहम्मद खां बंगश से जैतगढ़ के पास घोर युद्ध हुआ, जिस में वह परास्त होकर दुर्ग में जा बैठा। मराठों तथा बुंदेलों ने दुर्ग घेर लिया। अंत में युद्धीय तथा खाद्य सामान्य के चुक जाने पर बंगश को हार माननी पड़ी और वह दुर्ग तथा जैतपुरा का राज्य छत्रसाल को लौटा कर चला गया। वृद्ध वीर छत्रसाल ने बाजीराव को धन्यवाद दिया और अपना पुत्र माना। इसी के अनुसार इन्हों ने स्व-अर्जित राज्य के तीन भाग किए और दो अपने दो पुत्र जगतराज तथा हृदयसाह को दिया, जिन के वंश में क्रमशः जैतपुरा तथा पन्ना का राज्य अब तक वर्तमान है तथा तीसरा भाग बाजीराव को दिया, जिस के अंतर्गत झाँसी, बाँदा तथा सागर थे। इस राज्य को बाजीराव ने अपनी मुसलमान प्रेमिका मस्तानी के पुत्र को दे दिया।

इस प्रकार मुहम्मद खां बंगश के भाग जाने पर मुहम्मदशाह बादशाह ने उस से सब सूबेदारी छीन ली, और उस के स्थान पर राजा जयसिंह सवाई को सं० १७९१ में मालवा का सूबेदार नियत किया। कुछ युद्ध के बाद राजा जयसिंह ने जब यह देख लिया कि मालवा से मराठों को निकाल बाहर करना उन की शक्ति के बाहर है तब उन्हों ने मुहम्मदशाह को लिख भेजा कि मालवा की सूबेदारी बाजीराव को दे देने ही में उस प्रांत की भलाई है। इस पर बादशाह ने राजा जयसिंह को वज़ीर खानदौरा खां के भाई मुज़फ़्फ़र खां के साथ यथाशक्ति भारी सेना देकर मराठों को दमन करने के लिए भेजा। यह सेना सिरौंज तक बढ़ती चली आई। बाजीराव ने भी इस सेना के वहां तक पहुँचने में कोई बाधा नहीं डाली पर उस के वहां पहुँचने पर इन्हों ने उस सेना को घेर लिया, रसद आने-जाने का मार्ग बंद कर दिया तथा धावे कर सेना को क्रमशः नष्ट करने लगे। अंत में मुज़फ़्फ़र खां अपने भाई को सहायता के लिए बार-बार लिखने लगा तब खानदौरां खां ने दिल्ली की बची हुई सेना भी सहायतार्थ भेज दी। इस की सहायता से मुज़फ़्फ़र खां को घेरे से छुटकारा मिल गया। इस के बाद बादशाही सेना इधर-उधर कुछ कूच कर तथा यह प्रकट कर कि शत्रु दक्षिण लौट गया, राजधानी चली गई।

मराठा सेना का उपद्रव जारी था, और वह कहीं चली न गई थी, इस लिए मुहम्मद शाह ने एक भारी सेना हाथियों तथा तोपख़ाना के साथ एतमादुद्दौला क़मरुद्दीन ख़ां के अधीन आगरे की ओर से भेजा और दूसरी सेना तोपख़ाने सहित अमीरुल्उमरा समसामुद्दौला नसरत जंग के अधीन कई सरदारों के साथ भेजी गई, जो ६० सहस्र थी। यह मेवात की ओर से रवाना हुई। इस के पहले संधि की बातचीत चल रही थी पर बाजीराव की कड़ी शर्तों को न मान सकने पर ये सेनाएं भेजी गईं। ये सेनाएं शाही सेनाएं थीं और शाही चाल से इधर-उधर कूच करती रह गईं। छोटे-मोटे फुटकर युद्ध कभी-कभी हो जाते थे, जिन में शाही सेना की बहुत हानि होती थी। इसी बीच बाजीराव ने मल्हारराव होलकर को ८५ सहस्र सेना के साथ जयसिंह के राज्य में भेज दिया, जिस ने राजा के कई परगने लूट लिए और साँभर को घेर कर डेढ़ लाख रुपए दंड ले कर मालवा लौट आए। अमीरुल्उमरा बिना युद्ध किए ही राजधानी लौट गया और एतमादुद्दौला भी नरवर के पास पीलाजी गायकवाड़ से एक लड़ाई लड़ कर बिना कार्य पूरा किए लौट गया।

मराठा सेना का एक भाग सन् १७३७ में राजपूताने पहुँचा और मेवाड़ में उदयपुर पहुँच कर राणा से कर लेकर मारवाड़ गया। मेड़ता को लूट कर तथा नागौर के राजा बख़्तसिंह से कर उगाह कर यह अजमेर पहुँचा। इस नगर को लूट कर यह रूपनगर होता हुआ जयपुर पहुँचा, जहां राजा जयसिंह ने अन्य मुसलमान सरदारों की राय से बादशाह की ओर से बीस लाख रुपए देकर उसे दक्षिण लौटा दिया और स्वयं दिल्ली गए।

इस के दूसरे वर्ष बाजीराव ने भदावर पर चढ़ाई की, जहां के राजा अमृतसिंह ने २७ सहस्र सेना के साथ इन का सामना किया यद्यपि इन के पास एक लाख सेना से कम न थी पर यह युद्ध महीनों तक चलता रहा और यह समाचार बादशाह दिल्ली के, जिन की राजधानी भदावर के पास ही थी, कर्णगोचर न हो सका, तथा उन्हों ने राजा की सहायता कुछ भी न की। राजा का एक भाई मराठों से मिल गया और उस के संकेत पर बाजीराव ने कुछ सेना राजा की राजधानी अटेर लूटने भेज दी। यह समाचार पाते ही राजा लड़ता हुआ अपनी राजधानी को लौटा और कुशलपूर्वक दुर्ग में पहुँच गया। बीस लाख रुपए तथा दस हाथी दंड देकर उस ने अपनी तथा अपने राज्य की रक्षा की।

इसी वर्ष इस के बाद मल्हारराव होलकर ने भारी घुड़सवार सेना लेकर रापरी गाँव के पास से जमुना नदी पार कर शिकोहाबाद दुर्ग को घेर लिया। वहां के दुर्गाध्यक्ष ने डेढ़ लाख रुपए और एक हाथी देकर अपनी रक्षा की। इस के बाद मराठों ने आगरा के अंतर्गत फ़ीरोज़ाबाद तथा एतमादपुर को लूटा और जालेसर की ओर बढ़े। बुरहानुल्मुल्क सआदत खां ने इटावे से आ कर मराठा सेना का सामना किया। पहले उस का भतीजा अबुल् मंसूर खां सफ़दरजंग बारह सहस्र सवारों के साथ लड़ने को आया और जब मराठों ने उसे घेरना चाहा तब वह पीछे हटता वहां पहुँचा जहां बुरहानुल्मुल्क ५० सहस्र सवारों के साथ डटा हुआ था। उस ने तुरंत धावा कर दिया, जिस से मराठे परास्त होकर भागे। मल्हारराव होलकर इस प्रकार पराजित होकर जमुना उतर बची हुई सेना के साथ बाजीराव के पास चला आया। बुरहानुल्मुल्क ने इस विजय का समाचार बड़े जोश के साथ खूब बढ़ा कर दरबार लिख भेजा कि उस ने मराठों को परास्त कर दक्षिण भगा दिया है। इस के अनंतर वह दिल्ली की ओर चला पर मार्ग में उस से अमीरुल् उमरा खानदौरां से मथुरा के पास भेंट हुई, जो बादशाही सेना तथा मुहम्मद खां बंगश के साथ मराठों को दमन करने आ रहा था। ये लोग मिल कर यहीं ठहर गए और विजय के उपलक्ष में जलसे करने लगे।

बाजीराव ने यह सब समाचार सुन कर कहा कि बादशाह ने जो समाचार सुना है वह कहां तक झूठ है यह दिल्ली के फाटकों के पास मराठा सवारों तथा जलते गाँवों को दिखला कर साबित कर दूँगा। इस के अनंतर बाजीराव फुर्ती से यात्रा करते हुए दिल्ली पहुँच गए और तुग़लक़ाबाद में पड़ाव डाल दिया। इन्हों ने उस के चारों ओर लूटमार आरंभ कर दी। बादशाह ने यह समाचार पाते ही नगर की कुछ बची हुई सेना अमीर खां, राजा शिवसिंह आदि के अधीन मराठों को रोकने को भेजी। युद्ध में कई सौ शाही सैनिक तथा मीर हुसैन खां आदि कई सरदार मारे गए। इन सब सफलताओं के होते भी बाजीराव के लिए अपने राज्य से दूर दिल्ली के पास ठहरे रहना संभव न था क्योंकि वह एक विशाल शाही सेना को पीछे छोड़ कर बढ़ आए थे और यह भी पता लगा था कि समाचार पाकर बुरहानुल्मुल्क आदि ससैन्य दिल्ली की ओर रवाना हो चुके हैं। दक्षिण में निज़ामुल्मुल्क के अपराजित रहते हुए अपने राज्य से इतनी दूर समग्र शाही शक्ति से युद्ध करना नीतियुक्त न समझ कर बाजीराव पहले मालवा लौट आए और वहीं से दक्षिण चले गए।

निज़ामुल्मुल्क ने यह सब समाचार पाने पर बादशाह मुहम्मदशाह को लिखा कि यदि उस पर पुन: कृपा की जाय तो वह यथाशक्ति मराठों को दमन करने में कुछ उठा न रक्खेगा। उस ने बादशाह का साथ छोड़ कर दक्षिण में स्वतंत्रता का झंडा फहरा दिया था, इस लिए उसे भय था कि कहीं बादशाह बाजीराव को दक्षिण की सूबेदारी देकर अपने दोनों शत्रुओं को भिड़ा दें तो उस समय उसे अकेले ही दोनों—शाही तथा मराठा सेना—का सामना करना पड़ जायगा, इस लिए उस ने अवसर पाते ही बादशाह को क्षमा का प्रार्थना-पत्र लिख भेजा। उस का बाजीराव का पीछा करने का भी विचार था, जब यह उत्तर में फँसे हुए थे, पर बाजीराव के छोटे भाई चिमनाजी इन्हीं की आज्ञानुसार भारी सेना के साथ निज़ाम की चालों पर दृष्टि रक्खे हुए थे, जिस से वह कुछ न कर सका। मुहम्मदशाह ने पत्र पाते ही निज़ाम को दरबार आने की आज्ञा भेज दी और वह भी सन् १७३३ ई० के मध्य में दरबार पहुँच गया।

बादशाह ने निज़ाम का बहुत सत्कार किया और मालवा तथा आगरा प्रांत का उस को और गुजरात का उस के पुत्र ग़ाज़ीउद्दीन ख़ां को प्रांताध्यक्ष नियत कर कुल शाही शक्ति भी उसे सौंप दी। इस ने अपना पूरा तोपख़ाना दक्षिण से मँगवाया और सेना सुसज्जित कर इलाहाबाद से जमुना पार कर बुंदेलखंड पहुँच गया। इस के साथ कोटा-नरेश तथा अबुल्मंसूर ख़ां सफ़दरजंग भी थे। छत्रसाल के पुत्रों को परास्त करता यह मालवा में भूपाल के पास पहुँचा, जहां का ताल सुप्रसिद्ध था। कहा जाता था कि 'ताल तो भूपाल ताल और सब तलैया'। पर मुसलमानों ने इसे तोड़-फोड़ तथा सुखा कर खेत बना डाले और अब वह केवल दो मील लंबी झील मात्र रह गई है। निज़ाम ने अपनी सेना इस ताल तथा नदी के बीच में रख कर मराठों से युद्ध करने की तैयारी की। बाजी-राव इस तैयारी का समाचार पाते ही अस्सी सहस्र सेना के साथ भूपाल आ पहुँचे और निज़ाम की इस स्थिति को देख कर उसे ससैन्य घेर लिया। शाही सेना पर पूरा विश्वास न होने के कारण निज़ाम युद्ध के लिए बाहर न निकला। यद्यपि बहुत से शत्रु मारे गए पर मराठे भी उस के तोपख़ाने के कारण उसे नष्ट न कर सके। मल्हारराव होलकर तथा यशवंतराव पवार ने सफ़दरजंग को परास्त कर उसे उत्तर लौट जाने को बाध्य किया, जो मुख्य सेना से पीछे हट कर पड़ाव डाले हुए था। सयाजी गूजर, रानोजी राव सिंधिया आदि सरदार बराबर धावे कर शत्रु-सेना का नाश कर रहे थे। दिल्ली से कोई सहायता

की आशा न रही और हैदराबाद से सहायता पहुँचने में बहुत समय चाहिए था। बाजीराव स्वयं अपने श्वेत घोड़े पर सवार होकर सेना का बराबर परिचालन कर रहे थे। इस लिए अंत में निज़ाम ने शाही आज्ञानुसार मालवा बाजीराव को देकर सन् १७३८ ई० में संधि पर हस्ताक्षर कर दिया और दिल्ली लौट गया। बादशाह ने यह आज्ञा नादिरशाह की चढ़ाई का समाचार सुन कर ही बाध्य होकर दी थी। इस प्रकार मराठों का मालवा तक साम्राज्य फैल गया।

बाजीराव भी मालवा में सरदारों को नियत कर तथा एक सेना कोटा भेज कर दक्षिण लौट गए। कोटा के महाराव भाग कर गागरूनगढ़ चले गए। कोटावासियों ने कुछ दिन युद्ध करने के बाद कई लाख रुपए दंड देकर संधि कर ली।

सन् १७२० ई० में महाराव अजीतसिंह को हटा कर हैदरक़ुली खां गुजरात का प्रांताध्यक्ष नियत किया गया था, पर उस प्रांत में उस के अत्याचारों का समाचार पाने पर बादशाह ने निज़ामुल्मुल्क के पुत्र ग़ाज़ीउद्दीन खां को वहां का प्रांताध्यक्ष नियत कर दिया। उस ने अधिकार देना न चाहा तब निज़ाम स्वयं वहां पहुंचा, जिस से वह दिल्ली चला गया और यह अपने चाचा हामिद ख़ां को पुत्र का प्रतिनिधि बना कर लौट आया। परंतु हैदरक़ुली के नायब रुस्तम अली ख़ां, शुजाअत ख़ां और इब्राहीम क़ुली तीन भाई थे, जिन में प्रथम सूरत में था। अंतिम दो भाई हामिद ख़ां से युद्ध कर मारे गए तब रुस्तम-अली पीलाजी गायकवाड़ की सहायता लेकर, जिस से वह बराबर चौथ के लिए लड़ता रहा था, हामिद ख़ां से युद्ध करने आया। हामिद ख़ां भी कंथाजी कदमबंदे मराठा की सहायता प्राप्त कर युद्ध को पहुँचा पर परास्त हो गया। इस के अनंतर हामिद ने पीलाजी को अपनी ओर मिला लिया और तब युद्ध कर रुस्तम अली को मार डाला। मराठों ने रुस्तम अली का सामान लूट लिया तथा अहमदाबाद और बड़ौदा भी लूटा।

मुहम्मदशाह ने यह समाचार पाकर सरबुलंद ख़ां को गुजरात का प्रांताध्यक्ष नियत कर भेजा तब निज़ाम ने हामिद ख़ां को बुला लिया, और सर बुलंद ने वहां अधिकार कर लिया। इस ने काफ़ी प्रयत्न किए पर यह मराठों का उपद्रव शांत न कर सका, जो प्रांत भर में फैले हुए थे और पीलाजी गायकवाड़ तथा कंथा कदमबंदे के अधीन थे। बाजीराव ने मूँगीशेगाँव की संधि के बाद चिमनाजी आप्पा को गुजरात भेजा। सर बुलंद ख़ां प्रथम दो को डाकू मात्र समझता था पर चिमनाजी को राजा साहू तथा पेशवा का प्रतिनिधि

मान कर उस ने उन से संधि प्रस्ताव किया। सन् १७२६ ई० में बाजीराव ने चौथ तथा सिरदेशमुखी के बदले में गुजरात में शांति रखने का वचन देकर संधि कर ली।

मुहम्मदशाह ने यह समाचार पा कर सर बुलंद खां को गुजरात से हटा कर सं० १७८६ में मारवाड़-नरेश महाराज अभयसिंह को वहां का अध्यक्ष नियत किया। जब यह प्रायः एक वर्ष बाद तैयारी कर अहमदाबाद पहुँचे और सं० १७८७ के आश्विन में सर बुलंद को मुचेड़गाँव के पास परास्त कर दिया तब वह अंत में इन्हें प्रांत सौंप कर दिल्ली चला गया।

जिस प्रकार हर एक प्रांत में मुग़ल प्रांताध्यक्ष नियत होते थे उसी प्रकार मराठों के एक-एक सरदार भी एक-एक प्रांत में अपना प्रभाव स्थापित कर वहां हर प्रकार से अपनी चौथ उगाहा करते थे। खानदेश तथा गुजरात में खंडेराव धाबदे नामक एक मराठा सरदार ने लूट-मार कर अपना प्रभाव फैला रक्खा था। इसे बालाजी विश्वनाथ ने सेनापति की पदवी दे कर सतारा दरबार का एक अधीनस्थ सरदार बना लिया था। इन की मृत्यु पर इन के पुत्र त्र्यंबकराव धाबदे के सहकारी पीलाजी गायकवाड़ तथा कंथा कदमबंदे इस कार्य को चलाते थे। सन् १७२६ ई० में बाजीराव को सर बुलंद खां ने चौथ आदि देना स्वीकार कर लिया। अभयसिंह के प्रांताध्यक्ष होने के बाद सन् १७३१ ई० में त्र्यंबकराव धाबदे बाजीराव से युद्ध कर मारे जा चुके थे अतः पीलाजी गायकवाड़ को अकेले ही अभयसिंह का सामना करना पड़ा। बाजीराव उत्तर में फँसे हुए थे और चिमनाजी दक्षिण के विभिन्न कार्यों में व्यस्त थे। अभयसिंह ने सेना भेज कर बड़ौदा छीन कर उस पर अधिकार कर लिया पर इस के बाद वह कई युद्धों में परास्त हो गए। इन के एक दूत ने पीलाजी को डाकोर नामक तीर्थ-स्थान में संधि की बातचीत करते समय-सन् १७३२ ई० में मार डाला पर इस से कुछ भी लाभ न हुआ। इस के भाई महादजी ने जंबूसर से आक्रमण कर उसी वर्ष बड़ौदा पर अधिकार कर लिया और इस के पुत्र दामाजी ने पूर्वीय गुजरात पर अधिकार कर जोधपुर पर आक्रमण कर दिया। अभयसिंह अपने राज्य की रक्षा करने के लिए मारवाड़ चले गए। सन् १७३५ ई० में अहमदाबाद पर भी दामाजी का अधिकार हो गया, और यह प्रांत सदा के लिए मुग़ल साम्राज्य से अलग हो गया।

मराठा नौ-सेना के अधिपति कान्होजी आंग्रे के पिता तुकोजी सन् १६६० ई०

में इन्हीं एक पुत्र को छोड़ कर मर गए और इन की उक्त सेना में नियुक्ति हो गई। सुवर्ण दुर्ग पर सीदी तथा अचलोजी मोहितो ने जब धावा किया, और वहां का अध्यक्ष दुर्ग दे देने का विचार करने लगा तब कान्होजी ने दुर्ग-रक्षा अपने हाथ में ले ली और उस को बचा भी लिया। इस कार्य से प्रसन्न हो शंभाजी ने इन्हें शीघ्र बेड़े में ऊँचा पद दे दिया पर शंभाजी के मारे जाने पर समुद्र-तटस्थ कुल दुर्गों को पहले कान्होजी तथा भीवाजी गूजर ने आपस में बाँट लिया पर सन् १६९७ में भीवाजी को क़ैद कर यही कुल कोंकण के स्वामी हो गए। साहू जी के स्वतंत्र होने पर ताराबाई की आज्ञा का बहाना कर कान्होजी ने कल्याण तथा वहां के प्रदेशों पर और भोरघाट के नीचे के विशालगढ़ तथा राजमाची और उस पर के लोहगढ़ पर अधिकार कर लिया। इस पर सन् १७१३ ई० में साहू जी ने बाहिरोजी पिंजले पेशवा को इस पर भेजा, पर वह परास्त हो क़ैद हो गया। तब बालाजी विश्वनाथ भेजे गए, जिन्हों ने लोनवाला में आंग्रे से भेंट कर अपनी बाचालता से उसे साहू जी की अधीनता मानने को बाध्य किया। इस पर वह सरखेल की पदवी से विभूषित किया गया और प्रायः उस के विजित कुल प्रांत उसे मिल गए।

कान्होजी वास्तव में स्वतंत्र रह कर सीदियों, अंग्रेज़ों तथा पुर्तगीज़ों से युद्ध तथा लूटमार करते रहते थे। सन् १७२० ई० में अंग्रेज़ों तथा पुर्तगीज़ों के सम्मिलिन बेड़े तथा सेना ने कान्होजी आंग्रे के दुर्गों पर आक्रमण किया और इंगलैंड के राजकीय बेड़े के कई पोतों ने कमोडोर मैथ्यूज़ की अधीनता में सहायता भी दी पर वे एक दुर्ग भी न ले सके। अंत में आपस ही में झगड़ा हो गया, जिस से पुर्तगीज़ अलग हो गए। बाजीराव कान्होजी की सहायता को ससैन्य आ पहुँचे थे इस लिए पुर्तगीज़ों ने इन के द्वारा १२ जनवरी १७२२ ई० को राजा साहू से संधि कर ली। इस प्रकार पुर्तगीज़ों के हट जाने पर भी अंग्रेज़ों से युद्ध छिट-फुट जारी रहा। इसी प्रकार सीदी तथा डचों के भी प्रयत्नों को निष्फल करते हुए कान्होजी की सन् १७२९ ई० में मृत्यु हो गई।

कान्होजी के बाद उन के पुत्र शेखोजी बेड़ाध्यक्ष हुए और इन्हों ने अंग्रेज़ों से युद्ध जारी रक्खा। सीदियों से बहुत दिनों तक संधि रही पर शेखोजी उन के विरुद्ध थे। एक हाथी के कारण सीदियों ने शिवरात्रि के दिन ब्रह्मेंद्र स्वामी के बनवाए हुए परशुरामेश्वर महादेव के मंदिर को नष्ट कर डाला, जिस से क्रुद्ध हो स्वामीजी ने बाजीराव को सीदियों को नष्ट करने के लिए उभाड़ा। सन् १७३३ ई० में मराठा सेना ने सीदी राज्य

में पहुँच कर सीदी रैहान को परास्त कर मार डाला, ताल तथा गोस्साल गढ़ों को विजय कर लिया और राजपुरी स्थानों को लूटा। मानाजी आंग्रे ने जंजीरा के पास सीदी बेड़े को गहरी पराजय दी और ८ जून को बाजीराव ने रायगढ़ पर अधिकार कर लिया, जिसे औरंगज़ेब ने सन् १६८९ ई० में सीदियों को दे दिया था। अब सीदियों के पास केवल चार दुर्ग बच गए थे जिन की वे दृढ़ता से रक्षा करने लगे और अंग्रेज़ों, पुर्तगीज़ों तथा मुग़ल बेड़े से सहायता माँगी। शेखोजी बंबई पर अधिकार करने का प्रयत्न कर रहे थे कि उन की उसी वर्ष २८ अगस्त को मृत्यु हो गई।

बाजीराव ने शेखोजी की मृत्यु के कारण सीदियों से युद्ध करना उचित न समझ कर संधि कर ली, जिस से ब्रह्मेंद्र स्वामी तुष्ट न हुए तब सन् १७३६ ई० में १९ अप्रैल को चिमनाजी आप्पा ने सेना सहित धावा कर चरई ग्राम के पास मंदिर को नष्ट करने वाले सत् सीदी को परास्त कर मार डाला। इसी युद्ध में अंडेरी का अध्यक्ष ग्यारह सहस्र सेना के साथ मारा गया, जिस से सीदियों की शक्ति सदा के लिए नष्ट हो गई और स्वामी जी भी संतुष्ट हो गए।

शेखोजी के चारों पुत्रों में आधिपत्य के लिए इस के बाद झगड़ा चला और शंभाजी के विरुद्ध मानाजी ने सुवर्णदुर्ग में अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया तथा पुर्तगीज़ों से सहायता ली। शंभाजी इस कारण हार गए तब बाजीराव को मध्यस्थ बनाया। इन्हों ने आंग्रे के अधीनस्थ प्रांत को दोनों में बाँट देने की राय दी, जिस से असंतुष्ट हो शंभाजी ने इस बार पुर्तगीज़ों की सहायता लेकर मानाजी को कोलाबा में घेर लिया। मानाजी ने कोथल तथा राजमाची दुर्ग देकर बाजीराव को सहायतार्थ बुलाया, जिन्हों ने ससैन्य पहुँच कर कोलाबा का घेरा उठा दिया और पुर्तगीज़ों से युद्ध करने की घोषणा की। गोआ के वाइसराय ने संधि प्रस्ताव किया, जिसे इन्हों ने स्वीकार कर लिया।

उक्त संधि की एक शर्त को न मानने तथा बाजीराव के भेजे हुए विशिष्ट राजदूत व्यंकटराव जोशी का अपमान करने से संधि टूट गई और पुनः युद्ध आरंभ हो गया। बाजीराव ने चिमनाजी आप्पा को सेनापति नियत कर ससैन्य पुर्तगीज़ों पर आक्रमण करने को भेजा। मराठा सेना ने एकाएक ६ अप्रैल सन् १७३७ ई० को थाना दुर्ग पर आक्रमण कर दिया और उस पर अधिकार कर सालसट पर भी धावा कर दिया। इसी समय नारायण जोशी ने पारसीक और धारवि पर, शंकरजी केशव ने अर्नाला दुर्ग पर और एक सेना

ने गोर बंदर पर आक्रमण कर दिया। इन सब पर दूसरे दिन तक अधिकार हो गया, इस के अनंतर वर्षा के पहले मंडवी, मनोरा आदि छोटे-छोटे ग्रामों पर अधिकार कर लिए गए और बसीन के घेरे का प्रबंध दृढ़ कर चिमनाजी पूना लौट गए।

अगस्त महीने में बाजीराव ने बसीन पर आक्रमण करने का प्रबंध किया। इस बीच युवक लुई बौटेलहो के स्थान पर एक अनुभवी वीर सैनिक बसीन का अध्यक्ष होकर आया और इस ने उस की रक्षा का सुप्रबंध किया तथा बसीन पर किए गए कई मराठा धावों को इस ने विफल कर दिया। इस प्रकार यह लड़ाई बहुत दिनों तक चलती रही। पुर्तगाल से भी दो जहाज़ भर कर सेना आ पहुँची, जिस से माहिम तथा आशरिन के घेरे उठा दिए गए। पेड्रो ड मेलो के अधीन पाँच सहस्र सेना ने गुप्त रूप से थाना पर सन् १७३८ के सितंबर में आक्रमण किया, पर इस का पता बाजीराव को मिल गया, जिस से यह सेना परास्त कर दी गई, पेड्रो ड मेलो मारा गया और बची सेना भाग गई। सन् १७३९ के आरंभ में बाजीराव ने गोआ से निरंतर आती हुई सहायता को रोकने के लिए व्यंकटराव घोरपदे को सोलह सहस्र सेना के साथ वहां भेजा, जिस ने मारगाओ पर अधिकार कर राछोल दुर्ग पर आक्रमण कर दिया। वहां घोर युद्ध हो रहा था कि इसी बीच नादिरशाह की चढ़ाई का समाचार सारे भारत में फैल गया। बाजीराव ने उत्तर जाकर भारत के उस वाह्य शत्रु को परास्त करने का निश्चय किया और उस की तैयारी में लग गए। उन की शक्ति इतनी थी कि वह पुर्तगीज़ों का युद्ध जारी रखते हुए भी उस का प्रबंध करने लगे।

पुर्तगीज़ों की कभी-कभी कहीं विजय हो जाती थी पर एक के बाद एक उन के अधीनस्थ स्थानों तथा दुर्गों पर मराठों का अधिकार होता जा रहा था। बसीन का घेरा जारी था, उस का वीर दुर्गाध्यक्ष एनटोनियो ड सिलवीरा मारा गया, और अंत में कई खानों के उड़ने पर निरुपाय हो कर पुर्तगीज़ों ने मई में बसीन मराठों को सौंप दिया। बसीन पर अधिकार होते ही बाजीराव ससैन्य उत्तर की ओर रवाना हो गए पर यह समाचार मिलते ही कि नादिरशाह दिल्ली लूट कर स्वदेश लौट गया, यह पुनः लौट कर पुर्तगीज़ों के युद्ध को निपटाने में दत्तचित्त हुए। गोआ घेर लिया गया और तब पुर्तगीज़ों ने संधि प्रस्ताव करना ही उचित समझा। अंत में अंग्रेज़ों के बीच में पड़ने से चौल तथा मराठों द्वारा विजित स्थानों तथा दुर्गों को दे देने पर संधि हो गई। इसी के अनंतर

अंग्रेज़ों ने भी अपने राजदूत भेजे जिस का राजा साहू ने सत्कार किया और उन की आज्ञानुसार बाजीराव ने व्यापारिक स्वतंत्रता देकर अंग्रेज़ों से संधि कर ली[1]।

इस प्रकार बाजीराव अपने सभी प्रयत्नों में सफल हो कर २६ जुलाई को पूना लौट आए। एक महीने बाद इन के पुत्र बालाजी भी राजा साहू के स्वयं मेराज दुर्ग विजय करके लौटने पर उन की आज्ञा से पिता के पास पहुँच गए। बाजीराव की प्रेमिका एक सुंदरी मुसलमान युवती मस्तानी नाम की थी, जिस के वह वशीभूत हो रहे थे और उन के स्वास्थ्य पर इस संसर्ग का अच्छा असर नही पड़ रहा था। साथ ही वह अपनी स्त्री काशी-बाई की ओर से उदासीन भी हो रहे थे। इन कारणों से इन की माता राधाबाई तथा भाई चिमनाजी आप्पा ने इन्हें बहुत समझाया कि उसे त्याग दें पर उन्हों ने कुछ नहीं सुना। इस मस्तानी के विषय में अनेक प्रकार की दंतकथा सुनी जाती है। प्रथम यह है कि मस्तानी किसी शुजाअत खां की उपपत्नी थी, जो मालवा में एक मुग़ल सेनानी था और चिमनाजी ने उसे परास्त कर मस्तानी को अन्य लूट के साथ बाजीराव के पास भेज दिया था। दूसरी यह है कि निज़ामुल्मुल्क ने इसे अपनी ओर से बाजीराव को भेंट में दिया था, जो उस के परिवार ही की थी। तीसरी यह है कि मस्तानी छत्रसाल की मुसलमान उपपत्नी की पुत्री थी और उन से बाजीराव को मिली थी। जो कुछ हो, बाजीराव उसे देख कर उस के प्रेम में ऐसे फँसे कि उसे यावज्जीवन के लिए स्वीकार कर अपनी उपपत्नी बना लिया। वह सुंदरी चंचला होते गायन-वादन में भी अत्यंत कुशल थी। यह भी बाजीराव के साथ बराबर रहती और अनेक युद्ध यात्राओं में भी साथ देती थी। अंत में जब चिमनाजी ने देखा कि उन के भाई समझाने से नहीं मानते तब उन्हों ने मस्तानी को एक दिन क़ैद कर शनवारवाड़ा में सुरक्षित रख दिया, परंतु मस्तानी वहां से भाग कर पुनः बाजीराव के पास पहुँच गई। चिमनाजी ने इस पर उसे फिर क़ैद कर दिया तब बाजीराव अपने जीवन ही से तंग आ गए और उन्हों ने युद्ध में प्राण-विसर्जन करने की ठान ली।

मूँगीशेगाँव की संधि के अनुसार निज़ाम ने बाजीराव को निजी संपत्ति के रूप में जागीर देने को कहा था पर बारह वर्ष होते आए उस ने यह प्रतिज्ञा पूरी नहीं की थी। अतः बाजीराव ने सेना सुसज्जित कर पूना से प्रस्थान कर दिया और चिमनाजी भी सहायक

---

[1] एचिसन, 'ट्रीटीज़', जिल्द १४

सेना लेकर आ मिले। निज़ाम उत्तरी भारत में था और उस का पुत्र नासिर जंग इस चढ़ाई का समाचार सुन कर ४० सहस्र सेना के साथ युद्ध करने के लिए आया। गोदावरी के तट पर दो मास तक युद्ध होता रहा। अंत में नासिर जंग बाध्य होकर औरंगाबाद लौटा और उस दुर्ग में घिर गया। बड़े घेरे के कारण निरुपाय होकर नासिर जंग ने इंदौर के दक्षिण हांडिया तथा खारगाँव देकर संधि कर ली। इस के बाद बाजीराव ने चिमनाजी को पूनाँ भेज दिया और बालाजी को आंग्रे परिवार के झगड़े को तै करने के लिए कोलाबा जाने की आज्ञा दी। स्वयं वह अपनी इस नवार्जित संपत्ति का प्रबंध करने के लिए वहां गए। यहीं यह ज्वर से पीड़ित हुए और बयालीस वर्ष की अवस्था में २५ अप्रैल सन् १७४० ई० को इन की मृत्यु हो गई। उस समय इन के पास इन की पत्नी काशीबाई तथा द्वितीय पुत्र जानर्दन पंत उपस्थित थे। यह समाचार शीघ्र ही चिमनाजी तथा बालाजी को भेजा गया, जो संस्कार के समय तक आ पहुँचे। मस्तानी भी इन लोगों के साथ आई और बड़ी धीरता से प्रचंड अग्नि में इन के साथ सती हो कर उस ने इन का सहगमन किया। काशीबाई बहुत दिनों तक वैधव्य भोग कर सन् १७५८ के २७ नवंबर को परलोक सिधारीं।

बाजीराव के चार औरस पुत्र थे—बालाजी, रामचंद्र, रघुनाथ और जनार्दन। मस्तानी से एक पुत्र शमशेर बहादुर हुआ, जिसे बाजीराव ने छत्रसाल से मिला हुआ बुंदेलखंड में बाँदा का राज्य दे दिया था। बाजीराव बहुत चाहते थे कि उन के इस पुत्र को ब्राह्मण बना लिया जाय पर हिंदू समाज इतना कठोर तथा प्रबल था कि ऐसे शक्तिमान वीर का भी किया कुछ न हो सका। अंत में वह मुसलमान ही रह गया। यह भी बड़ा वीर था और इक्कीस वर्ष की अवस्था में पानीपत युद्ध में मारा गया। इस का पुत्र अलीबहादुर था, जो बाँदा के नवाबों का पूर्वज कहलाया।

बाजीराव के भाई चिमनाजी भी अपने भाई की मृत्यु के बाद आठ मास ही के भीतर १७ दिसंबर, १७४० ई० को परलोक सिधारे। इन के दो विवाह हुए थे। पहला रुक्माबाई से हुआ था, जिन की अपने एकमात्र पुत्र सदाशिवराव को जन्म देने के बाद ३१ अगस्त, १७३० ई० को मृत्यु हो गई। दूसरा विवाह अन्नपूर्णा बाई से हुआ, जिन से केवल एक पुत्री हुई थी। यह अपने पति के साथ सती हो गईं। चिमनाजी अच्छे विद्वान् तथा विद्याप्रेमी थे और साहस, वीरता तथा सेनापतित्व में भाई से किसी प्रकार कम न थे पर बाजीराव की प्रसिद्धि के आगे इन की ख्याति दब सी गई थी। इन के व्यक्तित्व

में शील, मृदुता तथा मिलनसारी अधिक थी और दूसरों की बात सुन कर उस पर विचार भी करते थे। बाजीराव की संतानों के पठन-पाठन, शिक्षा, संस्कार, विवाहादि का सारा प्रबंध इन्हीं को करना पड़ता था, क्योंकि बाजीराव को राजनैतिक उच्चाभिलाषा के कारण इस ओर दृष्टि डालने का सदा अनवकाश रहा। चिमनाजी प्रकृत्या सरल होते भी ऐसे शुद्ध आचार तथा चरित्र के थे कि अपने बड़े भाई को भी मस्तानी के संबंध में बहुत कुछ कह डाला और दो बार उसे क़ैद कर इन से दूर भी किया। मराठा साम्राज्य के लिए वह बड़े शोक का दिन था, जिस दिन चिमनाजी की इतनी अल्पावस्था में मृत्यु हो गई। यदि कुछ दिन यह और जीते तो उन घरेलू झगड़ों को न होने देते तथा अपने भाई के पुत्रों को बहुत कुछ अनुभवी बना जाते।

मराठा इतिहास से यदि बाजीराव की विजय-गाथा निकाल दी जाय तो स्पष्ट ही वह मराठा-साम्राज्य का इतिहास न रह कर एक साधारण राज्य का इतिहास मात्र रह जायगा। उन की उत्तरी भारत में अर्जित विजयों, उन के मराठा सेना की अजेयता की ख्याति तथा उन के बीस वर्ष के अजस्र प्रयत्नों ही ने मराठा-साम्राज्य की स्थापना की थी। कूटनीति-कुशल निज़ाम तथा अन्य योग्य मुग़ल सेनानियों की चालों को दूरदर्शिता तथा अनुभव से समझ कर निष्फल करते हुए मुग़ल साम्राज्य का नाममात्र अवशिष्ट रहने देना इन की राजनैतिक विशेषता थी। दक्षिण में पुर्तगीज़, अंग्रेज़ तथा सीदियों की सम्मिलित शक्तियों को इन्हों ने अपने नीति-कौशल, बाहुबल तथा अध्यवसाय ही से ध्वंसप्राय कर दिया था। उक्त कारणों ही से ग्रांटडफ़, एलफ़िन्स्टन, बेवरिज, कीन आदि इतिहासज्ञों ने बाजीराव की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

बाजीराव गौरवर्ण तथा लंबे क़द के पुरुष थे, और अपने सौंदर्य के लिए भी प्रसिद्ध थे। यह वस्त्र आदि में बहुत सादगी रखते थे तथा खानपान में भी विशेष व्यय नहीं करते। युद्धयात्रा में तो इतनी सादगी भोजन में रहती थी कि कभी-कभी घोड़े पर सवार चलते हुए दाना फाँक कर समय काट देते थे। इन में विनम्रता के स्थान पर औद्धत्य की मात्रा अधिक थी और अधीनस्थों को पत्र में भर्त्सना के सिवा स्यात् कभी ही प्रशंसा के एकाध वाक्य लिख दिए होंगे। परंतु साथ ही यह भी था कि वह दूसरों की वीरता, साहस तथा कर्मठता का बिना जातिपाँति का विचार किए पूरी दाद देते और यही कारण है कि इन के सहकारी-गण इन पर भय-मिश्रित श्रद्धा तथा भक्ति रखते थे।

बाजीराव कुशल घुड़सवार थे और तलवार चलाने तथा अचूक तीर चलाने में भी सिद्धहस्त थे। यह अत्यंत धीर थे और कभी युद्ध में विजय हाथ से जाते देख कर भी घबड़ाते न थे प्रत्युत् उसे अपने धैर्य ही के कारण फिर अपना लेते थे। इन्हों ने पूना में शनवार बाड़ा बनवाया था; जिस में कई बड़े बड़े हॉल थे पर यह प्रासाद सन् १८२८ ई० में अग्नि से नष्ट हो गया। इसी के फाटक के पास इन की स्मारक समाधि बनी हुई है, जो अब तक है।

महाकवि नंददास का जीवन-चरित्र

[लेखक—श्रीयुत दीनदयालु गुप्त, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०]

विक्रम की १५वीं, १६वीं तथा १७वीं शताब्दियां हिंदी साहित्य का धार्मिक काल कहलाती हैं। इस काल में महात्मा रामानंद, कबीर, श्री वल्लभाचार्य, श्री चैतन्य महाप्रभु, गोस्वामी हितहरिवंश, स्वामी हरिदास, आदि अनेक धर्म-प्रचारक, आचार्य, और भक्तों ने भक्तिरस का एक ऐसा अपूर्व श्रोत बहाया था कि जिस में मज्जन कर देश की पीड़ित और दुःखित जनता को सुख-शांति मिली थी। इन आचार्यों के शांतिदायी प्रभाव के नीचे अनेक ऐसे आध्यात्मिक साधक हुए जिन्हों ने हिंदी भाषा में अपने अनुभूत भावों को प्रकट कर हिंदी साहित्य की उत्कृष्टता को बढ़ाया, और उस के माधुर्य का सिक्का उतरी भारत की संपूर्ण भाषाओं पर जमा दिया। वल्लभ-संप्रदाय में भी बहुत से उच्च कोटि के प्राचीन भक्त कवि हो गए हैं। हिंदी संसार के "सूर सूर" (महात्मा सूरदास), वल्लभ-संप्रदाय के ही थे। श्री वल्लभाचार्य जी के बाद आचार्य की गद्दी पर संवत् १५८७ वि० में उन के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी बैठे, जो संवत् १६४२ वि० में गोलोकवासी हुए। उन्हों ने, चार अपने शिष्यों में से तथा चार अपने गुरु और पिता श्री वल्लभाचार्य के शिष्यों में से, आठ परम भक्त और प्रतिभा-संपन्न उच्चकोटि के कवियों को चुन कर 'अष्टछाप' की उपाधि से विभूषित किया। महात्मा सूरदास, परमानंददास, कृष्णदास और कुंभनदास श्री वल्लभाचार्य के शिष्य थे और महाकवि नंददास, चतुर्भुजदास, छीत स्वामी और गोविंद स्वामी श्री विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे। ये अष्टछाप कवि वल्लभ-संप्रदाय में अष्टसखा कहलाते हैं। इन अष्टछाप कवियों की दो श्रेणियां हैं—एक 'स्वामी' दूसरी 'दास'। सूरदास (सूर स्वामी), परमानंददास (परमानंद स्वामी), छीत स्वामी और गोविंद स्वामी, 'स्वामी' श्रेणी में आते हैं और कृष्णदास, कुंभनदास, नंददास तथा चतुर्भुजदास, 'दास' श्रेणी में कहे जाते हैं। इन के रचे हुए पद संप्रदाय के अतिरिक्त संपूर्ण उत्तरी भारत में गाए जाते हैं।

. महाकवि नंददास अपने भाषा-लालित्य के लिए हिंदी संसार में एक उच्चकोटि के कवि समझे जाते हैं। इन की कविता के विषय में एक कहावत भी प्रसिद्ध है, "और सब गढ़िया, नंददास जड़िया।" वास्तव में नंददास की कविता अपूर्व माधुर्य और रसपूर्ण है। इस महान कवि की कोई प्रामाणिक जीवनी अब तक नहीं निकली। प्रस्तुत जीवनी कई वर्ष की खोज का प्रतिफल है।

कविवर नंददास की जीवनी के निम्न-लिखित मुख्य आधार हैं:

१. कवि द्वारा अपने ग्रंथों में अपने जीवन-विषयक फुटकर उल्लेख।

२. अन्य ग्रंथों में नंददास संबंधी उल्लेख।

३. जनश्रुतियां जो मौखिक रूप से परंपरागत चली आ रही हैं।

कवि के ग्रंथों में अपने जीवन विषयक उल्लेख

सभी भारतीय भाषाओं के कवियों की यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे आत्म-चरित बहुत कम देते हैं। उन के जीवन से संबंध रखने वाला जो कुछ भी उल्लेख और विवरण उन के ग्रंथों में मिलता है वह जहां-तहां बिखरा हुआ ही मिलता है। हिंदी साहित्य के कवियों में भी बहुत थोड़े ही कवि ऐसे हैं, जिन्हों ने अपने कुल, जाति, जन्म-स्थान, आदि के बारे में पूर्ण परिचय दिया है। हमे देखना है कि नंददास ने अपने ग्रंथों में अपने विषय में क्या कहा है। महात्मा नंददास के वंश, कुल, जाति, जन्मस्थान आदि के विषय में अब तक के उन के उपलब्ध ग्रंथों में कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। अपने शिक्षागुरु के विषय में भी उन्हों ने कुछ नहीं कहा है। हां, अपने सांप्रदायिक गुरु श्री विट्ठलनाथ जी के विषय में, अपने 'ब्रजप्रेम' और 'यमुना जी की महिमा' में तो उन्हों ने अनेक पद लिखे हैं। नंददास के पदों का अभी कोई पूर्ण संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ है। परंतु वल्लभ-संप्रदाय के पद-संग्रहों में, 'रागकल्पद्रुम' में तथा अन्य कीर्तन के पद-संग्रहों में नंददास जी के पद दिए हैं।[1] उन पदों में वल्लभसुत गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के विषय के भी पद हैं। इन में से कुछ पद यहां दिए जाते हैं—

---

[1] **मथुरा के पंडित जवाहरलाल जी ने एक पद-संग्रह तैयार किया है। खेद है कि उन के परिश्रम का प्रतिफल अभी तक एक पुस्तक रूप में हिंदी संसार के सामने नहीं आया, यद्यपि यह संग्रह बहुत परिश्रम और योग्यता से तैयार किया गया है।**

राग विभास

प्रात समे श्री वल्लभ सुत को, वदन कमल को दर्शन कीजे।
तीन लोक बंदित पुरुषोत्तम, उपमा काहि (जो) पटतर दीजे।
श्री वल्लभ सुत कुल उदित चंद्रमा, लखि छबि नैन चकोरन पीजे।
'नंददास' श्री वल्लभ सुत पर, तन मन धन न्योछावर कीजे।

('पुष्टिमार्गीय पदसंग्रह', भाग ३, पृष्ठ ६; संग्रहकर्ता वैष्णव ठाकुरदास सूरदास)

नंददास जी की जीवनी के वाह्य प्रमाणों से विदित होता है कि नंददास जी श्री विट्ठलनाथ जी के प्रथम दर्शनों ही से इतने प्रभावित हो गए थे कि उन का मन सब विषयों से हट कर उन के चरणारविंद में लग गया था, और उन्हों ने विट्ठल-चरणों पर तन, मन, धन सब अर्पण कर दिया था। उपरोक्त पद से भी नंददास की गुरुभक्ति का परिचय मिलता है।

और भी :

राग रामकली

श्री वल्लभ सुत के चरण भजो।
नंद[1] सुकुमार भजन सुखदायक पतितन पावन करन भजो।

. . . .

पुष्टि मर्याद, भजन सुख सीमा, निज जन पोषन करन भजो।
'नंददास' प्रभु प्रकट भए दोउ, श्री विट्ठलेस गिरधरन भजो।

('पुष्टिमार्गीय पदसंग्रह', पृष्ठ ७, संग्रहकर्ता वैष्णव ठाकुरदास सूरदास)

नंददास की जीवनी के प्रमाणों से यह विदित होता है कि नददास जी पुष्टिमार्गीय संप्रदाय के थे। इस पद में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है। और उन की भक्ति विट्ठल जी के सिवा उन के ज्येष्ठ पुत्र श्री गिरधर जी में भी थी, जिन का जन्म-काल सं० १५९७ माना जाता है। नंददास ने इस पद में इन की भी वंदना की है।

और भी :

---

[1] पाठांतर 'अति'।

राग विभास

प्रात समे श्री वल्लभ सुत कौ पुण्य पवित्र विमल जस गाऊं ।
सुंदर सुभग बदन गिरधर को, निरखि निरखि मैं दृगन सिराऊं ।
मोहन मधुर बचन श्री मुख के श्रवननि सुनि सुनि हृदय बसाऊं ।
तन मन प्रान निवेदन करिकै सकल अपुनपो सुफल कराऊं ।
रहौं सदा चरनन के आगे महाप्रसाद सो जूठन पाऊं ।

(संग्रहकर्ता, पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, मथुरा)

उपरोक्त पद से विट्ठलनाथ जी के प्रति अनन्य भक्ति के अतिरिक्त यह भी विदित होता है कि नंददास जी, श्री विट्ठलनाथ ज़ी के पास ही रहा करते थे और उन के कृपापात्र थे, यथा, 'रहौं सदा चरनन के आगे महाप्रसाद सों जूठन पाऊं ।'

अपने व्रजप्रेम के विषय में कवि ने एक पद में कहा है :—

जो गिरि रुचै तो बसो श्री गोवर्धन, ग्राम रुचै तो बसो नंदगाम ।
नगर रुचै तो बसो श्री मधुपुरी, सोभा सागर अति अभिराम ।।
सरिता रुचै तो बसो श्री यमुना-तट, सकल मनोरथ पूरनकाम ।
'नंददास' कानन रुचै तौ बसौ भूमि बृंदाबन धाम ।।

इस पद के विषय में '२५२ वैष्णवन की वार्ता' में उल्लेख है कि नंददास ने अपने बड़े भाई (चचेरे) महात्मा तुलसीदास को यह पद उन के एक पत्र के उत्तर में लिख कर दिया था, जिस में उन्हों ने अपनी व्रजभक्ति का परिचय दिया था। व्रज के स्थानों में वृंदाविपिन, गोकुल और नंदगाँव नंददास को बहुत प्रिय थे। इस बात का प्रमाण उन के अनेक पदों से मिलता है :—

नंदगाँव नीको लागत री ।
प्रात समय दधि मथत ग्वालिनी, विपुल मधुर धुनि गाजत री ।

... ...

जहां बसत सुरदेव महामुनि एकौं फल नहिं लागत री;
'नंददास' प्रभु कृपा को इहि फल, गिरिधर देखि मन जागति री ।।
जमुने जमुने जमुने जो गावौ ।

सेस सहस मुख गावत निश दिन पार नहीं पावत ताहि पावौ ।
सकल सुख देन हार ताते करो उचार, कहत हौं बार बार भूलि जिन जावौ ।
'नंददास' की आस जमुने पूरण करी ताते कहूं घरी घरी चित लावौ ।।

(नंददास की वार्ता, हस्तलिखित, और पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी का संग्रह)

भाग्य सौभाग्य जमुना जो देरी ।
बात लौकिक तजे पुष्टि यमुना भजे, लाल गिरधरन को ताहि वर मिले री ।।
भगवती संग करि बात उन की ले सदा सन्निद्ध रहे केलि में री ।
'नंददास' जो जाहि वल्लभ कृपा करें ताके यमुना सदा वश जो रहे री ।।

उपर्युक्त दो पदों में श्री यमुना जी की महिमा का वर्णन है । नंददास की कृष्ण-भक्ति तो उन के पदों तथा और ग्रंथों में प्रत्यक्ष है तथा सर्वविदित है । पर कुछ पदों में उन्हों ने भगवान के रामरूप में भी अपनी आस्था प्रकट की है । जैसे—

राम कृष्ण कहिए उठि भोर ।
ओहि अवधेष ओही ब्रजजीवन, धनुषधरन औ' माखनचोर ।

... ...

इतमें चरण अहिल्या तारी, उत कुब्जा से कियो है किलोल ।
इतमें जानकी बायें बिराजें उत राधे सँग युगल किशोर ।

... ...

इतमें राज विभीषण दीनो, उग्रसेन कियो अपनी ओर ।
'नंददास' जी के ये दोउ ठाकुर दशरथ सुत बाबा नंदकिशोर ।।

(पाठांतर से 'रागकल्पद्रुम' तथा पं० जवाहरलाल जी का पदसंग्रह)

अपने कुछ ग्रंथों में नंददास ने अपने एक रसिक मित्र का उल्लेख किया है, और लिखा है कि इसी मित्र की आज्ञा से अथवा उस के कहने से मैं ग्रंथ-रचना कर रहा हूं । इस मित्र का नाम स्पष्ट रूप से उन्हों ने किसी भी ग्रंथ में नहीं दिया है ।

परम रसिक इक मित्र मोहि तिन आज्ञा दीनी ।
ताही ते यह कथा यथामति भाषा कीनी ।

('रासपंचाध्यायी')

'रसमंजरी' ग्रंथ की रचना के विषय में कवि इस प्रकार कहता है :—

एक मीत हमसों अस गुन्यो, मैं नाइका भेद नहिं सुन्यो।

... ...

रसमंजरी अनुसार कै, नंद सुमति अनुसार।
बरनत बनिता भेद जहँ, प्रेमसार विस्तार।

इस में भी कवि ने अपने एक मित्र का हवाला दिया है। 'दशम स्कंध' भी कवि ने अपने इसी मित्र के कहने से लिखा था। 'दशम स्कंध', 'अनेकार्थ' और 'नाममाला' ग्रंथों में कवि के कथन से विदित होता है कि उसे संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान था। मित्र के लिए तथा अन्य उन सज्जनों के लिए जिन्हें संस्कृत भाषा का ज्ञान नहीं था, कवि ने 'दशम स्कंध' और 'नाममाला' की हिंदी में रचना की।

'दशम स्कंध' के आरंभ में कवि कहता है :

परम विचित्र मित्र इक रहे, कृष्ण चरित्र सुन्यो सो चहे।
तिन कहि दशम स्कंध जो आहि, भाषा करि कछु बरनौं ताहि।
सबद संस्कृत के हैं जैसें, मो पै समुझि परत नहिं तैसें।
ताते सरल सुभाषा कीजे, परम अमृत पीजे सुख जीजे।
तासों नंद कहत है तहां, अहो मित्र एती मति कहां।
जामें बड्डे कविजन अरुझे, ते वे अजहूं नाहिं न सरुझे।
तहां हौं कवन निपट मतिमंद, बौना पहिं पकरावहि चंद।
अरु जु महामति श्रीधर स्वामी, सब ग्रंथन को अंतरजामी।
तिन कही यह भागवत ग्रंथ, जैसे दूध उदधि को मंथ।

... ...

तिहि मधि हों केहि बिधि अनुसरौं, क्यों सिद्धांत रतन उद्धरौं।
मित्र कहत है तो यह अैसें, अहो नंद तुम कहत हो जेसें।
अै पर जथासक्ति कछु कीजे, अमृत की इक बुंदहि दीजे।

इस दशम स्कंध भागवत के बहुत से अध्यायों के आरंभ में कवि अपने इस मित्र को संबोधन करता है। जैसे, 'अब अष्टम अध्याय सुनि मित्र, नाम करन मन हरन पवित्र।'

परंतु इस मित्र का नाम कहीं पर भी कवि ने नहीं दिया है। वल्लभ-संप्रदायी अष्टकवि तथा अन्य पुष्टिमार्गीय वैष्णव उन के समकालीन मित्र तो थे ही, परंतु इस रसिक मित्र का उल्लेख कवि ने कई स्थानों पर विशेष रूप से किया है। अष्टकवियों में यह मित्र नही हो सकता क्योंकि वह रसिक मित्र संस्कृत का ज्ञाता नहीं है, और वह कृष्णभक्ति के रहस्य को ज़ानने का भी उत्सुक है। पुष्टिमार्गीय अष्टकवि सभी विद्वान् थे और वल्लभ-संप्रदायी मार्ग के पूर्ण ज्ञाता थे।

'रूपमंजरी' ग्रंथ में कवि ने रूपमंजरी की एक सहेली का ज़िक्र किया है। ग्रंथ के पढ़ने से ज्ञात होता है कि वह सहेली 'इंदुमती' स्वयं नंददास ही है। वाह्य आधारों से ज्ञात हुआ है कि 'रूपमंजरी' एक अति सुंदरी कृष्ण-भक्तिनी थी। इस से नंददास की बहुत मित्रता थी। संभव है कि यही रूपमंजरी कवि का रसिक मित्र हो। इस विषय में निश्चय रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

अन्य लेखकों के ग्रंथों में नंददास संबंधी उल्लेख

निम्न-लिखित ग्रंथ और लेख नंददास के जीवन-वृत्तांत का निर्देश करते हैं:—

१. भक्तमाल—नाभादास-कृत, सं० १६४०.

२. भक्तमाल टीका—सेवादास-कृत सं० १८६४.

३. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता—गोकुलनाथ द्वारा कथित सं० १८२६.

४. रत्नावली-चरित—कवि मुरलीधर-कृत।

५. रत्नावली-दोहासंग्रह।

६. श्री सूकरक्षेत्रमाहात्म्य—कृष्णदास-कृत सं० १६७०.

७. वर्षफल—कृष्णदास-कृत सं० १६५७.

८. रामचरितमानस की हस्त-लिखित प्रति, सोरों की, सं० १६४३.

९. मूलगोसाईंचरित—वेणीमाधवदास-कृत, सं० १६८७.

१०. भक्तनामावली[१]—ध्रुवदास-कृत, सं० १६८०-१७००.

इन ग्रंथों के अतिरिक्त कुछ बाद के लिखे हुए नंददास के विषय में उल्लेख और

[१] पं० जवाहरलाल जी चतुर्वेदी के पास हस्तलिखित प्राचीन प्रति है

वृत्तांत हैं, जिन का आधार 'भक्तमाल' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' ही है। कुछ किंवदंतियों का सहयोग भी इन वृत्तांतों में किया गया है। गार्सां द तासे एक फ़्रांसीसी लेखक ने अपने 'इस्त्वार द ला लित्रेत्यार हिंदी एत् हिंदुस्तानी' में कुछ कवियों का संक्षिप्त परिचय दिया है। इस का प्रथम संस्करण संवत् १८९६ में निकला था। इस में नंददास के विषय में कुछ नहीं कहा गया है, केवल उन के ग्रंथों के नाम दिए गए हैं। इस के अतिरिक्त शिवसिंह सेंगर का 'शिवसिंहसरोज', भारतेंदु हरिश्चंद्र का 'भक्तमाल', ज्यार्ज ए० ग्रियर्सन का 'वरनाक्यूलर लिटरेचर आव् हिंदुस्तान', मिश्रबंधुओं का 'मिश्रबंधुविनोद' तथा आधुनिक हिंदी साहित्य के आधुनिक इतिहासकारों ने भी नंददास का संक्षिप्त परिचय दिया है। इतिहास-ग्रंथों के अतिरिक्त नंददास की प्रकाशित ग्रंथों की भूमिकाओं में भी नंददास का वृत्तांत दिया गया है। अब हम इन ग्रंथों में दिए हुए नंददास संबंधी उल्लेखों पर विचार करेंगे।

१. भक्तमाल (सं० १६४०)—अब तक हिंदी के सभी विद्वानों ने इस ग्रंथ को प्रमाणिक माना है। 'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास जी नंददास के समकालीन थे। उन्हों ने जो कुछ भी वृत्तांत नंददास के बारे में दिया है वह अवश्य विश्वसनीय है। 'भक्तमाल' में दो नंददासों का उल्लेख है। एक नंददास बरेली निवासी और दूसरे रामपुर निवासी। बरेली वाले नंददास जी का केवल एक पंक्ति में उल्लेख किया गया है :

नाभा ज्यों नंददास, मुई इक बच्छ जिवाई।[1]

इन के काव्य-विवेक आदि के विषय में कोई उल्लेख नहीं है। इन के परिचय का, 'भक्तमाल' के टीकाकार प्रियादास जी ने एक कवित्त अपनी टीका में दिया है। इस का आशय निम्न-लिखित है :—

'नंददास ब्राह्मण थे, और बरेली के रहने वाले थे। परम भक्त थे और साधु-सेवा में रहा करते थे। खेती करना उन का व्यवसाय था। परंतु जो खेती की आय आती उसे वे साधु-सेवा में लगा दिया करते थे। एक दिन एक दुष्ट ने उन से बैर मान कर एक मरी हुई बछिया उन के खेत में डाल दी, और उन पर हत्या का लांछन लगाया। नंददास

---

[1] **'भक्तमाल टीका', भक्तिसुधा स्वाद तिलक, श्री सीतारामशरण भगवानप्रसाद रूपकला जी, पृ० ४६०**

जी ने इस बछिया को जिला दिया। तब सब लोग उन की भक्ति के क़ायल हुए।'

'भक्तमाल' में दूसरे नंददास के विषय में निम्न-लिखित छप्पय है :

लीला-पद-रस-रीति-ग्रंथ-रचना में नागर।
सरस उक्ति जुत जुक्ति भक्ति रसगान उजागर।
प्रचुर पयध लौं सुजस रामपुर ग्राम निवासी।
सकल सुकुल संबलित भक्त पद रेनु उपासी।
चंद्रहास अग्रज सुहृद, परम प्रेम पै में पगे।
श्री नंददास आनंदनिधि, रसिक सु प्रभु हित रंगमंगे।

('भक्तमाल', भक्तिसुधास्वाद तिलक, पृ० ६०२)

'भक्तमाल' के बरेली वाले नंददास, अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नंददास नहीं हो सकते, क्योंकि नंददास के समकालीन भक्त नाभादास जी ने पहले छंद में वर्णित भक्त की रचना और काव्य के विषय में कुछ नहीं कहा है। दूसरे छंद में, रामपुर वाले नंददास के विषय में अष्टछापीय नंददास के सभी काव्य-गुणों का उल्लेख पाया जाता है। छंद की प्रथम पंक्ति से विदित होता है कि नंददास जी रसिक थे। 'रासपंचाध्यायी' ग्रंथ में नंददास ने पंचाध्यायी के लिखने का कारण दिया है :

परम रसिक इक मित्र मोहि तिन आज्ञा दीनी।
ताही ते यह कथा जथामति भाषा कीनी॥

नंददास के एक रसिक मित्र ने उन से 'रासपंचाध्यायी', जिस का मुख्य भाव प्रेम-शृंगार है, लिखने को कहा। 'रसिक' के अर्थमाधुर्य भाव से उपासना करने वाला भक्त और लौकिक शृंगार भाव में आनंद लेने वाला व्यक्ति दो हो सकते हैं। भक्ति-प्रेम-रस का अपार समुद्र नंददास के हृदय में हिलोरें मारा करता था, इसी से 'भक्तमाल' रचयिता ने उन्हें रसिक कहा है। नंददास की रचनाओं को देखने से तथा उन के रसिकों के संग से ज्ञात होता है कि नंददास वास्तव में एक रसिक पुरुष थे। उन्हों ने अपने हृदय के लौकिक रस को लोक से हटा कर भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं में देखा था। इसी भाव से वे कृष्ण की भक्ति करते थे। उन की लौकिक रसिकता भक्ति-रसिकता में परिणत हो गई थी।

'भक्तमाल' की दूसरी पंक्ति से ज्ञात होता है कि नंददास ने दो प्रकार के ग्रंथों की रचनाएं की हैं—भगवान की लीला के पद, तथा रसरीति ग्रंथ-रचनाएं ।

भगवान की लीला के पद नंददास ने बहुत से लिखे हैं। 'रस-रीति-ग्रंथ-रचना में नागर' का अर्थ भक्ति-रसरीति के ग्रंथों की रचना में कुशल और काव्य-रसरीति ग्रंथरचना में चतुर दोनों हो सकता है। नंददास के उपलब्ध ग्रंथों को देखने से ज्ञात होता है कि उन्हों ने काव्यलक्षण ग्रंथों की परिपाटी पर भी कुछ रचनाएं की हैं। पर इस विषय में उन्हों ने काव्यरीति के कुछ ही प्रसंग जैसे नायिका-भेद आदि पर ही रचनाएं की हैं, काव्य-रचना के सभी अंगों का लक्षण सहित विवेचन नहीं किया है। इस कोटि के ग्रंथों में उन का 'रसमंजरी' ग्रंथ आता है, जो नायक-नायिका भेद पर लिखा गया है। 'अनेकार्थमंजरी', और 'नाममाला', अनेक अर्थ तथा पर्यायवाची शब्दों के कोषग्रंथ हैं। 'रूपमंजरी' काव्य-ग्रंथ है परंतु उस में वर्णित हाव-भावों का चित्रण और 'बारहमासा' भी काव्य-रीति ग्रंथ पद्धति को ही लिए हुए हैं। इस प्रकार नाभा जी का नंददास जी को ग्रंथ-रचना में चतुर कहना दोनों अर्थों में सिद्ध होता है। नंददास ने भक्तिरस के लक्षण और भक्तिरस की रचनाएं दोनों की हैं। इस प्रकार नाभा जी की यह पंक्ति नंददास के स्वभाव और उन की रचनाओं के विषय का परिचय देती है। नंददास भक्त कवि थे, और साथ ही एक साधारण काव्य-आचार्य भी थे।

तृतीय पंक्ति में उन की रचना के गुणों की प्रशंसा है। उन की सरस उक्तियां हैं। वे भक्तिरस के गाने में प्रसिद्ध हैं। इस कथन से सिद्ध होता है कि नंददास उच्च कोटि के कवि और अच्छे गवैये भी थे। यहां तक तो नाभा जी ने उन की काव्य-रचना का परिचय दिया है। आगे की पंक्तियां उन के जीवन-संबंधी कुछ बातों पर प्रकाश डालती हैं। उन का यश समुद्र-पर्यंत व्याप्त है, और वे रामपुर के रहने वाले हैं। 'रामपुर' स्थान के विषय में हिंदी साहित्य के इतिहास-वेत्ताओं ने कई अनुमान लगा रक्खे थे। और अंत में लोग यही कहते थे कि 'रामपुर स्थान की खोज अभी तक नहीं हुई है।' 'सूकरक्षेत्र-महात्म्य' और 'रत्नावली-चरित्र' ग्रंथों से जो अभी हाल की खोज में मिले हैं यह स्पष्ट हो जाता है कि रामपुर सोरों ज़िला एटा के निकट एक गाँव है, जिसे अब श्यामपुर और श्यामसर भी कहते हैं। इस का प्रमाण नंददास के पुत्र कवि कृष्णदास के रचे ग्रंथ 'सूकर-क्षेत्रमहात्म्य' तथा 'वर्षफल' में दिया है। इन का हवाला हम आगे देंगे। इस गाँव का

नाम रामपुर से श्यामपुर, नंददास जी ही ने बदल कर किया था।

'सकल सुकुल संबलित भक्त पदरेनु उपासी।' पंक्ति से ज्ञात होता है कि नंददास जी शुक्ल वंश में उत्पन्न हुए थे, और उच्च वंश में होते हुए भी, भक्तों की पदरज के, चाहे वे भक्त किसी भी जाति के क्यों न हों उपासक थे। 'सुकुल संबलित' के अर्थ उच्च कुल में उत्पन्न और शुक्ल आस्पद वाले ब्राह्मण कुल में उत्पन्न, दो हो सकते हैं। नंददास के समय में श्री रामानंद संप्रदाय के आचार्यो ने, वल्लभाचार्य जी ने तथा अन्य संत भक्तों ने ब्राह्मण से लेकर नाई, चमार, डोम आदि सभी जातियों को ऊँच-नीच का भेद घटा कर भगवान की भक्ति का अधिकारी बताया था। नंददास जी इतने उच्च कोटि के भक्त थे कि उन्हों ने जाति-बंधन तोड़ कर भक्तों की, चाहे वे किसी भी जाति के क्यों न हों, चरण-धूलि शीश चढ़ाई थी। शुक्ल आस्पद कान्यकुब्ज, सरयूपारी तथा सनाढ्य सभी ब्राह्मणों में होता है। नाभा जी ने इस विषय को स्पष्ट नही किया है कि नंददास किस जाति के थे। अन्य प्रमाणों से ज्ञात हुआ है कि नंददास जी सनाढ्य ब्राह्मण थे, और उन का 'शुक्ल' आस्पद था। 'श्री चंद्रहास अग्रज, सुहृद, परम प्रेम पय में पगे।' 'चंद्रहास अग्रज सुहृद' का अर्थ लोगों ने कई प्रकार से किया है। 'ब्रजमाधुरीसार' के संकलनकर्ता, श्री वियोगीहरि ने नंददास को चंद्रहास के बड़े भाई का मित्र माना है। इस अर्थ के अनुसार चंद्रहास उस समय के कोई प्रसिद्ध व्यक्ति होने चाहिएं, क्योंकि नाभाजी, इस कथन के अनुसार सीधे शब्दों में नंददास के मित्र का नाम न देकर मित्र के छोटे भाई चंद्रहास का नाम देते हैं। चंद्रहास उस समय के कोई भक्त न थे। इतिहास में भी चद्रहास नाम का कोई प्रसिद्ध व्यक्ति सुनने में नही आता। इस लिए हमारे विचार तथा अन्य प्रमाणों के आधार से उपर्युक्त अर्थ ठीक नहीं है। राजा प्रतापसिंह ने 'भक्तकल्पद्रुम' में इस पंक्ति के आधार पर नंददास को चंद्रहास का पुत्र लिखा है[1]। हिंदी साहित्य के प्रसिद्ध समालोचक और साहित्य के इतिहास-कार पंडित रामचंद्र शुक्ल ने अपने हिंदी 'साहित्य के इतिहास' के पृष्ठ १६८ पर लिखा है उस से इतना ही सूचित होता है कि इन के भाई का नाम चंद्रहास था। हमारे विचार में इस पंक्ति का सीधा अर्थ यही है कि नंददास चंद्रहास के बड़े भाई थे। इस बात की पुष्टि कृष्णदास-कृत 'सूकरक्षेत्रमहात्म्य' और कवि मुरलीधर-कृत 'रत्नावली-चरित्र'

[1]'भक्तकल्पद्रुम', श्री प्रतापसिंह-रचित, पृ० ११४

ग्रंथ करते हैं। इन ग्रंथों पर आगे विचार किया गया है।

२. भक्तमाल टीका (सं० १८६४)—'भक्तमाल' की रचना के लगभग ६० वर्ष बाद संवत् १७६६ में नाभादास जी के शिष्य प्रियादास जी ने 'भक्तिरसबोधिनी' नाम की टीका लिखी। इस टीका में नाभा जी के दिए हुए वृत्तांत के अतिरिक्त भक्तों के स्वतंत्र वृत्तांत भी अपनी ओर से दिए हैं। इस 'भक्तिरसबोधिनी' टीका के बाद 'भक्तमाल' पर अनेक टीकाएं हुईं, जिन का मूल आधार प्रियादास की टीका ही रही है। नंददास जी के विषय में प्रियादास ने कोई वृत्तांत नहीं दिया। बरेली निवासी नंददास के बछिया जिलाने वाले प्रसंग पर तो टीका है। प्रियादास के बाद की 'भक्तमाल' की टीकाओं में भी अष्टछाप वाले नंददास का विशेष हाल इसी से नहीं मिलता। 'भक्त-माल' पर एक टीका भक्त सेवादास ने की है। सेवादास का यह ग्रंथ छपा नहीं है। इस की एक प्रति सोरों, ज़िला एटा, में पंडित गोविंदवल्लभ भट्ट जी के संग्रह में है। यह ग्रंथ संवत् १८६४ का लिखा हुआ है। इस में नंददास के प्रसंग में 'भक्तमाल' के नंददास विषयक छंद की कुछ पंक्तियों का भाव स्पष्ट किया है। इस ग्रंथ के पृष्ठ १४३ पर उल्लेख है, कि एक बार तुलसीदास जी ने नंददास जी से कहा कि 'तू ब्रज में मत जाय'। इस पर नंददास ने उत्तर दिया कि 'जब बिंध चुके तब आना जाना कैसा'। तुलसीदास को नंददास ने अपने उत्तर से चुप कर दिया। इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि महात्मा तुलसीदास का तथा नंददास का कुछ संबंध था।

३. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता—वल्लभ-संप्रदायी कवियों की जीवनी का मुख्य सूत्र 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', तथा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' है। नंददास जी का जीवन-वृत्तांत 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में दिया हुआ है। वार्ता के आधार पर नंददास का जीवन-वृत्त देने से पहले इस ग्रंथ की प्रामाणिकता पर विचार करना उचित होगा। पंडित रामचंद्र शुक्ल, अपने 'हिंदी साहित्य के इतिहास'[1] में कहते हैं कि 'गोस्वामी जी और नंददास जी से कोई संबंध न था, यह बात पूर्णतया सिद्ध हो चुकी है। अतः उक्त वार्ता की बातों को जो वास्तव में भक्तों का गौरव प्रचलित करने के लिए पीछे से लिखी गई हैं, हम प्रमाण कोटि में नहीं ले सकते।' डाक्टर धीरेंद्र वर्मा इस ग्रंथ की भाषा को

---

[1]पृ० २११, नवीन संस्करण।

गोकुलनाथ जी कृत अथवा उन के समय की नहीं मानते। इस आशय का आपका एक लेख अप्रैल १६३२ की 'हिंदुस्तानी' में निकला था। डाक्टर वर्मा ने भाषा की दृष्टि से 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' को 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' की अपेक्षा अधिक पुराना बताया है। दोनों ग्रंथों की भाषा डाक्टर वर्मा के कथन की पुष्टि करती है। 'चौरासी' और 'दो सौ बावन' वैष्णवों की वार्ताएं वास्तव में श्री गोकुलनाथ जी के हाथ की लिखी हुई नहीं हैं यह बात तो पूर्ण-रूप से सिद्ध है। पर उन में वर्णित सामग्री केवल इसी से निराधार नहीं हो जाती और न उन के उल्लेखों की ऐतिहासिक उपयोगिता शून्य में विलीन हो जाती है। डाक्टर वर्मा 'अष्टछाप' के आरंभिक वक्तव्य में लिखते हैं :—

"इस संग्रह को हिंदी जनता के सम्मुख रखने में मेरे दो मुख्य उद्देश हैं। भाषा-संबंधी उद्देश तो है, सत्रहवीं सदी के ब्रजभाषा गद्य को सर्वसाधारण के लिए सुलभ करना तथा साहित्यिक उद्देश सूरदास आदि कुछ प्रसिद्ध हिंदी कवियों की जीवनियों के इन प्रायः समकालीन जीते-जागते वर्णनों से हिंदी प्रेमियों का घनिष्ट परिचय कराना।...... इस के अतिरिक्त यह जीवनियां देश की तत्कालिक धार्मिक, सामाजिक तथा राज-नैतिक स्थिति पर भी अत्यंत महत्वपूर्ण प्रभाव डालती हैं। राष्ट्रीय जीवन के इन आवश्यक अंगों का सच्चा इतिहास लिखने के लिए हिंदी साहित्य में कितना भंडार भरा पड़ा है, इस का दिग्दर्शन इस छोटे से संग्रह को आद्योपांत पढ़ने से भली प्रकार हो सकेगा।" उक्त वक्तव्य ८४ और २५२ वार्ताओं की ऐतिहासिक महत्ता का अनुमान स्पष्ट शब्दों में कराता है।

श्री गोकुलनाथ जी अपने संप्रदाय के भक्तों की वार्ताएं अपने शिष्यों को सुनाया करते थे। इन दो वार्ताओं के अतिरिक्त ब्रजभाषा गद्य में वल्लभ-संप्रदायी बहुत सा साहित्य वार्ता-रूप में है। जैसे 'श्री द्वारकानाथ जी के प्राकट्य की वार्ता', 'श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता', 'निज वार्ता', 'घरू वार्ता' आदि। जो वार्ताएं श्री गोकुलनाथ जी की बताई जाती हैं, उन को श्री गोकुलनाथ जी ने अपने हाथ से नहीं रचा। वे मौखिक रूप से अपने शिष्यों को सुनाया करते थे। कुछ वार्ताएं तो उन के जीवन-काल में ही उन के शिष्यों ने लिपिबद्ध कर ली थीं, और कुछ उन के वाद लिपिबद्ध हुईं। गुजराती भाषा में श्री बसंतराम शास्त्री जी ने पुष्टिमार्ग का एक इतिहास-ग्रंथ लिखा है। इस में वल्लभ-कुल के आचार्यों के चरित्र दिए हैं। गोकुलनाथ जी के चरित्र में, पुस्तक के पृष्ठ

८३ पर चौरासी और दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ताओं के विषय में इस प्रकार लिखा है। हम गुजराती कथन का हिंदी भावार्थ देते हैं—

"श्री गोकुलनाथ जी हमेशा रात्रि को अपने शिष्यों से कथा-प्रसंग कहा करते थे। श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य जी और श्री गोसाईं विट्ठलनाथ जी के अनन्य सेवकों के अलौकिक चरित्रों का निरूपण किया करते थे। एक वैष्णव उन प्रसंगों को नित्य लिख लिया करता था। एक समय श्री गोकुलनाथ जी ने एक कथा आरंभ की तब उस वैष्णव ने कहा कि 'महाराज यह प्रसंग तो हो चुका।' इस के समर्थन में उस ने अपना लेख दिखाया। श्री गोकुलनाथ जी को इन वार्ताओं को लिपिबद्ध करना अभीष्ट न था। उन्हों ने उस दिन से वार्ता कहना बंद कर दिया।"

'निज वार्ता', 'घरू वार्ता' और 'चौरासी बैठक के चरित्र' नामक ग्रंथ ब्रजभाषा गद्य में लिखे हुए हैं। इस ग्रंथ का भी वल्लभ-सम्प्रदाय में बहुत मान है। इस ग्रंथ के पृष्ठ ६३ पर श्री गोकुलनाथ जी के इन वार्ताओं को मौखिक रूप से कहने का उल्लेख है।

"श्री गोकुलनाथ जी आप भगवदीयन ते इतनी कथा कहि विराम करते भए, तब भगवदीयन ने बीनती कीनी महाराज! आपने श्री आचार्य जी महाप्रभु की तीन पृथ्वी परिक्रमा के चरित्र संक्षेप में सुनाए। परि यां चरितामृत तें हम को तृप्ति नाहीं होत। ताते औरहू श्री आचार्य जी के चरित्र सुनाइवे की कृपा करोगे। तब श्री गोकुलनाथ जी आज्ञा करत भये जो श्री आचार्य जी महाप्रभून के चरित्र तो अनंत है पर औरहू संक्षेप सों तुम कों सुनावत हों। ऐसे कहिके आप और हू चरितामृत अपने भगवदीयन को पान करावत भए।"

वल्लभ-संप्रदाय में श्री गोकुलनाथ जी द्वारा कथित तथा श्री गोस्वामी जी द्वारा निर्दिष्ट 'वैष्णवन् के बत्तीस लक्षण' नामक ग्रंथ भी प्रसिद्ध है। यह ग्रंथ हस्तलिखित रूप में ही मिलता है। इस ग्रंथ के आरंभ में भी यही लिखा है कि श्री महाप्रभु श्री गोकुलनाथ जी से कल्याण भट्ट[1] ने प्रार्थना की; महाराजाधिराज, भगवदीय वैष्णवों के लक्षण बताइए। तब श्री गोकुलनाथ जी ने वैष्णवों के ३२ लक्षण मौखिक रूप से कहे। कहा जाता है कि इस ग्रंथ को कल्याण भट्ट जी ने लिपिबद्ध किया था। वल्लभ-संप्रदाय के विद्वानों से पूछने पर ज्ञात हुआ कि ८४ और २५२ वार्ताओं को भी कल्याण भट्ट ने ही

---

[1] गुसाईं श्री विट्ठलनाथ जी के शिष्य। २५२ वार्ता, नं० २३३

लिखा था। इस प्रकार हम इन लेखों के सहारे यह मानते हैं कि ये वार्ताएं गोकुलनाथ जी ने नहीं लिखीं। पुष्टिमार्गीय गुरु तथा भक्त इन कथाओं को परंपरागत रूप मे सुनाते रहे। इस परंपरागत कथन में अवश्य ही कुछ प्रसंगों में घटा-बढ़ी हो गई होगी। इस का प्रमाण यह है कि इन वार्ताओं की भिन्न-भिन्न जगह की प्रति-लिपियों में दो प्रकार के वृत्तांत हमारे देखने मे आए हैं। हम ने गोकुल, मथुरा, कामबन आदि स्थानों में ८४ तथा २५२ वार्ता-ग्रंथ की अनेक प्रति-लिपियां देखी है। ८४ तथा २५२ वार्ताओं के अतिरिक्त 'आचार्य जी के मुख्य सेवक तथा गोसाई जी के मुख्य सेवक तिनकी वार्ता' नाम से भी ब्रज में प्राचीन ग्रथ ब्रजभाषा गद्य में लिखे मिलते है। उन में भी अष्टकवियों के दो प्रकार के वृत्तांत देखने में आते है। इस प्रकार हम यह जानते है कि इन ग्रंथों के चरित्रों मे अलौकिक भावों का भी आरोप अवश्य हुआ है।

जैसा कि हम पहले कह आए है वार्ता के चरित्रों के दो रूप देखने में आते है। एक प्रकार के ग्रथ में अष्टछाप कवियों का वही वृत्तांत दिया हुआ है जो डाकोर जी वाली प्रति के आधार पर छपी हुई ८४ तथा २५२ वैष्णवों की वार्ता अथवा डाक्टर धीरेंद्र वर्मा द्वारा संपादित 'अष्टछाप' नामक ग्रथ मे दिया हुआ है। दूसरे प्रकार के वृत्तांतो मे भक्तों के चरित्रों को अधिक विस्तार से और अधिक परिचय के साथ लिखा है। पहले प्रकार की वार्ताओं की बहुत पुरानी प्रतियां हमारे देखने में नहीं आई। दूसरे प्रकार की वार्ता की प्रतिलिपियां जिन की सख्या हमारे देखने मे अधिक आई, अधिक प्राचीन थीं। इन दो प्रकार के वृत्तांतों की विभिन्नता के बारे में हम ने वल्लभ-संप्रदायी आचार्यो तथा विशेषज्ञों से पूछा। ज्ञात हुआ कि एक प्रकार के वृत्तांत तो साधारण वृत्तांत है, और दूसरे प्रकार के वृत्तांत भाव की स्पष्टता के साथ है। जो 'भावना' सहित हैं उन मे से अधिक गोकुलनाथ जी के समय में जीवित वल्लभ-संप्रदायी भक्त हरिराम जी के है। वेंक्टेश्वर प्रेस से छपे सूरसागर की भूमिका में स्वर्गीय राधाकृष्णदास जी ने इस प्रकार की वार्ताओं को मूल वार्ताओं की टीका लिखा है। हरिराम जी का एक ग्रंथ 'भावप्रकाश' ब्रजभाषा, का कांकरौली विद्याविभाग की ओर से 'प्राचीनवार्ता-रहस्य' नामक ग्रंथ में प्रकाशित हो रहा है। हम ८४ और २५२ वार्ता के वृत्तांतों को बहुत अंश में प्रामाणिक मानते है। इस का प्रथम भाग प्रकाशित हो गया है। वेंक्टेश्वर प्रेस से छपी हुई वार्ता तथा डाक्टर धीरेंद्र वर्मा द्वारा संपादित 'अष्टछाप' मे दी हुई नंददास की जीवनी का भावार्थ हम खड़ी बोली में

देते हैं। इस के पाँच प्रसंग हैं। इस के अतिरिक्त उक्त वार्ता में 'रूपमंजरी' की वार्ता में भी नंददास का थोड़ा वृत्तांत दिया हुआ है।

प्रथम प्रसंग—नंददास जी तुलसीदास के छोटे भाई थे। उन को गाना सुनने और तमाशा देखने का बहुत शौक़ था। एक बार उन के दिल में रणछोर जी के दर्शनों के लिए द्वारका जाने की इच्छा हुई। उन्हों ने तुलसीदास से पूछा। तुलसीदास जी श्री रामचंद्र जी के अनन्य भक्त थे, इस से उन्हों ने नंददास को द्वारिका जाने से रोका। परंतु नंददास जी ने न माना और यात्रा को चल दिए। वे सीधे मथुरा पहुँचे। यहां से वे अपने साथियों को, जो उन के साथ द्वारिका जा रहे थे, छोड़ कर अकेले ही चल पड़े। चलते चलते वे द्वारिका का रास्ता भूल गए और कुरुक्षेत्र से आगे 'सीहनंद' नामक ग्राम में पहुँच गए। वहां एक क्षत्री साहूकार रहता था। नंददास जी उस के घर भिक्षा माँगने गए। उस साहूकार की स्त्री बहुत रूपवती थी। नंददास जी उस स्त्री पर मोहित हो गए। वे नित्य उस क्षत्राणी के मुख को देखने उस के घर जाते। बिना मुख देखे वे अपने स्थान पर वापिस नहीं आते थे। इस प्रकार उन्हें बहुत दिन व्यतीत हो गए। यह क्षत्री वैष्णव था। जब नंददास के इस मोह की चर्चा ग्राम में उस साहूकार की जाति बिरादरी में फैल गई तो साहूकार ने नंददास से बचने का उपाय सोचा। वह अपने परिवार सहित श्रीगोकुल-यात्रा को चल दिया। जब नंददास को इस बात की खबर लगी तो वह भी उन के पीछे पीछे लग दिए। ब्रज में पहुँच कर साहूकार तो सकुटुंब नाव द्वारा यमुना पार हो गया, परंतु नंददास दूसरे पार ही रह गए। साहूकार ने मल्लाहों से कहा कि इस ब्राह्मण (नंददास) को मत पार उतारो क्योंकि यह हमें बहुत दु:ख देता है। फलतः मल्लाहों ने नंददास को पार नहीं उतारा। साहूकार गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के पास पहुँचा। वहां गुसाईं जी ने अपने आत्मिक ज्ञान से जान लिया कि एक ब्राह्मण इस साहूकार के कहने से पार नहीं उतारा गया है। उन्हों ने साहूकार से कहा। और उन्हों ने एक आदमी भेज कर नंददास को बुलवा लिया। जब नंददास ने गुसाईं जी के दर्शन किए तो उन के ऊपर गुसाईं जी के व्यक्तित्व और रूप का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उन का मन उस साहूकार की स्त्री के रूप से छुट कर गोस्वामी जी के चरणारविंद में लग गया। नंददास के विनय करने पर गोस्वामी जी ने उन्हें नवनीत प्रिया जी (बालकृष्ण मूर्ति) के समक्ष 'नाम-निवेदन' कराया और अपने मार्ग में उन्हें ले लिया। नंददास जी गुसाईं जी के प्रभाव से कृष्णभक्ति में लवलीन हो

गए। तब उन्हों ने नवनीत प्रिया जी के समक्ष बाललीला के पद बना कर गाए। स्वामी जी के प्रभाव से इन के मन की वृत्ति ऐसी बदली कि साहूकार की स्त्री के निकट रहते और उसे नित्य देखते हुए भी उन का मन तनिक भी उस की ओर आकृष्ट न होता था।

दूसरा प्रसंग—गोस्वामी विट्ठलनाथ जी श्री द्वार जी (गोवर्धन पर्वत) गए। और नंददास को भी अपने साथ ले गए। वहां उन्हें श्री गोवर्धननाथ के दर्शन कराए। उस समय नंददास जी के हृदय में कृष्ण की किशोर लीलाओं की स्फूर्ति अधिक बढ़ी और वहां पर उन्हों ने बहुत से पद बना कर गाए। कभी नंददास जी गिरिराज ऊपर रहते और कभी श्रीगोकुल। उन को संसार से भारी विरक्ति हो गई थी। 'जिनकूं संसार ऐसो फीको लागतो, जैसे मनुष्य कूं उल्टी देख के बुरी लगे।' इस लिए वे अपनी जन्मभूमि भी नहीं जाते थे। श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य जी, श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ जी, गिरिराज जी, श्री यमुना जी और ब्रजभूमि बस इन्हीं में उन का मन लगा रहता था। ईश्वर के अन्य अवतारों के स्थानों में उन का मन नहीं लगता था। 'प्रभू के दूसरे अवतारन पर्यंत कोई ठिकानो उन को मन नहीं लागतो।'

तीसरा प्रसंग—नंददास जी ब्रज को छोड़ कर कहीं अन्यत्र नहीं जाते थे। उन के बड़े भाई तुलसीदास जी ने जो काशी में रहते थे, सुना कि नंददास जी गुसाईं जी के सेवक हो गए हैं। उन्हों ने नंददास जी को एक पत्र लिखा कि तुम रामचंद्र जी को पति मानते थे उस पतिव्रत-धर्म को छोड़ कर कृष्णभक्त क्यों हो गए हो। नंददास ने इस पत्र के उत्तर में लिखा कि श्री रामचंद्र जी तो एकपत्नी-व्रतधारी हैं सो बहुत सी पत्नियों को कैसे संभाल सकते हैं और श्रीकृष्ण तो अनंत अबलाओं के स्वामी हैं। उन की पत्नी होने पर किसी प्रकार का भय नहीं रहता। इस लिए मैं ने कृष्ण को पति बनाया है। तुलसीदास जी को इस पत्र के पढ़ने के बाद दृढ़ विश्वास हो गया कि नंददास का कृष्णप्रेम अटल हो गया है।

चौथा प्रसंग—एक दिन नंददास जी ने सोचा कि जैसे तुलसीदास जी ने रामायण भाषा में लिखी है, उसी प्रकार हम भी भागवत को भाषा में प्रकाशित करें। जब ब्राह्मणों ने सुना तो उन्हों ने गोस्वामी विट्ठलनाथ जी से प्रार्थना की कि नंददास जी भागवत भाषा में न लिखें, इस से उन की जीविका जाती रहेगी। गुसाईं जी की आज्ञा से नंददास जी ने

भागवत भाषा में लिखना छोड़ दिया[1]।

पाँचवां प्रसंग—एक समय नंददास जी के बड़े भाई तुलसीदास जी उन से मिलने के लिए काशी से मथुरा आए। वे वहां से श्री गिरिराज जी गए। गिरिराज पर दोनों भाई मिले। तुलसीदास जी ने उन से अयोध्या, काशी, चित्रकूट, दंडकारण्य जहां रुचे वहां चलने को कहा। परंतु नंददास का मन तो ब्रज में रमा हुआ था। उन्हों ने जाने से इन्कार कर दिया। तुलसीदास जी ने नंददास से यह भी कहा कि वे श्री रामचंद्र जी का भजन करें। नंददास ने एक पद में उत्तर दिया :

कृष्ण नाम जब तें मैं श्रवण सुन्योरी आली,
भूली री भवन हों तो बावरी भई री।
भर भर आवें नैन, चितहूं न परै चैन
मुखहूं न आवै बैन, तन की दशा कछु औरै भई री।
जेतिक नेम धर्म व्रत कीने री मैं,
बहु विधि अंगो अंग भई मैं तो श्रवण भई री।
नंददास प्रभु जाके श्रवण सुने यह गति
माधुरी मूरत कै धौं कैसी दई री॥

यह उत्तर सुन कर तुलसीदास चुप हो गए। एक दिन नंददास जी श्रीनाथ जी के दर्शन को गए। उन के साथ महात्मा तुलसीदास जी भी गए। जब गोवर्धननाथ जी के दर्शन किए तो तुलसीदास जी ने उन के समक्ष सिर न नवाया। नंददास जी जान गए कि ये राम के सिवाय और किसी को नहीं नमते हैं। नंददास ने श्री गोवर्धननाथ जी से विनती की—

आज की शोभा कहा कहूं, भले विराजे नाथ,
तुलसी मस्तक जब नमें धनुष बान लेउ हाथ।

---

[1] अलीगढ़ निवासी स्वर्गीय पंडित मयाशंकर याज्ञिक के संग्रहालय में नंददास-कृत दशमस्कंध भागवत की एक हस्तलिखित प्राचीन प्रति है। पंडित जवाहरलाल चतुर्वेदी, मथुरा, के पास भी इस की एक प्रति है। अमृतसर से श्री कर्मचंद्र गुल्लानी ने दशम स्कंध भागवत नंददास-कृत छापी है। ये सब प्रतियां रासलीला तक ही मिलती हैं।

यह विनती सुन कर श्री गोवर्धननाथ जी ने राम-रूप धारण किया। तब तुलसीदास ने दंडवत की। वहां से लौट कर दोनों भाइयों ने गोकुल में श्री गुसाईं जी श्री विट्ठलनाथ जी के दर्शन किए। वहां भी विट्ठलनाथ जी के ज्येष्ठ पुत्र रघुनाथ जी और उन की धर्मपत्नी जानकी जी के, जिन का विवाह हुए थोड़े ही दिवस हुए थे, तुलसीदास जी ने राम-जानकी रूप में दर्शन किए। इस के बाद तुलसीदास जी अपने देश को लौट गए। नंददास जी ब्रज में ही रहते रहे।

इस वार्ता से नंददास के संबंध में निम्न-लिखित बातें ज्ञात होती हैं :—

१. नंददास जी गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के समकालीन और उन के शिष्य थे।

२. वे कृष्ण के अनन्य भक्त थे।

३. वल्लभ-संप्रदाय में आने से पहले वे रामभक्त भी थे।

४. वल्लभ-संप्रदाय में आने से पहले वे गोकुल-गोवर्धन में नहीं रहते थे कहीं अन्यत्र उन का स्थान था।

५. वे जाति के ब्राह्मण थे, और सौंदर्य-प्रेमी थे।

६. 'रामचरितमानस' के रचयिता और राम के अनन्य भक्त महात्मा तुलसीदास के वे छोटे भाई थे।

७. नंददास ने संपूर्ण भागवत भाषा में लिखना चाहा परंतु अपने गुरु गोस्वामी विट्ठलनाथ जी की आज्ञा से उन्हों ने उस का लिखना बंद कर दिया।

८. नंददास जी एक उच्चकोटि के गवैये थे और श्रीनाथ जी के समक्ष कीर्तन किया करते थे।

९. उन्हों ने बाललीला के बहुत से पदों की रचना की थी।

१०. उन के बड़े भाई तुलसीदास जी ने, जो काशी में रहते थे, (जिन को अयोध्या, काशी, चित्रकूट और दंडकारण्य स्थान बहुत प्रिय थे) नंददास को एक बार काशी से एक पत्र लिखा था।

११. एक बार तुलसीदास अपने छोटे भाई नंददास से मिलने के लिए ब्रज में आए थे।

'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' की सब से पुरानी प्रति कामबन में है। दाऊ जी के मंदिर, मथुरा में 'गुसाईं जी के मुख्य सेवक हते तिन की वार्ता' नामक एक ग्रंथ

श्री गोवर्धनदास भगवदीय के पास है। यह प्रतिलिपि लगभग ८० वर्ष पुरानी है। '२५२ वार्ता' की एक प्रति मथुरा में है तथा एक प्रति गोकुल में आचार्य जी की बैठकों में रक्खी है। इन के अतिरिक्त गोकुल में हम ने अनेक सज्जनों के यहां '२५२ वार्ता' की पाँच-छै प्रतियां देखीं और उन में नंददास जी का वृत्तांत पढ़ा। भाषा की अशुद्धियों की विभिन्नता को छोड़ कर उपर्युक्त सभी वार्ताओं में एक-सा ही वृत्तांत दिया हुआ था। ज्ञात होता है कि ये वार्ताएं 'भावना' सहित वाली हैं। उस वृत्तांत का आशय हम नीचे देते हैं। इस वार्ता में नंददास विषयक छः प्रसंग हैं।

अथ श्री गुसाईं जी के सेवक नंददास सनौढिया ब्राह्मण तिन की वार्ता। तिन के पद गाईयत हैं।

वार्ता १. वे नंददास पूर्व[1] में रहते थे। ये दो भाई थे, बड़े तुलसीदास और छोटे नंददास। तुलसीदास रामानंदी थे, उन्हीं के प्रभाव से नंददास भी रामानंद-संप्रदायी हो गए थे। नंददास को लौकिक विषयों से विशेष आसक्ति थी। नाच-तमाशे देखने और वेश्या-गान सुनने वे बहुत जाते थे। तुलसीदास के उपदेश का उन पर कुछ भी असर न होता था। कुछ समय बाद एक संग रणछोर जी (द्वारिका जी) के दर्शन को चला। नंददास ने भी उस के साथ जाने की तुलसीदास से आज्ञा माँगी। पहले तो तुलसीदास ने समझाया, पर फिर उन के आग्रह को देख कर उन्हें संग के मुखिया के सुपुर्द कर दिया। वह संग चल कर मथुरा आया। यहां संग का विचार कुछ दिन ठहरने का हुआ। नंददास का भी मन वहां बहुत लगा और उन्हों ने वहां अधिक समय तक रहने का विचार किया। परंतु साथ ही रणछोर जी के दर्शन की उत्सुकता होने के कारण उन्हें संग का ठहरना अच्छा न लगा। उन्हों ने विचारा कि पहले जल्दी से रणछोर जी हो आवें फिर मथुरा में निश्चित रूप से रहेंगे। इस विचार से वे उस संग को छोड़ अकेले ही रणछोर जी को चल दिए। परंतु मार्ग भूल जाने पर 'सीहनंद' नामक एक गाँव में जा निकले। उस गाँव में एक वैष्णव क्षत्री रहता था। नंददास जब उस के घर की ओर से निकले तब उस की स्त्री नहा करके बाल सुखा रही थी। यद्यपि नंददास ने उस को केवल पीछे ही से देखा पर फिर भी वे उस पर मोहित हो गए। उन्हों ने निश्चय किया कि इस स्त्री की पीठ तो

[1] **मथुरा-गोकुल से सोरों ठीक पूर्व में है।**

देखी है पर अब जब इस का मुख देख लूँगा तभी जलपान करूँगा। यह सोच कर नंददास उस क्षत्राणी के द्वार पर खड़े हो गए। संध्या से रात्रि हुई पर मुग्ध नंददास उस क्षत्राणी के मुख की एक झलक के लिए रात्रि भर वहीं खड़े रहे। दूसरे दिन भी खड़े-खड़े उन्हें तीसरा पहर हो गया। पर उस क्षत्राणी के मुख को न देख पाए। उन को सवेरे से खड़ा देख कर घर की लौंडी ने खड़े होने का कारण पूछा। नंददास ने निष्कपट रूप से कह दिया कि जब तुम्हारी बहू का मुँह देख लूँगा तभी अन्न-जल ग्रहण करूँगा। यह बात उस लौंडी ने अपनी बहू जी से जा कर कही। पहले तो उसे क्रोध आया पर जब नंददास को खड़े-खड़े शाम हो गई, और लौंडी ने समझाया तब वह अपने बारजे में आई और नंददास उस को देख कर चले गए। दूसरे दिन प्रातःकाल ही नंददास उस के द्वार पर फिर पहुँच गए और उस को घर से निकलते देख कर लौट गए। इस प्रकार नंददास प्रति दिवस उस क्षत्राणी को एक बार देख आते। उन के प्रति दिन जाने से यह बात उस स्त्री के पति को मालूम हुई। उस ने नंददास को रोका और कहा कि तुम्हारे इस व्यवहार से हमारी हँसी होती है। पर नंददास ने कहा मैं किसी से कुछ कहता नहीं, माँगता नहीं, केवल दिन में एक बार हो जाता हूं। अधिक कहने पर उन्हों ने कहा कि मै यहां प्राण तज दूँगा और तुम्हें ब्रह्महत्या का पाप पड़ेगा। अस्तु, वह क्षत्री नंददास को उन के हठ से न हटा सका। जब यह बात सब गाँव में फैल गई तो हार कर उन लोगों ने उस गाँव को छोड़ना ही निश्चय किया और चुपचाप घर, तथा अन्य वस्तुएं बेच दी और तय किया कि अब गोकुल जाकर रहेंगे। एक दिन जब प्रातःकाल नंददास उस बहू को देख कर लौट गए, उस के बाद वह क्षत्री अपनी बेटा-बहू, लौंडी तथा नौकरों को लेकर चुपचाप ही गाड़ी पर चल दिया। दूसरे दिन जब नंददास वहां पहुँचे तो ताला लगा देखा। तब पड़ोसी से पूछा और सब वृत्तांत सुन कर ये भी गोकुल को चल दिए, और चलते-चलते उस क्षत्री के पास पहुँच गए। उस के बहुत लड़ने-झगड़ने पर भी नहीं माने और पीछे-पीछे चलते गए। ऐसे ही वे लोग गोकुल से एक कोस दूर एक गाँव में पहुँचे। इस गाँव और गोकुल के बीच में यमुना जी बहती हैं। यहां वह क्षत्री स्वयं तो सकुटुंब पार उतर गया, पर मल्लाहों को कुछ द्रव्य देकर उन्हें नंददास को पार उतारने से रोक दिया। वे लोग गोकुल में श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के दर्शन को गए और नंददास यमुना के किनारे बैठ यमुना-स्तुति के पद गाने लगे।

राग रामकली। ताल चर्चरी

नेह कारन श्री जमुने प्रथम आई।
भक्त के चित्त की वृत्ति सब जानही ताही ते अति आतुर जो धाई।
जेसी जाके मन हती अब इच्छा ताहि तेंसी साध जो पुराई।
'नंददास' प्रभू नाथ ताही पर रीझत जो श्री यमुना जू के गुन गाई।

राग रामकली

यमुने यमुने जो गावों।
सेस सहस मुख गावत ताही निस दिन पार न पावें।
सकल सुख देनहार ताते करों हों ऊचार कहत हों बार बार भूलि जिन जावों।
'नंददास' की आस पूरन यमुने करी ताते कहों घरी घरी चित लावों॥

राग रामकली

भक्त पर करि कृपा श्री यमुने ऐसी।
छांड़ि निज धाम विश्राम भूतल की यों प्रगट लीला दिखाई जु तेंसी॥१॥
परम परमारथ करत हें सबन पे रूप अद्भुत देत आप तें सी।
नंददासनि जानि जी दृढ़ करि चरण ग्रहे एक रसना कहा कहूं बिसेषी।

उधर जब वह क्षत्री अपने बेटा-बहू के संग श्री गोस्वामी जी के दर्शन को पहुँचा तो, गोस्वामी जी ने राग-भोग के बाद इन के लिए प्रसाद की चार पत्तलें धरवाईं। उस क्षत्री ने कहा महाराज हम तो तीन ही जने हैं, चौथी पत्तल किस के लिए। तब गोस्वामी जी ने उत्तर दिया कि यह उस ब्राह्मण के लिए है जिसे तुम यमुना पार छोड़ आए हो। इस पर वे लोग बहुत लज्जित हुए और सोचा कि यहां भी इस क्लेश से मुक्ति नहीं मिली। तब गोस्वामी जी ने धैर्य दिया और कहा वह ब्राह्मण अब तुम को दुःख नहीं देगा। फिर एक सेवक को नाव पर भेज कर उन्हों ने नंददास को बुलवा लिया। गोस्वामी जी के कोटि कंदर्प लावण्यरूप के दर्शन करते ही नंददास का मोह छूट गया और उन्हों ने विनती की, "जो महाराज जब तें गुलाम को जनम भयो हैं और जब ते कछू सुधि भई है तब ते महा बुरी जो कृत कहीयें, बिसेख कर में ने किए हैं। और विसें (विषयवासना) में तनमय ही रह्यो हूं। और आप तों परम कृपाल हों। मो पर कृपा करि कें अपनी सरन राखीयें।" गोस्वामी जी ने, नंददास को यमुना-स्नान करा के नाम-निवेदन करवाया (इष्ट मंत्र दिया)।

नंददास का मोह तो छूट ही चुका था, इष्ट मंत्र मिलते ही उन के हृदय में अपूर्व भक्ति का संचार हुआ और उन्हों ने (मोह भंग करने वाले तथा भावना के संसार में लाने वाले) गोस्वामी जी की स्तुति के पद गाए।

राग सारंग

जयति रुक्मिनी[1] नाथ पद्मावती[2] प्राणपति विप्रकुल छत्र आनंदकारी।
दीप वल्लभ वंस जगत निस्तम करन कोट उडराज सम ताप हारी।
जयति भक्त पतित पावन करन कामीजन कामना पूरन चारी।
मुक्ति कांक्षीय जन भक्ति दायक प्रभू सकल सामर्थ गुन गनिन भारी।
जयति सकल तीरथ फल नाम सुमिरण मात्र वास व्रज नित्य गोकुल बिहारी।
नंददासनि नाथ पिता गिरधर आदि प्रगट अवतार गिरराज धारी।

नंददास की पद-रचना से गोस्वामी जी बहुत प्रसन्न हुए। फिर जब नंददास महाप्रसाद पाने बैठे तो तन्मय हो गए और भगवान की लीलाओं का अनुभव करते हुए रात भर बैठे रहे। सवेरे गोस्वामी जी ने आकर कहा कि 'नंददास उठो दर्शन का समय हुआ है।' तब नंददास की तन्मयता का अंत हुआ और संज्ञा आई। उन्हों ने तुरंत ही गोस्वामी जी को साष्टांग प्रणाम करके उन की वंदना के ये पद गाए।

राग विभास

प्रात समें श्री वल्लभ सुत कों उठतहि रसना लीजें नाम।
आनंदकारी प्रभु मंगलकारी असुभ-हरन जन पूरन काम॥
यही लोक परलोक के बंधू को कहि सकें तिहारे गुनग्राम।
'नंददास' प्रभु रसिक सिरोमनि राज करों श्री गोकुल धाम॥

राग विभास

प्रात समें श्री वल्लभ सुत को पुण्य पवित्र विमल जस गाऊं।
सुंदर बदन सुभग गिरधर कों निरषि निरषि दोउ दृगन सिराऊं॥

---

[1] विट्ठलनाथ जी की प्रथम स्त्री।

[2] विट्ठलनाथ जी की द्वितीय स्त्री जिस का विवाह संवत् १६२० में हुआ।

मोहन वचन मधुर श्रीमुख के श्रवणन सुनि सुनि हृदे बसाऊं।
तन मन प्रान निवेदन विधि यह आपुन पों सुफल कराऊं॥
रहों सदा चरणन के आगे महाप्रसाद ऊच्छिष्ट सो पाऊं।
'नंददास' यह मांगत हों श्री वल्लभ सुत को दास कहाऊं॥

तब से नंददास पूर्ण वल्लभ-संप्रदायी हो गए और गोस्वामी जी के संसर्ग में रहते हुए भक्ति के पद गाते रहे। श्री नवनीत प्रिया के दर्शन के बाद उन्होंने निम्न-लिखित पद गाया था :—

राग विलावल

बाल गोपाल ललन कों मोद भरि जसुमति हुलरावति।
मुख चुंबत देखत सुंदर तन आनंद भरि भरि गावति।
कबहूं पलना मेलि झुलावति कबहूं अस्तन पान करावति ।
'नंददास' प्रभु गिरधर कों रानी निरषि निरषि सुख पावति।

वार्ता २. कुछ समय पश्चात् गोस्वामी जी श्रीनाथ जी के दर्शन को गोवर्धन पर गए और साथ में नंददास को भी ले गए। वहां श्रीनाथ जी के दर्शनों के उपरांत नंददास ने कुछ पद गाए, जिन में से कुछ नीचे दिए जाते हैं :

राग नट

सोंहत सुरंग दुरंग पाग कुरंग लला के से लोइन लोने।
कपोल विलोकन में झलकें कल कंचन कुंडल कानन कोंने॥
रंग रंगीले के अंग सबें रंगे रंग भरे एसे भये न होने।
'नंददास' सखी मेरी कहा चलों कांम को आहट टावक टोने॥

राग गोंरी

बनते सखन संग गाइन के पाछें पाछें आवत मोहन लाल कन्हाई।
गोरज छुरित अलिकन की छवि मोहिय छवि वरनत वरनी न जाई॥
पीत वसन कटि सोहें, किंकिनी की धुनि मोहे, तामें पुनि मधुर मधुर मुरली के शब्द सुहाई।
'नंददास' प्रभु अंचल सों जसुमति बदन पोंछ कर मुख चुंबत मुसक्याई॥

राग गोंरी

बन ते आवत गावत गोंरी।

हाथ लकुटिया गाइन के पाछें ढोटा जसुमति कों री ।।
मुरली अधर धरें मन मोहन मानों लगी ठगोरी ।
या ही तें कुल कान हरी हें ओढ़ें पीत पिछोरी ।।
ब्रज की बधू अटन चढ़ि निरखत रूप देखि भई बोरी ।
'नंददास' जिन हरि मुख निरख्यो तिनको भाग बडोरी ।।

राग गोंरी

देखि सखी हरि कों वदन सरोज ।
प्रफुलित वदन सुधारस में लुब्ध मधुप मनोज ।।
गोरज छुरित पराग रह्यो फबि सुंदर अधर सुकोस ।
'नंददास' नासा मुक्ता मानों रही एक कण ओस ।।

राग गोंरी

घर नंद महेंरि के मिस ही मिस आवें गोकुल की नारी ।
सुंदर वदन बिनु देखें कल न परत भूल्यो धांम कांम आछो वदन निहारी ।।
दीपक लें चली वर वाट में वडों करि डारि फिर आवें छवि सों आरि को देह गारी।
'नंददास' नंदलाल सो लागे हें नेंना पलक ओट मानो बीते जुग चारी ।।

इस प्रकार से भजन करते और पद गाते हुए नंददास प्रायः एक महीना श्रीनाथ जी द्वार में रहे और एक महीना गोकुल में ।

वार्ता ३. इसी समय में एक संग गोकुल से जगन्नाथपुरी को चला । मार्ग में यह संग काशी में ठहरा । इस संग से पूछने पर तुलसीदास को पता चला कि एक नंददास जिस का मन पहले विषय-वासना में बहुत लगता था, अब गोस्वामी जी का शिष्य हो गया है और वह पढ़ा बहुत है । तुलसीदास ने अनुमान किया 'यही मेरा भाई नंददास है ।' उन्हें यह जान कर प्रसन्नता हुई कि गोस्वामी जी की कृपा से नंददास का मन लौकिक बातों से हट कर पारलौकिक बातों में लग गया है । तुलसीदास ने फिर एक पत्र में नंददास से कृष्णभक्त होने का कारण पूछा और रामभक्ति का उपदेश देने के लिए अपने पास बुलाया । परंतु नंददास ने उत्तर दिया आप ने पहले तो मेरा विवाह श्री रामचंद्र जी ही से किया था पर अनेक अबलाओं के स्वामी सर्वशक्तिमान श्रीकृष्ण ने आकर मुझे लूट लिया । अब तो मैं तन मन धन से कृष्ण का भक्त हूं। और साथ ही निम्न-लिखित पद भी लिखा:—

राग आसावरी

कृष्ण नाम जब तें सुन्यों श्रवणन तब तें भूली भवन हों तो बावरी भई री ।
भरि आवें नैन चित न रंचिक चैन मुख हूं न आवें बैन तन की दसा कछू औरै भई री ॥
जितेक नेम धर्म में कीने री वोहों विधि अंग अंग भई श्रवण मई री ।
'नंददास' जाके श्रवण सुने यह गति माधुरी मूरति हूं धों कैसी दई री ॥

तुलसीदास को यह पढ़ कर निश्चय हो गया कि नंददास इधर नहीं आएगा। नंददास की भक्ति गोस्वामी विट्ठलनाथ जी में इतनी दृढ़ हो गई थी कि वे ब्रज को छोड़ कर कहीं नहीं जाते थे ।

वार्ता ४. नंददास ने संपूर्ण दसम स्कंध भागवत की लीला भाषा छंदों में गाई । यह जान कर मथुरा के कथावाचक पौराणिक ब्राह्मणों ने गोस्वामी जी से विनती की कि 'इस भाषा भागवत से तो हमारी जीविका चली जायगी ।' तब नंददास ने गोस्वामी जी की आज्ञा से—'रासलीला' तक का ग्रंथ छोड़ कर बाक़ी सब ग्रंथ यमुना में पधरा दिया। अस्तु, परमभक्त नंददास गोस्वामी की आज्ञा का पूर्ण पालन करते थे ।

वार्ता ५. एक बार जब नंददास गोस्वामी जी के साथ श्रीनाथ जी द्वार में थे, तब तुलसीदास भी गोकुल होकर वहां आए। वहां वे नंददास से गोविंद कुंड पर मिले, और कहा कि तुम मेरे साथ चलो और अयोध्या, काशी या चित्रकूट जहां मन लगे वहां रहो ! तब नंददास ने उत्तर में यह पद गाया।

राग सारंग

जो गिरि रुचें तो वसों श्री गोवर्धन, गाम रुचे तो बसो नंद गांम ।
नगर रुचें तो बसो श्री मधुपुरी सोभा सागर अति अभिराम ॥
सरिता रुचें तो बसो श्री जमुनातट सकल मनोरथ पूरन काम ।
'नंददास' कानन रुचि बसबो सिखर भूमि श्री वृंदावन धाम ॥

तुलसीदास ने गोस्वामी जी से भी नंददास की विषयासक्ति छूट जाने और भक्त होने का कारण पूछा। तब उन्हों ने उत्तर दिया कि नंददास पहले ही से उत्तम पात्र था। पुष्टिमार्ग में आने से इस की व्यसनी अवस्था सिद्ध अवस्था में बदल गई है और अब यह दृढ़ हो गई है ।

वार्ता ६. एक समय बादशाह अकबर, बीरबल सहित मथुरा-गोकुल आए, और उन्हों ने मानसी गंगा के पास डेरा किया। वहां से बीरबल गोस्वामी जी के दर्शन को श्रीनाथ जी गए। वहां नंददास को बीरबल से मालूम हुआ कि अकबर ने मानसी गंगा पर डेरा किया है। अकबर की एक लौंडी वैष्णव थी। नंददास की उस से बहुत मित्रता थी, अस्तु वे (नंददास) मिलने मानसी गंगा पर आए, और उस को एक वृक्ष के नीचे रसोई करते पाया तब उन्हों ने यह पद गाया :—

राग टोडी

चित्र सराहत गोपी बहुत सयानी।
एक टक में झुक वदन निहारत पलक न मारत जान गई नंद रानी ॥
पर गये परदा ललित तिवारी कंचन थार जब आंनी।
'नंददास' प्रभू भोजन घर में ऊपर कर धरचो वे उतते मुसिक्यानीं ॥

उन दोनों ने परस्पर भगवद्चर्चा करते रात्रि व्यतीत की। उस वैष्णव लौंडी ने नंददास से यह भी कहा कि मानसी गंगा अति उत्तम स्थान है और अब हम दोनों यहीं साथ-साथ रहें। पर नंददास ने कहा कि अब इन आँखों से लौकिक देखना अच्छा नहीं है। प्रातःकाल नंददास श्रीनाथ जी लौट आए।

उसी रात को तानसेन ने अकबर के सामने नंददास का यह पद गाया :—

राग केदारो

देखो देखोरी नागर नट निर्तत कालिंदी के तट,
गोपिन मध्य राजे मुकट-लटक।
काछनी, किंकिनी कटि पीतांबर की चटक,
कुंडल किरन में रवि रथ की अटक।
ताथेई ताथेई सब्द सकल उघटत,
उरप तिरप मांनो पद की पटक।
रास में श्री राधे राधे, मुरली में याही रट,
'नंददास' जहां गावे निपट निकट।

यह पद सुन कर अकबर ने नंददास को बीरबल द्वारा बुलवाया और पूछा कि आप ने इस पद में गाया है कि 'नंददास जहां गावे निपट निकट', तो आप रास के निकट कैसे

पहुँचे ? नंददास ने कहा आप अपनी अमुक लौंडी (जो नंददास की मित्र थी) से पूछिए। बादशाह ने ड़ेरा में जाकर उस से पूछा। वह बादशाह का प्रश्न सुनते ही मूर्च्छित होकर गिरी और उस के प्राण छूट गए। इधर नंददास जी का भी देहावसान हो गया। यह देख कर अकबर को बड़ा आश्चर्य हुआ। जब गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ जी को यह समाचार मिला तो उन्हों ने दोनों वैष्णवों की बड़ी सराहना की।

इस वृत्तांत में वेंक्टेश्वर प्रेस से छपी वार्ता से कुछ अधिक सूचना मिलती है।

१. नंददास और तुलसीदास सनाढ्य ब्राह्मण थे।

२. वल्लभ-संप्रदाय में आने के पहले नंददास भी तुलसीदास की तरह राम के उपासक थे और श्री रामानंद जी के संप्रदाय के शिष्य थे।

३. नंददास की वल्लभ-संप्रदाय में आने से पहले लौकिक विषयों में बहुत आसक्ति थी।

४. नंददास जी वल्लभ-संप्रदाय में आने से पहले ही पद-रचना करते थे।

५. नंददास ने अपना संपूर्ण भागवत भाषा ग्रंथ यमुना जी में नहीं बहाया। रासलीला तक का दशम स्कंध रख लिया।

६. इस वार्ता में नंददास की भक्ति की अनन्यता का अधिक परिचय मिलता है।

छपी वार्ता के छूटे हुए प्रसंग ये हैं।

१. तुलसीदास के सामने कृष्ण के धनुर्धारी वेश-धारण की कथा।

२. विट्ठलनाथ जी के पुत्र रघुनाथ जी तथा रघुनाथ जी की स्त्री जानकी का राम-जानकी रूप में तुलसीदास को दर्शन देने की कथा।

नंददास की मृत्यु की कथा छपी वार्ता में रूपमंजरी के प्रसंग मे दी है। हमारी देखी हुई हस्तलिखित वार्ताओं में नंददास की मृत्यु की वार्ता छठे प्रसंग में दी हुई है।

इन दोनों वार्ताओं में यह नहीं बताया कि नंददास अष्टछाप में गिने जाते थे। उन के विषय में कोई तिथि, उन के माता, पिता, जन्मस्थान आदि के विषय में कोई उल्लेख नही है। छपी वार्ता के पृष्ठ ४६१ पर श्रीनाथ जी की एक सेविका रूपमंजरी का वृत्तांत दिया हुआ है, यह हम ने पीछे कहा है। उस में लिखा है कि रूपमंजरी से नंददास की मित्रता थी और उन की मृत्यु दिल्ली के बादशाह अकबर के सामने हुई थी। इस वार्ता का भी भावार्थ हम नीचे देते हैं :—

'रूपमंजरी हिंदूराज की बेटी थी, और अकबर बादशाह को व्याही थी। वह बहुत सुंदरी थी, परंतु अकबर को अपना अंग स्पर्श नहीं करने देती थी। वह कृष्ण की भक्तिन थी, और वह नित्य नंददास जी से मिलने आया करती थी। एक बार किसी गायक ने नंददास का एक पद अकबर के सामने सुनाया। अकबर बादशाह उस पद पर मुग्ध हो गए, और नंददास से मिलने के लिए गोपालपुर के निकट मानसी गंगा पर आए। उस स्थान पर नंददास जी बादशाह से मिले। बादशाह ने पूछा कि तुम ने अमुक पद प्रभु के निकट बैठ कर कैसे गाया, उसे फिर सुनाओ। नंददास जी ने विचार किया कि अन्य मार्गीय से कैसे बात की जाय। नंददास जी ने ऊपर को देखा और देह छोड़ दी। बादशाह के साथ रूपमंजरी भी थी। राजा को बड़ी खिन्नता हुई। रूपमंजरी के पास आया और उस को सब वृत्तांत सुनाया। रूपमंजरी ने जब नंददास की मृत्यु के बारे में सुना तब उसे बड़ा दुःख हुआ। उस ने भी अपनी वहीं देह छोड़ दी।'

इस कथा से ज्ञात होता है कि नंददास की मृत्यु अकबर के सामने हुई थी। और रूपमंजरी नामक एक स्त्री से उन का प्रेम था, और वह स्त्री कृष्ण की उपासिका थी। 'गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' में भी पृष्ठ ४६ पर नंददास जी और रूपमंजरी का उल्लेख है। उस से यह ज्ञात होता है कि नंददास जी तथा श्रीनाथ जी की सेविका रूप-मंजरी का साथ था। रूपमंजरी की कथा को लेकर नंददास ने 'रूपमंजरी' नामक एक ग्रंथ की रचना भी की है। जिस में उन्हों ने अपने को रूपमंजरी की सहेली कहा है। हम इसी रूपमंजरी को नंददास का 'मित्र' कह सकते है, जिस का उन्हों ने अपने ग्रंथों में कई स्थानों पर उल्लेख किया है।

४. **'रत्नावली-चरित', कवि मुरलीधर-कृत** :—मुरलीधर चतुर्वेदी सोरों, ज़िला एटा में एक कवि हो गए हैं। इन के लिखे दो ग्रंथ सोरों में मिले हैं। एक 'रत्नावली-चरित' और दूसरा 'बारहसेनी जातिवृक्ष'। 'रत्नावली-चरित'[1] का रचनाकाल कवि मुरलीधर ने संवत् १८२९ दिया है। हिंदी साहित्य के इतिहासकारों ने जिस मुरलीधर कवि का वृत्तांत दिया है, उन से यह भिन्न हैं। साहित्य के इतिहासों में दिए हुए कवि मुरलीधर अथवा श्रीधर का समय संवत् १७६७ है, और निवास-स्थान प्रयाग है। उस

---

[1] **इस की प्रामाणिकता पर हम अक्तूबर १९३९ की 'हिंदुस्तानी' में लिख चुके हैं।**

के रचित ग्रंथों का विषय नायिका-भेद, कृष्णलीला गान आदि है। प्रस्तुत ग्रंथ के रचयिता मुरलीधर का उल्लेख हिंदी साहित्य के इतिहास में नहीं हुआ है। 'रत्नावली-चरित' की एक प्रतिलिपि तथा एक मूल प्रति स्वयं मुरलीधर के हाथ की लिखी पंडित गोविंद-वल्लभ भट्ट सोरों के पास है। प्रतिलिपि संवत् १८६४ विक्रमी की है। मुरलीधर के शिष्य रामवल्लभ मिश्र ने नकल की है। जो मुरलीधर मिश्र के हाथ की लिखी है, वह संवत् १८२९ विक्रमी की है। कवि ने ग्रंथरचना-काल यानी १८२९ संवत् में अपनी आयु ८० वर्ष की दी है। मैं ने दो बार सोरों जाकर इन ग्रंथों का अवलोकन किया है। मुझे ग्रंथ प्रामाणिक जान पड़े हैं। 'रत्नावली-चरित' और 'बारह-सेनी जातिवृक्ष' में कवि मुरलीधर ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है :—

विपुल सिद्ध मुनि वृद्ध संतजन वृंद बसत जहं।
श्री हरिवदन प्रसूत हरिपदी लोल लसत जहं॥
तासु कूल सोपान सेवि नयनाभिराम जहं।
भक्ति ज्ञान वैराग्य पुंज बाराह धाम जहं॥
बहु पुन्यन सों पाइयत दरस क्षेत्र बाराह महि।
केतिक पुन्यन फल लह्यों द्विज मुरली जहं जनम गहि॥

('रत्नावली-चरित')

सुष दुख बीते असी लगे मुरली इक्यासी।
बसत सौकरव पास कटे बंधन चौरासी॥
दीठि भई अब मंद ढुरत सिर कँपत कछुक कर।
तदपि न मानत लिखन, कहत मन कविता सुंदर॥
सो अब कस बानक बनहि मन बहलावन करि रहे।
जिमि जन बिन दसनन चनक पोसि पोसि मुष भरि रहे॥

('रत्नावली-चरित')

स्वहस्तलिखित प्रति में कवि ने कृष्णदास-कृत—'कृष्णदास-वंशावली'; वर्ष-पत्रिका बनाने के चार छप्पय, और अपना वर्षपत्र दिया है।

'बारहसेनी जातिवृक्ष' में कवि मुरलीधर कहता है :—

चतुरवेद मुरलीधर सुनाम, संतति सनाढ्य तव वेद धाम।
हों रहहुं सु सूकर खेत गाम, प्रभु बराह पद पावन ललाम॥

कवि ने अपनी इस ग्रंथ की सामग्री का आधार जनश्रुति माना है। वह कहता है कि:—

नवकर बसु भू विक्रमीय, सूकर तीरथ वंदनीय।
सांध्वी रतनावलि कहानि, बिरधन मुख जस परी जानि।
द्विज मुरलीधर चतुरवेद, लिखि प्रगटो जगहित सभेद।

इस ग्रंथ में रत्नावली और उस के पति महात्मा तुलसीदास के चरित्रों का वर्णन है। तुलसीदास के वैराग्य लेने के बाद का चरित्र इस में नहीं है। बीच-बीच में नंददास जी के बारे में भी उल्लेख हैं। वास्तव में महात्मा तुलसीदास और नंददास जी के प्रारंभिक जीवन के आधारभूत ग्रंथों में यह ग्रंथ बड़े महत्व का है। इस से इन कवियों की जीवनियों पर जो अब तक अंधकार में थीं एक नवीन प्रकाश पड़ा है। इस ग्रंथ की तथा इस के साथ मिले हुए दो और ग्रंथों की खोज से पहले हिंदी के विद्वान् 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के इस कथन को कि तुलसीदास और नंददास भाई-भाई थे, सत्य नहीं मानते थे। उन का कहना था कि नंददास और तुलसीदास गुरुभाई थे, वे सगे अथवा चचेरे भाई नहीं थे। इस ग्रंथ में बताया है कि नंददास और तुलसीदास दोनों चचेरे भाई थे, और गुरुभाई भी थे। इस ग्रंथ में तुलसीदास और नंददास के विषय में निम्नलिखित चरित्र दिया है—

'गोस्वामी तुलसीदास सोरों ज़िला एटा के निवासी पंडित आत्माराम के पुत्र थे। वे जाति के आस्पदधारी सनाढ्य ब्राह्मण थे। नंददास उन के चचेरे भाई थे। तुलसीदास और नंददास दोनों नृसिंह जी से विद्या पढ़ा करते थे। गुरु नृसिंह जी उन के सजातीय स्मार्त वैष्णव थे, जिन की सोरों में चक्रतीर्थ के निकट पाठशाला थी। तुलसी की माता का नाम हुलसी था। तुलसीदास के माता-पिता उन की बहुत छोटी अवस्था में ही परलोकवासी हो गए थे। उन की दादी ने उन्हें बड़े कष्ट और ग़रीबी में पाला। उन के चचेरे भाई नंददास और चंद्रहास सोरों के निकट रामपुर गाँव में रहते थे। आगे इस ग्रंथ में रत्नावली और तुलसीदास का चरित्र लिखा है। तुलसीदास के वैराग्य लेने पर रत्नावली कभी अपने मायके में रहती थी और कभी नंददास के घर रहती थी। इस ग्रंथ से यह भी

पता चलता है कि नंददास के पिता का भी देहांत उन के पढ़ते समय सोरो में ही हो गया था, क्योंकि रत्नावली-चरितकार ने लिखा है कि तुलसीदास दादी के मरने के बाद सोरों में ही रहते रहे। परंतु नंददास और उन के छोटे भाई चंद्रहास अपनी माता के पास रामपुर में रहते थे। कवि ने यह नहीं कहा कि वे अपने पिता के पास रामपुर में रहते थे। नंददास की जीवनी से संबंध रखने वाले अंश हम यहां उद्धृत करते हैं।

रत्नावली के पिता दीनबंधु पाठक, रत्नावली के लिए वर की खोज में थे। उन के किसी मित्र ने उन्हें बताया कि पंडित नृसिंह जी की पाठशाला में रामपुर के सनाढ्य ब्राह्मणों के दो लड़के पढ़ते हैं। इसी प्रसंग में नंददास का परिचय दिया हुआ है।

तीरथ सूकरखेत नाम, भयो विदित जग मुकति धाम।
बहु तीरथ जहं रहे राजि, सेवत अघगन जात भाजि।

... ...

जहं सुरसरि की बहत धार, जनु बराह पद रहि पखार।
बहुरि विप्र जहं करत वास, रहे वेद धरमहिं प्रकास।

... ...

तबै मीत इक दई आस, गुरु नृसिंह के जाहु पास।
स्मारत वैष्नव सो पुनीत, अखिल वेद आगम अधीत।
चक्रतीर्थ ढिग पाठशाल, तहीं पढ़ावत विपुल बाल।
तहां रामपुर के सनाढ्य, सुकुल वंश घर द्वै गुनाढ्य।
तुलसिदास अरु नंददास, पढ़त करत विद्या विलास।
एक पितामह पौत्र दोउ, चंद्रहास लघु अपर सोउ।
तुलसी आत्माराम पूत, उदर हुलासो के प्रसूत।
गए दोउ ते अमर लोक, दादी पोतहिं करि ससोक।
बसत जोग मारग समीप, विप्र बंस कर दिव्य दीप।

रत्नावली और तुलसीदास का विवाह हो गया।

रत्नावलि सी नारि पाइ, तुलसी घर सुख गयो छाय।
पितामही बहु दुख उठाइ, पोषे तुलसी उर लगाइ।

दंपति सेवा सों सिहाय, सुरग गई कछु दिन बिताय।

नंददास और चंद्रहास, रहहि रामपुर मातु पास।

दंपति बिस बाराह धाम, लहत मोद आठोहु याम।

तुलसीदास ने सं० १६२४ में वैराग्य ले लिया और वियोगिनी रत्नावली, पति-वियोग के दुःख में समय व्यतीत करने लगी।

कबहुं रामपुर बसति जाइ, कबहुं बदरिका रहति आइ।

... ...

पति वियोग में साधि जोग, त्याग दिये सब जगत भोग।

१ ५ ६ १
भू सर रस भू बरस पूरि, सुरग गई लहि सुजस भूरि।

५. रत्नावली-दोहासंग्रह[1]—इस ग्रंथ मे नंददास का बहुत थोड़ा उल्लेख है। एक स्थान पर तुलसीदास की वियोगिनी पत्नी रत्नावली एक दोहे में कहती है—

मोइ दीनों संदेश पिय, अनुज नंद के हाथ।

रतन समुझि जनि पृथक मोइ, जो सुमिरत रघुनाथ।

इस दोहे में कहा है कि तुलसीदास ने अपने छोटे भाई नंददास अथवा छोटे भाई के नंद (पुत्र) के हाथ रत्नावली के पास संदेशा भेजा कि रत्नावली जो तू रघुनाथ का भजन करती है, तो तू मुझ से अलग नहीं है। 'दो सौ बावन वार्ता' से यह भी मालूम होता है कि तुलसीदास के काशी-निवास के समय नंददास जी भी सोरों से उन के पास काशी पहुँच गए थे, और उन के पास रहा करते थे। उस समय, वार्ता के कथनानुसार उन का चित्त लौकिक विषयों में बहुत लगता था, यानी वे महात्मा तुलसीदास की तरह संसार से विरक्त नहीं थे। संभव है वे उसी समय अपने संबंधियों से मिलने सोरों आते रहे हों। तुलसीदास ने काशी से नंददास को उन के ब्रजवास-ग्रहण करने के बाद एक पत्र लिखा था, और एक बार वे नंददास से मिलने वृंदाबन भी गए थे। संभव है उस समय यह संदेशा नंददास के हाथ अपनी स्त्री रत्नावली के पास भेजा हो अथवा इस किंवदंती के अनुसार कि एक बार नंददास के पुत्र और तुलसीदास जी के भतीजे कृष्णदास तुलसीदास

[1] इस ग्रंथ के परिचय और प्रामाणिकता पर हम 'हिंदुस्तानी' के जनवरी १९४०, और अक्तूबर १९३९ के अंकों में विचार कर चुके हैं।

को काशी से सोरों लाने के लिए गए थे, उस समय यह संदेशा भेजा गया हो। रत्नावली ने तुलसीदास के वैराग्य लेने का संवत् और अपनी आयु के विषय में इस प्रकार कहा है—

बैस बारहीं कर गह्यो, सोरहिं गौन कराय,
सत्ताइस लागत करी नाथ, रतन असहाय ॥
सागर कर रस सांस रतन, संवत मो दुष दाय,
पिय वियोग जननी मरन, करन न भूल्यो जाय ॥

(ऊपर अंक: सागर — १, कर — २, रस — ६, सांस — १)

इस प्रकार संवत् १६२४ में जब रत्नावली की आयु २७ वर्ष की थी, तुलसीदास ने वैराग्य लिया था।

६. **सूकरक्षेत्रमहात्म्य**[1]—नंददास की जीवनी के अब तक के आधारभूत ग्रंथों में नंददास के पुत्र कृष्णदास का नाम कहीं नही आया। इस 'सूकरक्षेत्रमहात्म्य' और संवत् १६४३ की 'रामचरितमानस' की एक प्रति में यह उल्लेख मिलता है कि एक कृष्णदास नंददास के पुत्र थे। सोरों जिला एटा में इन कृष्णदास के वंशजों में से अब भी एक घर विद्यमान बताया जाता है। इन्हीं कृष्णदास रचित दो ग्रंथ सोरों में प्राप्त हुए हैं। एक 'सूकरक्षेत्रमहात्म्य' दूसरा 'वर्षफल'। 'सूकरक्षेत्रमहात्म्य' सं० १६७० में लिखा गया था। कृष्णदास ने इस ग्रंथ के अंत में अपनी वंशावली दी है जो तुलसीदास और नंददास के जीवन-चरितों को एक नया रूप दे रही है। आरंभ में कवि ने बंदना रूप में अपनी माता यानी कवि नंददास की पत्नी तथा अपने ताऊ तुलसीदास की पत्नी रत्नावली के नाम भी दिए हैं। जिन छंदों में यह परिचय दिया है वह इस प्रकार हैं—

सोरठा

गणपति गिरा गिरीस, गिरजा गंगा गुरु चरन।
बंदहुं पुनि जगदीश, छबि बराह महि उद्धरन ॥
बंदहुं तुलसीदास, पितु बड़ भ्राता पद जलज।
जिन निज बुद्धि विलास, रामचरितमानस रच्यो ॥

---

[1] **एटा से यह पुस्तक छप चुकी है**

सानुज श्री नंददास, पितु की बंदहुं चरन रज ।
कीनी सुजस प्रकाश, रास पंच अध्यायि भनि ।।
बंदहुं कृपानिकेत, पितु गुरु श्री नरसिंह पद ।
बंदहुं शिष्य समेत, बल्लभ आचारज सुषद ।।
बंदहुं कमला मात, बंदहुं पद रत्नावली ।
जासु चरन जल जात, सुमिरि लहहिं तिय सुरथली ।।
सुकुल बंस द्विज मूल, पितरन पद सरसिज नमहुं ।
रहहिं सदा अनुकूल, कृष्णदास निज अंस गनि ।।
महि बराह संवाद, सूकरक्षेत्रमहात्म कर ।
हों धरि उर आह्लाद, कृष्णदास भाषा करहुं ।।

ग्रंथ के अंत में दी हुई कृष्णदास की वंशावली इस प्रकार है—

खेत बराह समीप सुचि, गाम रामपुर एक ।
तहं पंडित मंडित बसत, सुकुल वंश सविवेक ।।
पंडित नारायन सुकुल, तासु पुरुष परधान ।
धार्‌यो सत्य सनाढ्य पद, ह्वै तम वेद निधान ।।
शस्त्र शास्त्र विद्या कुशल, भे गुरु द्रोन समान ।
ब्रम्ह रंध्र निज भेदि जिन, पायो पद निर्वान ।।
तेहि सुत गुरु ज्ञानी भये, भक्त पिता अनुहारि ।
पंडित श्रीधर शेषधर, सनक सनातन चारि ।।
भये सनातन देव सुत, पंडित परमानंद ।
व्यास सरिस वक्ता तनय, जासु सच्चितानंद ।।
तेहि सुत आत्माराम बुध, निगमागम परबीन ।
लघु सुत जीवाराम भे, पंडित धरम धुरीन ।।
पुत्र आत्माराम के, पंडित तुलसीदास ।
तिमि सुत जीवाराम के, नंददास चंदहास ।।
मथि मथि वेद पुरान सब, काव्य शास्त्र इतिहास ।
रामचरितमानस रच्यो, पंडित तुलसीदास ।।

वल्लभ कुल वल्लभ भये, तासु अनुज नंददास।
धरि वल्लभ आचार जिन, रच्यो भागवत रास ।।
नंददास सुत हों भयो, कृष्णदास मतिमंद।
चंद्रहास बुध सुत अहै, चिरजीवी ब्रजचंद ।।

इस वंशावली के अनुसार तुलसीदास और नंददास चचेरे भाई ठहरते हैं।

ग्रंथ को समाप्त करते हुए कृष्णादास ने ग्रंथ का रचनाकाल दिया है, और अपने पिता नंददास द्वारा अपने निवास-स्थान रामपुर का श्यामपुर नाम रखने का उल्लेख किया है।

सोरह सौ सत्तर प्रमित, सम्वत सितदल मांह।
कृष्णदास पूरन करयो, क्षेत्र महात्म बराह ।।
तीरथ वर सौकर निकर, गाम रामपुर बास।
सोइ रामपुर श्यामपुर, करयो पिता नंददास ।।

उपर्युक्त ग्रंथ से नंददास के जीवन-संबंधी निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं—

नंददास जी सूकरक्षेत्र के निकट रामपुर स्थान के रहने वाले थे। उन की जाति सुकुल आस्पदधारी सनाढ्य ब्राह्मण थी। 'रामचरितमानस' के रचयिता तुलसीदास उन के चचेरे भाई थे। नंददास के पूर्वजों में एक नारायण शुक्ल हुए जो सनाढ्य ब्राह्मण थे। उन के चार पुत्र हुए, पंडित श्रीधर, शेषधर, सनक और सनातन। सनातनदेव के पुत्र पंडित परमानंद हुए। परमानंद के पुत्र पंडित सच्चिदानंद हुए। इन के दो पुत्र हुए, बड़े आत्माराम और छोटे जीवाराम। आत्माराम के पुत्र पंडित तुलसीदास जिन्हों ने 'रामचरितमानस' की रचना की और जीवाराम के पुत्र नंददास और चंद्रहास हुए। नंददास के पुत्र कृष्णदास और चंद्रहास के पुत्र ब्रजचंद्र हुए। कृष्णदास से ब्रजचंद्र छोटे थे, क्योंकि कृष्णदास ने ब्रजचंद्र को 'चिरजीवी' कहा है। इस वंशावली में तुलसीदास की किसी संतान का उल्लेख नहीं है। 'रत्नावली-चरित' से ज्ञात होता है कि तुलसीदास के एक पुत्र हुआ था, परंतु वह जीवित नहीं रहा।

नंददास वल्लभ-संप्रदायी थे। वे कवि थे, और उन्हों ने 'रासपंचाध्यायी' की रचना की, इन की प्रसिद्धि उन के जीवन-काल में ही हो गई थी। उन की धर्मपत्नी का नाम कमला था। नंददास के बड़े भाई तुलसीदास की पत्नी का नाम रत्नावली था। इस ग्रंथ

से यह भी ज्ञात होता है कि नंददास ने कृष्णभक्त होने के बाद अपने गाँव रामपुर का नाम श्यामपुर रख दिया था। नंददास के पुत्र कृष्णदास भी एक कवि थे। इस ग्रंथ से यह भी पता लगता है कि नंददास और तुलसीदास दोनों के शिक्षागुरु कोई नृसिंह पंडित थे।

श्यामपुर गाँव आजकल, श्यामपुर और रामपुर दोनों नामों से प्रसिद्ध है। इस गाँव में एक श्यामसर नामक तालाब भी है, जहां बलदेव छठ के दिन प्रत्येक वर्ष मेला लगता है। कहा जाता है कि यह तालाब भी नंददास ही ने बनवाया था। पटवारियों के सरकारी काग़ज़ों में इस गाँव का नाम श्यामसर लिखा जाता है। इस गाँव के नाम बदलने की कथा भी सोरों तथा उस के आसपास के गाँवों में प्रसिद्ध है। आजकल यह गाँव लगभग पचास घरों की बस्ती है। यहां ब्राह्मणों के दो-एक ही घर हैं, परंतु वे अपने को नंददास अथवा चंद्रहास का वंशज नहीं कहते। कहा जाता है कि नंददास के वंशज सोरों ही में रहते हैं। मैं जब सोरों गया तो मैंने नंददास के वंशधरों का पता लगाया। मुझे एक ब्राह्मण घर बताया गया जो अपने को तुलसीदास और नंददास का वंशज बताता है। सोरों के आस-पास के गाँवों में सनाढच ब्राह्मण ही रहते हैं। अन्य प्रकार के ब्राह्मण जैसे सरयूपारी अथवा कान्यकुब्ज वहां नहीं हैं।

७. कवि कृष्णदास-कृत 'वर्षफल'—नंददास के पुत्र कृष्णदास का यह दूसरा ग्रंथ है। यह ज्योतिप-ग्रंथ है, जो सं० १६५७ में कवि ने लिखा था। पुस्तक में कुल १७ पृष्ठ हैं। इस में सूर्य से लेकर राहु तक आठों ग्रहों का फल कहा गया है। इन के अतिरिक्त अरिष्ट योग, अरिष्ट भंग योग, राजयोग, राजभंग आदि योगफल भी कहे हैं। इस ग्रंथ के अंतिम दोहों से भी नंददास के जीवन पर प्रकाश पड़ता है और 'सूकरक्षेत्रमहात्म्य' के कथन की पुष्टि होती है।

ग्रंथ का आरंभ इस प्रकार होता है—

कवित्त

गनपति गिरीस गंग गौरी गुरु गीरवान
गोपवेस गोकुलेस गोपीगुन गाइके।
भूमि देव देव दिवि गाम धाम देवी देव
तात मात पाद कंज मंज सीस नाइके।

सूर सोम भौम सौम, देव गुरु दैत्य गुरु
शुक्र शनि राहु केतु खेट मन लाइके ।
बालबोध आस कविदास दास कृष्णदास
भाषतु हों वर्षफल वर्षग्रन्थ ध्याइके ।

ग्रंथ के अंतिम छंद जिन से नंददास के जीवन पर प्रकाश पर पड़ता है, तथा ग्रंथ की पुष्पिका, इस प्रकार हैं—

दोहा

तात अनुज चँददास बुध, बर निरदेसहि धारि ।
लिष्यो जथामति बर्षफल, बालबोध संचारि ।।

कवित्त

कीरति की मूरति जहां राजै भगीरथ की,
तीरथ बराह भूमि वेदनु जे गाई है ।
जाई धाम रामपुर स्यामपुर कीनो तात,
स्यामायन स्यामपुर बास सुषदाई है ।।
सुकुल विप्र बंस भे विग्य तहां जीवाराम,
तासु पुत्र नंददास कीरति कवि पाई है ।
ता सुत हों कृष्णदास वर्षफल भाषा रच्यो,
चूक होइ सोधें मम जानि लघुताई है ।।

सोरह सौ सत्तामनि, विक्रम के वर्ष मांझि,
भई अति कोप दृष्टि विस्व के विधाता की ।
बीतत असाढ़ बाढ़ लाई बड़ देव धुनि,
बूढ़ी जल जन्म भूमि रत्नावलि माता की ।
नारी नर बूढ़े कछु सेस बड़ भाग रहे,
चिन्ह मिटे बदरी के दुखद कथा ताकी ।
आजु नभ कृष्ण मास तेरस शनि कृष्णदास,
वर्षफल पूरचो भई दया बोध दाता की ।।

पुष्पिका—इति श्री कृष्णदास विरचितम भाषा वर्षफलम् सम्पूर्णम् ।। संवत् १८७२ मार्ग सिर कृष्णा त्रतियां गुरु वासरे, सहसवान नगरे शुभम्, शुभम्, शुभम् ।

इस ग्रंथ से निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं—

नंददास सुकुल विप्रवंश के थे। इन के पिता का नाम जीवाराम था जो भागीरथी गंगा के निकट वाराहभूमि तीर्थ के निकट रामपुर गाँव के रहने वाले थे। कृष्णदास कवि उन के पुत्र थे। उन के छोटे भाई चंद्रहास थे जिन की आज्ञा से उन के पुत्र कृष्णदास ने इस 'वर्षफल' की रचना की थी। नंददास ने अपनी जन्मभूमि रामपुर गाँव का नाम रामपुर से श्यामपुर रख दिया था। नंददास के वंशज कृष्णदास आदि इसी गाँव श्यामसर या सोरों में रहा करते थे। नंददास जी प्रसिद्ध कवि थे। संवत १६५७ में ईश्वरीय कोप हुआ, जिस से अति वृष्टि हुई और गंगा में बाढ़ आ गई। जिस से 'रत्नावलि माता' की जन्मभूमि बदरिया जल में डूब गई। 'रत्नावलि' को कवि ने माता शब्द से संबोधित किया है। इस से सीधे अर्थ यह होते हैं कि कृष्णदास की माता अर्थात् नंददास की धर्मपत्नी रत्नावली थी। परंतु अन्य कई प्रमाणों तथा कृष्णदास-कृत अन्य ग्रंथों से नंददास की धर्मपत्नी का नाम 'कमला' ज्ञात होता है। रत्नावली कृष्णदास की ताई थी। आदर भाव से तथा प्रतिष्ठा के विचार से ताई को यहां माता कहा है। यह ग्रंथ भी पिछले ग्रंथों के वृत्तांतो का समर्थन ही करता है।

८. **'रामचरितमानस' की एक हस्त-लिखित प्रति**—अष्टछाप कवियों के जीवनचरित्रों के आधारभूत ग्रंथों में सोरों में 'रामचरितमानस' की एक प्राचीन प्रति भी है। इस प्राचीन प्रति के लेख से इस बात की पुष्टि होती है कि 'रामचरितमानस' के रचयिता महात्मा तुलसीदास नंददास के चचेरे भाई थे, तथा कृष्णदास नंददास के पुत्र का नाम था। वे सोरो (सूकरक्षेत्र) के रहने वाले थे। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' की यह प्रति काशी में अपने शिष्यों से नक़ल करा कर कृष्णदास को दी थी, और वे उसे सोरों लाए थे। इस प्रति को मैं ने स्वयं देखा है, और इस की जाँच भी की है। यहां इस का कुछ ब्यौरा देना उचित जान पड़ता है।

सोरों ज़िला एटा के पंडित गोविंदवल्लभ शास्त्री काव्यतीर्थ के पास संवत् १६४३ वि० के लिखे हुए 'रामचरितमानस' के तीन कांडों की खंडित प्रतियां हैं। ये कांड बालकांड, अयोध्याकांड और अरण्यकांड हैं। अयोध्याकांड का अंतिम पृष्ठ नष्ट हो गया

हैं। बाल तथा अरण्यकांडों में भी बहुत से पृष्ठ नष्ट हो गए हैं। बचे पृष्ठ भी किनारे से जले हुए हैं। उन में से दो कांडों में उन की प्रतिलिपि का संवत् १६४३ दिया है। सोरो में 'रामचरितमानस' की इस प्रति के बारे में यह कहा जाता है कि 'रामचरितमानस' का प्रचार सर्व-प्रथम सोरों में गोस्वामी तुलसीदास के भाई नंददास के पुत्र कृष्णदास ने किया था। कहा जाता है कि कृष्णदास एक बार अपने ताऊ तुलसीदास को सोरों लाने के लिए काशी गए, परंतु तुलसीदास सोरों नहीं आए। उसी समय तुलसीदास ने कृष्णदास को 'रामचतिमानस' की एक प्रति दी। यह सोरों वाली रामायण, वही काशी से कृष्णदास की लाई हुई है। इन तीन अवशेष कांडों को देखने से प्रतीत होता है कि सात कांड 'रामचरितमानस' महात्मा तुलसीदास ने कई आदमियों से लिखवा कर कृष्णदास को दिए होंगे। अरण्यकांड के लेखक का नाम लछिमनदास दिया हुआ है, और बालकांड के लेखक का नाम रघुनाथदास है।

अरण्यकांड की पुष्पिका इस प्रकार है—

"इति श्री रामायने सकल कलिकलुपविध्वंसने विमल वैराग्य संपादिनी वट सुजन सम्वोद रामवन चरित्र वर्ननो नाम तृतीय सोपान अरण्यकाण्ड समाप्त ॥३॥ श्री तुलसीदास गुरु की आज्ञा सों उन के भ्राता सुत कृष्णदास सोरों क्षेत्र निवासी हेत लिखित लछिमनदास काशी जी मध्ये संवत् १६४३ आषाढ़ शुद्ध ४ शुक्र इति।"

और बालकांड की पुष्पिका इस प्रकार है—

"इति श्री रामचरितमानसे सकल कलिकलुपविध्वंसने विमल वैराग्य सम्पादिनी नाम १ सोपान समाप्तः संवत् १६४३ शाके १५०८ (आगे कुछ अक्षर नष्ट हो गए हैं) . . .नंददास पुत्र कृष्णदास हेत लिषी रघुनाथदास ने काशीपुरी में।"

इस ३५३ वर्ष पुरानी 'रामचरितमानस' की प्रति के अंतिम लेख से पीछे कहे हुए कुछ कथनों का समर्थन होता है।

९. **'गुसाईंचरित' तथा 'मूलगुसाईंचरित'**—'गुसाईंचरित' ग्रंथ अप्राप्य है। 'मूलगुसाईंचरित' को हम महात्मा तुलसीदास और नंददास की जीवन-घटनाओं का विश्वस्त आधार नहीं मानते। इस ग्रंथ में कथित नंददास विषयक उल्लेखो को हम चरितकार के शब्दों में ही नीचे देते हैं।

नंददास कनौजिया प्रेम मढ़े, जिन शेष सनातन तीर पढ़े।
सिच्छा गुरु बन्धु भये तेहिते, अति प्रेम सों आय मिले यहिते ॥

इस ग्रंथ के अनुसार ज्ञात होता है कि नंददास जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। काशी में इन्हों ने शेष-सनातन से विद्या पढ़ी थी। वहीं तुलसीदास उन के सहपाठी थे। तुलसीदास और नंददास सगे अथवा चचेरे भाई नहीं थे, वे केवल गुरुभाई थे। इस ग्रंथ से यह भी ज्ञात होता है कि संवत् १६४६ वि० में तुलसीदास ने नैमिषारण्य की यात्रा की और तभी व्रज में आकर नंददास से वे मिले। सूकरक्षेत्र की स्थिति इस ग्रंथ में सरयू और घाघरा के संगम के तीर पर मानी है, जहां तुलसीदास ने अपने गुरु नरहर्यानंद से विद्या पढ़ी थी। नंददास और तुलसीदास के जीवन-विषयक उपर्युक्त वृत्तांत की एक भी बात प्रचलित किंवदंती अथवा पिछले दिए हुए 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता', 'रत्नावली-चरित', 'रत्नावली-दोहासंग्रह', 'सूकरक्षेत्रमहात्म्य' आदि ग्रंथों के वृत्तांत से मेल नहीं खाती। पीछे कहे हुए ग्रंथों के आधार पर नंददास शुक्ल आस्पदधारी सनाढ्य ब्राह्मण हैं, 'मूलगुसाईंचरित' में उन्हें कान्यकुब्ज लिखा है। उन ग्रंथों में वे 'रामचरितमानस'-कार तुलसीदास के चचेरे तथा गुरुभाई हैं। इस में उन्हें केवल गुरुभाई लिखा है। इन ग्रंथों में सोरों (सूकरक्षेत्र) गंगा के तट का है जहां इन दोनों भक्त कवियों के गुरु नृसिंह जी रहते थे। इस वृत्तांत में सूकरक्षेत्र घाघरा और सरयू के संगम का है। इस प्रकार या तो केवल 'मूलगुसाईंचरित' का वृत्तांत ठीक होना चाहिए अथवा सूकरक्षेत्र महात्म्य आदि ग्रंथ-समूह का वर्णन। तुलना करने पर हमें 'मूलगुसाईंचरित' के वृत्तांत ग्राह्य नहीं प्रतीत होते।

१०. भक्तनामावली ध्रुवदास-कृत—'भक्तनामावली' का रचनाकाल संवत् १६८० के लगभग माना जाता है। इस के दोहे नं० ७७-६ में नंददास जी का उल्लेख है। वे दोहे इस प्रकार हैं—

नंददास जो कछु कह्यो, राग रंग सों पागि।
अच्छर सरस सनेहमय, सुनत स्रवन उठ जागि ॥
रसिक दशा अद्भुत हुती, कर कवित्त सुढार।
बात प्रेम की सुनत ही छुटत नैन जल धार ॥

बावरो सो रस में फिरै, खोजत नेह की बात।
आछे रस के बचन सुनि, बेगि विवस ह्वै जात॥

इन छंदों में नंददास के जीवन से संबंध रखने वाला कोई वृत्तांत नहीं दिया। उन की जाति, जन्मस्थान आदि प्रसंगों पर कुछ भी नहीं कहा। इन में कवि की भक्ति की प्रशंसा, उस के काव्य के गुणों का वर्णन और उस के मन की रसिक वृत्ति का ही परि-परिचय दिया है। नंददास ने जो कुछ भी कहा है (काव्य की रचना की है) वह सब 'राग रंग', अनुराग अथवा प्रेम के रंग में रँगा हुआ कहा है। उन की रचना के अक्षर सरस हैं और सुनते ही चित्त को चमत्कृत कर देते हैं। उन के मन की रसिक दशा है। नंददास के रसिक होने के विषय में तो आंतरिक और वाह्य दोनों प्रमाण स्पष्ट बताते हैं कि नंददास माधुर्य अथवा शृंगार भाव से भगवान् की उपासना करते थे। उन के कवित्त सुंदर रूप में ढले हुए होते हैं। उन का मन प्रेम से लवालब भरा रहता है। कृष्णरस में वे मानो पागल हो गए हैं। ध्रुवदास जी के समय तक नंददास की ख्याति अच्छी तरह फैल चुकी थी। इसी लिए उन्हों ने अपने समकालीन भक्त नंददास की प्रशंसा की है।

आधुनिक ग्रंथों में परिचय

इन प्राचीन ग्रंथों के अतिरिक्त कुछ आधुनिक लेखकों ने भी नंददास के विषय में लिखा है। परंतु इन सब परिचयों का आधार वेंकटेश्वर प्रेस से छपी '२५२ वार्ता' 'भक्तमाल', 'मूलगुसाईंचरित' तथा ध्रुवदासकृत 'भक्तनामावली' ही मुख्यतः हैं। इन ग्रंथों में से भी कुछ ग्रंथों का विवरण देना अनुचित न होगा।

शिवसिंहसरोज—सरोजकार ने नंददास का कोई विशेष वृत्तांत नहीं लिखा। उन्हों ने पृष्ठ ४४२ पर केवल इतना लिखा है—

"नंददास ब्राह्मण रामपुर निवासी, विट्ठलनाथ जी के शिष्य सं० १५८५ में उदय। इन की गणना अष्टछाप में की गई है। इन की बाबत यह मसल मशहूर है कि 'और सब गढ़िया नंददास जड़िया।' इस के बाद नंददास के बनाए हुए कुछ ग्रंथों के नाम दिए हैं।

भारतेंदु-रचित भक्तमाल—भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने भी नाभाजी के 'भक्तमाल' के आधार पर 'भक्तमाल' की रचना की है। उस में ८०वें छप्पय में नंददास जी के बारे में इस प्रकार लिखा है—

तुलसीदास के अनुज सदा विट्ठल पद चारी।
अंतरंग हरि सखा, नित्य जेहि प्रिय गिरधारी।
भाषा में भागवत रची अति सरस सुहाई।
गुरु आगे द्विज कथन सुनत जल माहि डुबाई।
पंचाध्यायी हठ करि रखी, तब गुरुवर द्विजभय हरत।
श्री नंददास रस-रास-रत, प्रान तज्यो सुधि सो करत।

उक्त छंद से ज्ञात होता है कि भारतेंदु हरिश्चंद्र जी ने नंददास के वृत्तांत में 'दो सौ बावन वार्ता' और नाभा जी के 'भक्तमाल' का ही आश्रय लिया है। नंददास तुलसीदास के छोटे भाई थे। उन्हों ने भाषा में 'भागवत' तथा 'रासपंचाध्यायी' की रचना की और रास-रस में सदैव अनुरक्त रहते थे। इस वृत्तांत से यह बात ज्ञात होती है कि भारतेंदु जी इस बात को मानते थे कि नंददास जी तुलसीदास के छोटे भाई थे।

संवत् १९८९ में सर जार्ज ग्रियर्सन ने 'दि वर्नाक्यूलर लिटरेचर अव् हिंदुस्तान' नामक एक हिंदी साहित्य का इतिहास-ग्रंथ लिखा। इस में नंददास का जो उल्लेख है उस का आधार मुख्यतः 'शिवसिंहसरोज' का वृत्तांत है जो बहुत ही थोड़ा है। नंददास का रचनाकाल ग्रियर्सन ने सन् १५६० ई० माना है।

हिंदी साहित्य के आधुनिक इतिहास-लेखकों ने नंददास की काव्य-रचनाओं के विषय में तो कुछ लिखा है परंतु उन के जीवन के संबंध में अधिक हाल नहीं दिया है। 'मिश्रबंधुविनोद' नामक ग्रंथ में विद्वान लेखकों ने नंददास को किसी तुलसीदास का भाई अवश्य माना है, परंतु यह स्पष्ट नहीं किया कि 'रामचरितमानस'-कार तुलसीदास ही उन के भाई थे अथवा कोई अन्य व्यक्ति। हमारे देखने में कविवर नंददास के जीवन से संबंध रखनेवाली जो नवीन सामग्री आई है, उस से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'वार्ता' में नंददास के भाई कहे जाने वाले तुलसीदास और हमारे महान् कवि 'रामचरितमानस'-कार तुलसीदास एक ही हैं। श्रद्धेय मिश्रबंधुओं के 'विनोद' लिखने के समय तुलसीदास और नंददास के संबंध की बहुत थोड़ी सामग्री उपलब्ध थी। न्यून सामग्री पर कोई धारणा स्थित न करना और भावी संशोधकों के लिए मार्ग खुला रखना मिश्रबंधुओं के सफल इतिहासकार होने का परिचायक है। अब जो सामग्री हम उपस्थित कर रहे हैं, उस के अवलोकन से हमें आशा है कि वे सज्जन जो नंददास और 'रामचरितमानस'-कार तुलसीदास

के भाई होने में संदेह कर रहे थे, अपने विचारों में परिवर्तन कर लेंगे। परंतु अध्यापक रामचंद्र शुक्ल जी ने अपने 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में 'वार्ता' के कथन को बिल्कुल स्वीकार नहीं किया है, और उन्हों ने नंददास और तुलसीदास का आपस में कोई संबंध नहीं माना है। वे अपने इतिहास में लिखते हैं कि "गोस्वामी जी का नंददास से कोई संबंध न था, यह बात पूर्णतया सिद्ध हो चुकी है।" उन्हों ने 'वार्ता' के कथन को प्रामाणिक नहीं माना। बाक़ी वृत्तांत बहुत संक्षेप में लिखा है।[1]

अब तक नंददास और तुलसीदास के जीवन संबंधी जो सामग्री उपलब्ध थी उसी के आधार पर हिंदी के विद्वानों की धारणा थी, कि इन दोनों कवियों का आपस में कोई संबंध नहीं था। केवल 'सुकवि-सरोज' जो सं० १९९० में प्रकाशित हुआ था तथा 'बुंदेलवैभव' ग्रंथों में इन दोनों कवियों को एक दूसरे का चचेरा भाई माना है। इन ग्रंथों में यह भी लिखा है कि नंददास और तुलसीदास कान्यकुब्ज अथवा सरयूपारी ब्राह्मण नहीं थे, वरन् वे सनाढ्य ब्राह्मण थे और सोरों ज़िला एटा के रहने वाले थे। परंतु विद्वानों ने इस कथन की पुष्टि में विश्वस्त प्रमाण नहीं पाए और इसी से उन्हों ने इन कथनों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा। उपरोक्त प्राचीन ग्रंथों पर हम ने पूर्ण-रूप से विचार किया है, और उन की प्रामाणिकता पर विचार करने तथा उन में उल्लिखित कथनों की तुलना करने के पश्चात् हम नंददास की प्रामाणिक जीवनी बहुत अंशों में पा सके हैं।

जीवन-चरित्र की संक्षिप्त रूपरेखा

पीछे कहे आधारों के अनुसार नंददास के जीवन-चरित्र की संक्षिप्त रूप-रेखा इस प्रकार होगी।

जन्मस्थान—महाकवि नंददास का निवास-स्थान 'भक्तमाल' में रामपुर ग्राम दिया है। कवि ने स्वयं अपनी रचनाओं में इस का कहीं उल्लेख नहीं किया। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' उसे पूर्व देश का निवासी बताती है। 'रत्नावली-चरित' तथा 'सूकरक्षेत्रमाहात्म्य' और 'वर्षफल' ग्रंथों से ज्ञात होता है कि नंददास भागीरथी गंगा के निकट वाराह-भूमि तीर्थ (सूकरक्षेत्र अथवा सोरों) के निकट रामपुर गाँव के रहने वाले

---

[1] **रामचंद्र शुक्ल, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ० २११ (नवीन संस्करण)**

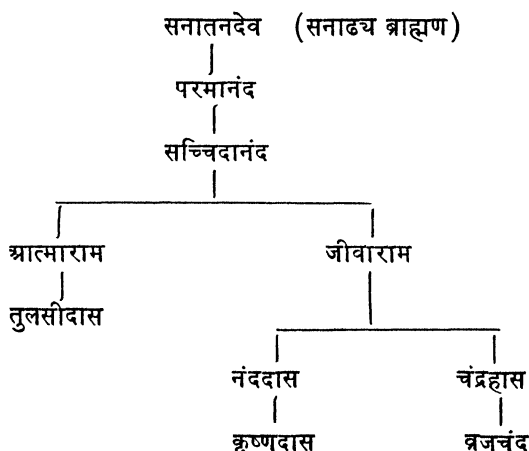
थे और यहीं उन के पिता और पूर्वजों का निवास-स्थान था। इन से यह भी ज्ञात होता है कि नंददास सोरों में भी रहते थे। ये तीनों ग्रंथ 'भक्तमाल' में निर्दिष्ट रामपुर की स्थिति को स्पष्ट करते हैं। रामपुर सोरों ज़िला एटा में एक गाँव अब भी वर्तमान है जो अब श्यामसर अथवा श्यामपुर के नाम से प्रसिद्ध है। 'सूकरक्षेत्रमाहात्म्य' और 'वर्षफल' से यह भी ज्ञात होता है कि रामपुर गाँव का नाम श्यामपुर नंददास ने ही बदल कर रक्खा था। 'भक्तमाल' की टीकाएं तथा 'भक्तनामावली' नंददास के निवास-स्थान और जन्म-स्थान के विषय में मौन हैं। 'वार्ता' में कथित पूर्वदेश हमारे विचार से यही रामपुर स्थान है। 'वार्ता' गोकुल में कही और लिखी गई थी। मथुरा तथा गोकुल से रामपुर ठीक पूर्व देश में है। कुछ लोगों का कहना है कि वार्ता में 'पूर्वदेश' सुदूर पूर्वदेश के लिए प्रयुक्त हुआ होगा। हमारे विचार से इस प्रकार का मतलब निराधार है। अलीगढ़ बुलंदशहर से बहुत निकट है, और पूर्व में स्थित है। बुलंदशहर निवासी अलीगढ़ वालों को पुरबिया कहा करते हैं इस लिए नंददास की वार्ता में कथित पूर्वदेश का तात्पर्य गोकुल से पूर्वदेश में स्थित किसी स्थान से है, वह चाहे पास हो चाहे दूर। पीछे कहे प्रमाणों के आधार से ज्ञात रामपुर की सूचना 'वार्ता' के कथन का विरोध नहीं करती, वरन् रामपुर की स्थिति गोकुल से पूर्व की ओर बता रही है। इन सब आधारों के मिलान से हम कह सकते हैं कि नंददास का जन्मस्थान सोरों ज़िला एटा के निकट रामपुर था और उन के रहने का स्थान भी सोरों था।

जाति-कुल—'भक्तमाल' में नंददास को सुकुल (शुक्ल आस्पद अथवा उच्च कुल) कुल का व्यक्ति बताया है। भावसहित 'दो सौ बावन वार्ता' में उन्हें सनौढिया लिखा है। 'रत्नावलीचरित', 'सूकरक्षेत्रमहात्म्य' और 'वर्षफल' से ज्ञात होता है कि वे शुक्ल आस्पद-धारी सनाढ्य ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। 'रत्नावली-दोहासंग्रह' भी इस बात की पुष्टि करता है कि तुलसीदास और नंददास जो चचेरे भाई थे शुक्ल आस्पद वाले कुल में उत्पन्न हुए थे। इस लिए 'भक्तमाल' का सुकुल शब्द उच्च कुल का द्योतक न होकर शुक्ल आस्पद का द्योतक है। 'मूलगुसाईंचरित' में नंददास को कान्यकुब्ज ब्राह्मण बताया है, परंतु 'वार्ता' तथा अन्य कई प्रमाण इन्हें सनाढ्य ब्राह्मण बताते हैं। 'वार्ता' के कथन की पुष्टि 'रत्नावली-चरित', 'सूकरक्षेत्रमहात्म्य' और 'वर्षफल' ग्रंथों से होती है। 'भक्तमाल' का कथन भी किसी हद तक उक्त ग्रंथों का समर्थन करता है। इस लिए 'मूल-

गुसाईंचरित' का कथन ग्राह्य नहीं है। श्रद्धेय मिश्रबंधुओं ने कवि को केवल ब्राह्मण बताया है। परंतु उपर्युक्त प्रमाण, हमारे विचार से, यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि नंददास का जन्म शुक्ल आस्पद वाले सनाढ्य ब्राह्मण कुल में हुआ था।

'वार्ता' में नंददास के माता-पिता, वंश आदि के विषय में कुछ नहीं बताया और न 'भक्तमाल' में ही इस संबंध में कोई उल्लेख है। 'रत्नावली-चरित', 'रत्नावली-दोहा-संग्रह', 'सूकरक्षेत्रमहात्म्य' तथा 'वर्षफल' में दी हुई वंशावली और उल्लेखों से नंददास की वंशावली ज्ञात होती है। अन्य प्रमाणों के अभाव में हमें नंददास की यही वंशावली जो उक्त तीन ग्रंथों में है, मान्य है। वह इस प्रकार है। नंददास के पूर्वज पंडित सनातनदेव सनाढ्य ब्राह्मण थे। उन के पुत्र का नाम परमानंद था। परमानंद के पुत्र पंडित सच्चिदानंद हुए। इन के दो पुत्र हुए, बड़े आत्माराम और छोटे जीवाराम। आत्माराम के पुत्र 'रामचरितमानस' के रचयिता महात्मा तुलसीदास हुए और जीवाराम के पुत्र नंददास और चंद्रहास। नंददास बड़े थे और चंद्रहास छोटे। इन उपर्युक्त तीन ग्रंथों के कथन की पुष्टि भक्तमाल के वाक्य, 'चंद्रहास-अग्रज' से होती है। 'सूकरक्षेत्रमहात्म्य' और 'वर्षफल' पुस्तकों के रचयिता कृष्णदास नंददास के पुत्र हुए और चंद्रहास के पुत्र व्रजचंद हुए।

वंशवृक्ष



नंददास जी का कुल विद्या और पांडित्य के लिए अपने गाँव के आस-पास प्रसिद्ध था।

माता-पिता, कुटुंब तथा गृहस्थ—उपर्युक्त वंशावली से ज्ञात होता है कि नंददास के पिता का नाम जीवाराम था, जो एक धर्मात्मा और विद्वान पुरुष थे। नंददास के आत्म-चारित्रिक उल्लेखों में अथवा उन की जीवनी के आधारभूत ग्रंथों में उन की माता के नाम का कहीं उल्लेख नहीं है। 'रत्नावली-चरित' में यह लिखा है कि तुलसीदास अपने माता पिता के परलोकवास के बाद अपनी दादी के साथ सोरों में रहा करते थे और नंददास और चंद्रहास अपनी माता के पास रामपुर में ही रहते थे। इस से ज्ञात होता है कि नंददास के पिता का देहांत भी उन के बाल्यकाल में ही हो गया था। उन की संरक्षिका एक तो उन की माता थीं, दूसरे संरक्षक उन के सजातीय गुरु नृसिंह जी।

नंददास के पिता और तुलसीदास के पिता के सम्मिलित कुटुंब का बटवारा उन दोनों के जीवन काल में ही हो गया होगा, क्योंकि पीछे कहे कुछ ग्रंथों से ज्ञात होता है कि तुलसीदास सोरों में अपनी दादी के पास रहते थे और नंददास अपनी माता के पास रामपुर में। परंतु उन बँटे हुए दोनों घरों में परस्पर प्रेमभाव और कभी-कभी एक जगह रहन-सहन भी होता था। तुलसीदास के वैराग्य लेने के बाद उन की धर्मपत्नी रत्नावली रामपुर भी जाकर नंददास के कुटुंब में रहा करती थी। उधर नंददास तो कुछ समय काशी में तुलसीदास के पास रहे ही थे तथा तुलसीदास जी नंददास के ऊपर रक्षा का हाथ रखते थे। नंददास का विवाह किस समय हुआ? यह किसी सूत्र से ज्ञात नहीं होता, परंतु पीछे कहे प्रमाणों से यह निश्चय है कि उन का विवाह हुआ था। 'सूकरक्षेत्रमहात्म्य' और 'वर्षफल' ग्रंथ के रचयिता कवि कृष्णदास ने अपने को नंद का पुत्र कहा है और उन्हों ने अपनी माता का नाम 'कमला' दिया है। नंददास की पत्नी कमला विदुषी थी अथवा नहीं इस का कोई उल्लेख नहीं मिलता। महात्मा तुलसीदास की स्त्री रत्नावली परम पंडिता और कवयित्री थी, इस के प्रमाण तो मिलते हैं। चंद्रहास नंददास के छोटे भाई थे जिन के पुत्र व्रजचंद थे। यह दोनों परिवार सम्मिलित रहते थे। नंददास के वैराग्य लेने के बाद भी ये दोनों परिवार सम्मिलित रहे, क्योंकि कृष्णदास 'वर्षफल' लिखने में अपने चचा चंद्रहास की आज्ञा का पालन करते हैं, दूसरे चंद्रहास के पुत्र व्रजचंद का नाम वे बहुत ही अनुराग भरे शब्दों में लेते हैं जो सम्मिलित कुटुंब का अनुमान देते हैं। नंददास ने कितने दिन गृहस्थी का भोग किया यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। परंतु रत्नावली और तुलसीदास के जीवन के संबंध से हम अनुमान से कह सकते हैं कि नंददास भी

तुलसीदास के वैराग्य लेने के दो-तीन साल बाद घर से निकल दिए होंगे। क्योंकि वल्लभ-संप्रदाय में आने से पहले वे काशी में महात्मा तुलसीदास के पास कुछ समय रहे, और रामानंदीय संप्रदाय के शिष्य बने। इस विषय का विचार हम नंददास के 'वल्लभ-संप्रदाय में आने की तिथि' नामक शीर्षक के अंतर्गत करेंगे। उपर्युक्त ग्रंथों के आधार पर हम उन के गार्हस्थ्य-जीवन के विषय में इतना ही निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि नंददास की स्त्री का नाम 'कमला' था और उन के एक पुत्र का नाम कृष्णदास था जो एक कवि और पंडित थे। उन की अन्य संतान कोई थी अथवा नही इस का कोई प्रमाण नहीं है।

सोरों में जैसे ब्राह्मणों के यहां प्राचीन काल से यजमानी वृत्ति चली आती है, उस प्रकार की वृत्ति नंददास अथवा महात्मा तुलसीदास के कुल में नहीं थी। तुलसीदास की पुराण-कथा बाँचने की वृत्ति का तो 'रत्नावली-चरित' में ज़िक्र है परंतु नंददास की भी यह वृत्ति थी अथवा नहीं, इस का कोई उल्लेख नहीं मिलता। सोरों में जो कुटुंब नंददास का वंशज मुझे बताया गया, उस से मुझे ज्ञात हुआ कि उस कुटुंब में यजमानी वृत्ति कभी नहीं हुई।

नंददास की शिक्षा—'रत्नावली-चरित' से ज्ञात होता है कि नंददास और उन के बड़े चचेरे भाई तुलसीदास दोनों सोरों में 'नरसिंह' पंडित के यहां विद्याध्ययन करते थे। कृष्णदास ने 'सूकरक्षेत्रमहात्म्य' ग्रंथ में अपने पिता नंददास के गुरु 'नरसिंह' जी की वंदना की है। 'रत्नावली-चरित' में लिखा है कि 'नरसिंह' महात्मा तुलसीदास के सजातीय पंडित थे, और वे स्मार्त वैणव थे। 'मूलगुसाईंचरित' में महात्मा तुलसीदास के गुरु का नाम 'नरहरियानंद' दिया है, जिन्हों ने तुलसीदास को घाघरा सरयू के संगम पर स्थित सूकरखेत में विद्याध्ययन कराया था। उस से ज्ञात होता है कि तुलसीदास की आरंभिक शिक्षा और नंददास की आरंभिक शिक्षा में एक दूसरे का कोई संबंध न था। तथा नंददास का तुलसीदास से गुरुभाई होने का संबंध तो काशी में शेष-सनातन के शिष्यत्व में जुड़ा था। जैसा कि हम ने पीछे कहा है 'मूलगुसाईंचरित' एकाकी एक ओर और अन्य पाँच छः प्रमाण एकमत होकर दूसरी ओर हैं। यदि 'मूलगुसाईंचरित' का वर्णन स्वीकार किया जाय तो, ('२५२ वार्ता', 'रत्नावली-चरित', 'सूकरक्षेत्रमहात्म्य', 'वर्षफल' आदि ग्रंथ झूठे साबित होते हैं। हम ने 'मूलगुसाईंचरित' को विश्वस्त प्रमाण नहीं माना।

महात्मा तुलसीदास अपने 'रामचरितमानस' के इस उल्लेख में कि 'मैं पुनि निज गुरुसन सुनी कथा सो सूकरखेत' अपने शिक्षा-गुरु का उल्लेख कर रहे हैं। 'निज गुरु' शब्द बताता है कि वे किसी विशेष शिक्षा-गुरु को बहुत सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। 'मूलगुसाईचरित' के अनुसार उन के दो गुरु थे। एक सूकरखेत में नरहरियानंद जिन के प्रति तुलसीदास की यह बंदना "बंदहु गुरुपद कंज कृपासिंधु नर रूप हरि" घटाई जा सकती है, दूसरे शेष-सनातन जिन के चरणों में नंददास और तुलसीदास दोनों ने विद्या पढ़ी थी।

नंददास कनौजिया प्रेम मढ़े, जिन शेष सनातन तीर पढ़े।
शिक्षा गुरु बंधु भए तेहिते, अति प्रेम सों आय मिले यहि ते।[1]

'मूलगुसाईचरित' से इतर प्रमाणों द्वारा ज्ञात होता है कि तुलसीदास के नृसिंह जी ही 'सूकरखेत' (ज़िला एटा) मे शिक्षागुरु थे, जहा उन के चचेरे भाई नंददास उन के 'शिक्षा-बंधु' थे। हमारे विचार में तुलसीदास का गुरु की वंदना में पीछे कहा हुआ यह कथन 'बंदहुं गुरुपद कंज कृपासिंधु नररूप हरि' उन के गुरु नृसिंह की ओर ही संकेत करता है। 'सूकरक्षेत्रमहात्म्य' और 'वार्ता' से विदित है कि नंददास के दीक्षागुरु श्री वल्लभाचार्य जी के शिष्य (और पुत्र) श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ जी थे।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात निर्विवाद रूप से स्पष्ट हो जाती है कि नंददास ने सोरों में अपने सजातीय ब्राह्मण नरसिंह जी से शिक्षा पाई थी। विचार करने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नंददास का अध्ययन गंभीर था, तथा अपनी विद्वत्ता के लिए उन का बड़ा मान था। साथ ही यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि वे संस्कृत के भी अच्छे विद्वान थे और उन को हिंदी भाषा से बहुत प्रेम था। उन का संस्कृत का अध्ययन तथा भाषा प्रेम तो इस से स्पष्ट है कि उन्हों ने दशम स्कंध की कथा संस्कृत से भाषा में इस लिए की कि संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ व्यक्ति भी उस का आनंद पा सकें। संस्कृत साधारण वर्ग के लिए दुरूह हो गई थी, नंददास का ध्यान इस ओर विशेष रूप से गया, सर्वसाधारण की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर उन्हों ने संपूर्ण दशम स्कंध भाषा में किया भी, पर ब्राह्मणों के संकुचित विचार तथा स्वार्थपरता से उस का अधिक भाग नष्ट कर दिया। हम 'वार्ता' के इस प्रसंग से नंददास के संस्कृत ज्ञान और उन की मनोवृत्ति का परिचय

---

[1] **'मूलगोसाईंचरित', पृ० २६**

अच्छी तरह पाते हैं। इस से विदित होता है कि तत्कालीन वैष्णव उन की विद्वत्ता के क़ायल भी थे, क्योंकि[1] तुलसीदास को सूचना देते हुए संघ के मुखियों ने कहा था 'वह नंददास बहुत पढ़ा है।'

वैराग्य और वल्लभ-संप्रदाय में प्रवेश—'भक्तमाल',भक्तमाल की टीकाएं, 'रत्नावली-चरित', 'रत्नावली-दोहासंग्रह', 'भक्तनामावली' आदि ग्रंथ नंददास के वैराग्य लेने और उन के वल्लभ-संप्रदाय में जाने की घटना का कोई उल्लेख नहीं करते। उन में से कुछ ग्रंथ उन के आरंभिक जीवन पर प्रकाश डालते हैं। 'सूकरक्षेत्रमहात्म्य' में कृष्णदास ने अपने पिता नंददास के वल्लभ-संप्रदायी होने का संकेत मात्र किया है, जब उन्हों ने श्री वल्लभाचार्य और उन के उत्तराधिकारी विट्ठलनाथ की वंदना की है। इस प्रसंग का पूर्ण वृत्तांत '२५२ वार्ता' देती है। परंतु 'वार्ता' का दिया हुआ यह वृत्तांत काशी से ही आरंभ होता है। घर छोड़ कर नंददास काशी कैसे और कब पहुँचे, यह सूचना किसी सूत्र से नहीं मिलती। इस बीच के वृत्तांत को हम अनुमान से पूर्वापर-संबंध द्वारा पूरा कर सकते हैं। हमारा अनुमान है कि तुलसीदास के वैराग्य लेने के बाद नंददास ने सुना कि तुलसीदास काशी में हैं। उस समय तक नंददास के संतान भी हो गई थी। वे या तो भाई के प्रेम से खिच कर अथवा उन की वैराग्यवृत्ति से प्रभावित होकर घर छोड़ कर काशी चल दिए। काशी पहुँच कर वे तुलसीदास के साथ रहने लगे। यहां से नंदादस का चरित्र '२५२ वार्ता' में आरंभ हो जाता है। महात्मा तुलसीदास के प्रभाव से वे 'रामानंद' संप्रदाय के अनुयायी बन गए। कुछ समय बाद एक संग काशी से रणछोर जी के दर्शनों को चला। नंददास भी अपने बड़े भाई तुलसीदास की आग्रहपूर्वक अनुमति पाकर उस संग के साथ चल दिए। वे सीधे मथुरा पहुँचे। यहां से वे, अपने साथियों को छोड़ कर अकेले ही रणछोर जी को चल पड़े। चलते-चलते वे 'द्वारका' का रास्ता भूल गए और कुरुक्षेत्र के आगे एक 'सहीनंद' नामक ग्राम में पहुँच गए। वहां एक क्षत्री साहूकार रहता था। नंददास जी उस के घर भिक्षा माँगने गए। उस साहूकार की स्त्री बड़ी रूपवती थी। नंददास जी उस स्त्री पर मोहित हो गए। वे नित्य उस क्षत्राणी के मुख को देखने उस के घर जाते। यह क्षत्री गोस्वामी विट्ठलनाथ जी का शिष्य था। लोकापवाद के भय

---

[1] देखिए '२५२ वैष्णवन की वार्ता'

से वह सकुटुंब गोकुलयात्रा को चल दिया। नंददास भी उस क्षत्री के पीछे-पीछे चल दिए। रास्ते में यमुना-तट पर आए। वह क्षत्री तो नाव में बैठ कर यमुना पार हो गया परंतु उस के कहने पर मल्लाहों ने नंददास को पार नहीं उतारा। यह घटना नंददास के जीवन की एक उल्लेखनीय घटना है, क्योंकि लौकिक विषय में आसक्त रसिक नंददास के जीवन का यह अंतिम परिच्छेद है। यहीं हम कवि नंददास का सर्वप्रथम परिचय पाते हैं। लौकिक प्रेम में मुग्ध नंददास ने यमुना के किनारे बैठ कर यमुना-स्तुति के पद गाए। ये पद उन के, वल्लभ-संप्रदाय में जाने से पहले ही उन के, उच्च कोटि के कवि होने का परिचय देते हैं। यमुना-महिमा-वर्णन भी इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि नंददास एक धर्मभीरु व्यक्ति थे और तत्कालीन कृष्णभक्ति की लहर, जिस ने समस्त भारत को आप्लावित कर दिया था, उन के हृदय में पहले ही से घर कर गई थी। रणछोर जी (द्वारका जी) के दर्शनों के उत्सुक नंददास के जीवन की धार्मिक गति को उस रूपवती क्षत्राणी ने कुछ समय के लिए रुद्ध कर दिया था। यमुना के किनारे गाए हुए यमुना-स्तुति के पदों से यह स्पष्ट है कि नंददास के मोह के बंधन उसी समय टूट गए थे, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो ये पद उस क्षत्राणी का संग छूट जाने की विरह-वेदना का वर्णन करते। इन पदों में रूपासक्ति, कामुकता, कातरता, विह्वलता, विछोह दुःख आदि भाव व्यक्त नहीं है। उन में तो निराशा-पूर्ण हृदय की आत्मिक शांति के आश्रय की खोज है। वास्तव में ये पद नंददास के चरित्र की कसौटी हैं। इन पदों से स्पष्ट हो जाता है कि नंददास अपार मोहाग्नि में जल कर खरे सोने की तरह चमक उठे थे। वियोग-जन्य दुःख से वे अधीर नहीं हुए। कवि नंददास के जीवन के अनुभवों में यह एक ऐसी घटना थी जिसने उन की कवित्व शक्ति को परिपक्व किया, उन के वर्णन को सूक्ष्म और उन की अंतर्दृष्टि को तीक्ष्ण बनाया। कवि ने इस रूपवती क्षत्राणी के दर्शन और चिंतन में सौंदर्य देखा था, प्रेम की भावना को आँका था, वासना को तोला था, विरहातुरता समझी थी, सम्मिलन की सुखद कल्पना की थी और अंत में उस ने संसार में लिप्त मनुष्य के हृदय की विकलता को समझा था। तभी तो 'रासपंचाध्यायी' आदि ग्रंथों में उन के वर्णन इतने सजीव और सच्चे बन पड़े हैं।

इस संताप का अब अंत आ चुका था। क्योंकि यमुना के किनारे यमुना-स्तुति करते हुए निरुपाय नंददास को गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अपने सेवक द्वारा बुलवा लिया। उन के दर्शनों तथा उन के उपदेशों से नंददास का मन सांसारिक जाल से छूट कर भगवान

कृष्ण के चरणों में जा लगा। उन्हें गुरुवंदना और बालकृष्ण के पद गाने ही में जीवन का सार मिलने लगा।

एक बार मोह-बंधन छट जाने पर विरागी नंददास ने फिर संसार की ओर दृष्टि नहीं उठाई। यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि उन की जीवनी के आधार-रूप ग्रंथों में उन के गृहस्थी में वापस जाने का कहीं उल्लेख नहीं है, और स्पष्ट-रूप से लिखा मिलता है कि वे ब्रज को छोड़ कर कहीं नहीं जाते थे। नंददास ने भी अपने एक पद में श्री विट्ठलनाथ जी की वंदना करते हुए कहा है "रहों सदा चरनन के आगे" इस से भी स्पष्ट है कि वे सदा गोस्वामी जी के पास ही रहते थे। जब अकबर की वैष्णव लौंडी (रूपमंजरी) ने उन के साथ मानसी गंगा पर रहने को कहा तब भी नंददास ने यही उत्तर दिया कि इन आँखों से अब लौकिक देखना ठीक नहीं है। विरागी नंददास अपने मानस-पटल पर सदा ही कृष्ण की लावण्यमयी मूर्ति को रास में थिरकते हुए देखते थे :—

मोहन पिय की मुसकनि, ढलकनि मोर मुकट की।
सदा बसौ मन मेरे, फरकनि पियरे पटकी॥
('रासपंचाध्यायी')

स्वभाव और चरित्र—'भक्तमाल' और '२५२ वैष्णवन की वार्ता' से विदित होता है कि नंददास रसिक थे। उन के 'परम रसिक मित्र' के संग से भी इस बात की पुष्टि होती है। रसिक होने के साथ नंददास दृढ़ संकल्पी भी थे, क्योंकि वे तुलसीदास के मना करने पर भी रणछोर जी के दर्शनों को चल दिए थे। साथ ही उन के क्षत्राणी के ऊपर मोहित होने की घटना से भी उन के हठी होने का परिचय मिलता है क्योंकि वे बार-बार मना करने पर भी वहां जाते ही रहे। उन का यह हठ केवल बालक का हठ नहीं था, वे धुन के पक्के व्यक्ति थे और अपनी इच्छित वस्तु को पाने का शक्ति भर प्रयत्न करते थे। तभी तो उन्हों ने परलोक-सिद्धि पाई। असफल होने पर निराश भी नहीं होते थे। नंददास के स्वभाव में चपलता और उतावलापन भी था, क्योंकि जब वह संग जिस के साथ वे रणछोर जी के दर्शनों को जा रहे थे, कुछ समय के लिए मथुरा में रुक गया तो इन्हें सब्र न हुआ और अकेले ही चल पड़े। नंददास सौंदर्य-प्रेमी भी थे। 'रणछोर' जी की यात्रा में वे पहले तो मथुरा की रचना पर रीझे और फिर क्षत्राणी के रूप-सौंदर्य पर। रूपमंजरी की कथा भी उन के सौंदर्य-प्रेमी होने का प्रमाण देती है। यह सब होते हुए

नंददास अवश्य एक धर्मभीरु व्यक्ति थे। उन के मोह की अवस्था में भी किसी ऐसी बात का उल्लेख नहीं मिलता, जिस से मालूम पड़े कि वे सदाचार से डिग गए थे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उन की यह धर्मभीरुता उन के क्षत्राणी के संग छूटने के बाद गाए हुए यमुना-स्तुति वाले पदों से भी स्पष्ट है।

इन सब बातों पर विचार करने के बाद हम कह सकते हैं कि नंददास एक सहृदय, सौंदर्य-प्रेमी तथा रसिक व्यक्ति थे। इन के चरित्र में दृढ़ता थी परंतु कुछ चपलता का भी समावेश था और वे धर्मभीरु थे।

वैराग्य के बाद का जीवन तथा मृत्यु—उन के वल्लभ-संप्रदाय में आने के बाद, उन का जीवन कृष्णभक्ति में तथा गोकुल और गोवर्धन पर स्थित मंदिरों की कृष्ण-मूर्तियों के दर्शन और सेवा में ही बीता। उन की जीवनचर्या केवल भगवद्चर्चा तथा पद और छंद-रचना कर भगवान के समक्ष गाना ही थी। इस बीच में नंददास ने अनेक ग्रंथों की रचना की।

उन के वल्लभ-भक्ति के जीवन में निम्नलिखित घटनाओं का भी उल्लेख मिलता है :—

(१) तुलसीदास का उन को रामभक्त बनाने का प्रयत्न करना, तथा उन से मिलने ब्रज में आना।

(२) नंददास का अकबर की वैष्णव लौंडी से मिलने उस के डेरे मानसी गंगा पर जाना।

(३) बीरबल का उन से मिलने आना।

(४) अकबर का उन्हें बुलाना।

तुलसीदास का नंददास को रामभक्ति की ओर आकर्षित करने का असफल प्रयत्न संभव है वल्लभ-संप्रदाय के गौरव को बढ़ाने के लिए सांप्रदायिक कल्पना हो, परंतु इतना माना जा सकता है कि तुलसीदास एक बार अपने चचेरे भाई नंददास से ब्रज में अवश्य मिले थे। अकबर के मानसी गंगा पर डेरा डालने पर नंददास उस की एक वैष्णव लौंडी (रूप-मंजरी) से मिलने गए। 'वार्ता' के इस प्रसंग से नंददास के एक अत्यंत प्रेमी मित्र 'रूपमंजरी' के होने की सूचना मिलती है। उसी समय राजा बीरबल भी नंददास से मिले। बीरबल का इन से मिलने जाना संभव हो सकता है, क्योंकि 'बीरबल' एक

धर्मनिष्ठ हिंदू था। वह संतों, भक्तों तथा कवियों के सत्संग का इच्छुक रहता था और उन का आदर करता था। अकबर का इन्हें बुलाना भी संभव हो सकता है, क्योंकि 'तानसेन' के गाए हुए पद ('देखो देखो री नागर नट निर्तत कालिंदी तट') से अकबर ने इन्हें एक भक्तकवि के रूप में ही जाना था। इतिहास में इस बात का प्रमाण है कि अकबर कवियों और दूसरे धर्मानुयायियों का भी निष्पक्ष रूप से आदर करता था। इस लिए अकबर द्वारा नंददास के बुलाए जाने की घटना को असंगत कहना अथवा उस में कोई शंका करना निराधार प्रतीत होता है। 'वार्ता' में लिखा है कि नंददास की मृत्यु अकबर के सामने हुई थी। जिस प्रकार से यह प्रसंग वार्ता में दिया है, वह सांप्रदायिक महत्व की दृष्टि से देखा जा सकता है। परंतु अन्य सब वृत्तांत को छोड़ कर हम इतना ऐतिहासिक तात्पर्य निकाल सकते हैं कि नंददास की मृत्यु अकबर तथा बीरबल के जीवनकाल में ही मानसी गंगा पर हुई थी। इस बात की किंवदंती भी मानसी गंगा पर मेरे सुनने में आई कि यही नंददास का गोलोकवास हुआ था, और वे यहीं अपनी यशकाया से निवास करते हैं।

नंददास के जीवन विषयक तिथियां

नंददास की जन्म-तिथि—पिछले प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि नंददास तुलसीदास के चचेरे और छोटे भाई थे। दोनों सोरों में नृसिंह जी की पाठशाला में पढ़ते थे। जब रत्नावली विवाह-योग्य हुई, तब रत्नावली के पिता के किसी मित्र ने रामपुरवासी ब्राह्मणों के दो लड़के तुलसीदास और नंददास कन्या के वरण योग्य बतलाए। दोनों वर बारह बरस की कन्या के योग्य वर थे। इस से हम अनुमान कर सकते हैं कि नंददास जी तुलसीदास जी से अधिक छोटे नहीं थे। उधर, 'वार्ता' में लिखा है कि जब काशी से नंददास रणछोर जी के दर्शनों को चले, तब तुलसीदास ने नंददास को अकेले जाने से रोका। जब नंददास न माने, तब वे उन्हें रणछोर जी जाने वाले एक संग के सुपुर्द स्वयं कर के आए। इस से यह अनुमान होता है कि नंददास तुलसीदास से इतने छोटे अवश्य रहे होंगे, कि जिस में वे अपने छोटे भाई पर संरक्षण का अधिकार रख सकते हों। इस प्रकार हम नंददास को तुलसीदास से चार या पाँच वर्ष छोटा मान सकते हैं। 'मूलगुसाईंचरित' में तुलसीदास का जन्मसंवत् १५५४ दिया है। इस तिथि को हम सही नहीं मान सकते। 'रत्नावली-दोहा-संग्रह, से ज्ञात होता है कि रत्नावली विवाह के समय बारह वर्ष की थी।

और जब वह सत्ताईस २७ वर्ष की हुई तो उस का तुलसीदास से वियोग हो गया। उस वियोग घटना का संवत् 'रत्नावली-दोहासंग्रह' में संवत् १६२४ दिया हुआ है।

४ २ ६ १
सागर कर रस ससि रतन, संवत भो दुखदाय।
पिय वियोग जननी मरन, करन न भूल्यो जाय॥
बैस बारहीं कर गह्यो, सोरह गौन कराय।
सत्ताइस लागत करी, नाथ रतन असहाय॥

इस हिसाब से रत्नावली का जन्मसंवत् १५६७ निश्चित होता है। संवत् १६०६ में तुलसीदास से रत्नावली का विवाह हुआ। यदि 'मूलगुसाईंचरित' में दिए हुए तुलसीदास के जन्मसंवत् १५५४ को मानें, और 'रत्नावली-दोहासंग्रह' की तिथियों से मेल करें, तो तुलसीदास की आयु विवाह समय ५४ वर्ष की आती है जो नितांत असंगत है। विवाह के समय तुलसीदास की आयु अधिक से अधिक २० वर्ष की होगी। इस हिसाब से तुलसीदास का जन्मसंवत् १६०६ में से २० घटाने से संवत् १५८६ आता है। मिर्ज़ापुर के प्रसिद्ध रामभक्त और रामायणी पंडित रामगुलाम द्विवेदी[१] भक्तों की जनश्रुति के आधार पर तुलसीदास का जन्मसंवत् १५८६ ही मानते हैं। डाक्टर ग्रियर्सन ने भी यही संवत् स्वीकार किया है। अस्तु, किसी निश्चित् तिथि के अभाव में हमें तुलसीदास का जन्मसंवत् लगभग १५८६ ही मानना पड़ेगा। इस प्रकार नंददास जो उन से अनुमानतः ४ या ५ वर्ष छोटे रहे होंगे लगभग संवत् १५६४ में जन्मे होंगे।

नंददास के वल्लभ-संप्रदाय में आने की तिथि—'२५२ वैष्णवन की वार्ता' में लिखा है कि नंददास जी गोकुल में जाकर श्री विट्ठलनाथ जी के शिष्य हुए, जहां गोस्वामी जी अपने परिवार सहित रहते थे। वल्लभ-संप्रदायी ग्रंथ 'निजवार्ता', 'घरूवार्ता' तथा 'बैठक चरित्र' तथा 'श्री द्वारकानाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' (पृ० ६७) से ज्ञात होता है कि गुसाई विट्ठलनाथ जी संवत् १५६१ में अपने बड़े भाई श्री गोपीनाथ की मृत्यु के बाद आचार्य की गद्दी पर बैठे थे, और संवत् १६२२ तक प्रयाग के निकट अरैल स्थान में ही रहे। संवत् १६२२ में वे अपने कुटुंब सहित ब्रज में आए। लगभग तीन महीने गोकुल में ठहरने

[१] **देखिए, 'हिंदी साहित्य का इतिहास'—पं० रामचंद्र शुक्ल, नवीन संस्करण, पृ० १५३**

के बाद मथुरा चले गए और संवत् १६२८ तक मथुरा में ही रहे। संवत् १६२८ में वे कुटुंब सहित फिर गोकुल आए और उस स्थान को अपना स्थायी निवासस्थान बनाया। श्री मधुकर भट्ट-कृत गोस्वामी जी की वंशावली में श्री गोस्वामी जी के गोकुल-निवास के विषय में लिखा है—

अब्देऽष्टनेत्राङ्गी मही प्रमाणे (१६२८) तपस्यमासस्य तमिस्रपक्षे।
दिने (७) दिनेशस्य शुभे मुहूर्ते श्रीगोकुलग्रामनिवास आसीत् ॥७॥[1]

इस से ज्ञात होता है कि नंददास जी सं० १६२८ में या इस के बाद गुसाईं जी के शिष्य हुए होंगे। 'वार्ता' से ज्ञात होता है कि नंददास काशी से रणछोर जी के दर्शनों को अपने बड़े भाई तुलसीदास की आज्ञा लेकर चले थे, और रास्ते में एक क्षत्री की स्त्री के रूप पर मुग्ध होने की घटना के बाद गोकुल में गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के शिष्य हुए थे। तुलसीदास का काशीवास उन के वैराग्य लेकर घर से निकल जाने के बाद हुआ था। रत्नावली के एक दोहे से ज्ञात होता है कि तुलसीदास ने सं० १६२४ (सागर कर रस ससि) में वैराग्य लिया था। अनुमान से हम यह भी कह सकते हैं कि नंददास तुलसीदास के पास काशी में उन के भली-भाँति ठहर जाने पर पहुँचे होंगे। इस में तुलसीदास को लगभग दो-चार वर्ष लग गए होंगे। इस समय तक नंददास के विवाह के बाद उन के संतान भी हो गई थी, क्योंकि कृष्णदास कवि ने अपने को नंददास का पुत्र कहा है। और 'वार्ता' से अनुमान होता है कि नंददास ने काशी आकर फिर गृहस्थाश्रम का भोग नहीं किया। काशी से चल कर महात्मा तुलसीदास अयोध्या में रहे। वहां इन्हों ने संवत् १६३१ में 'रामचरितमानस' की रचना आरंभ की। हमारा अनुमान है कि नंददास काशी से गोस्वामी तुलसीदास के अयोध्यावास और 'रामचरितमानस' की रचना से पहले ही ब्रज को चले गए होंगे। इस तरह नंददास के वल्लभ-संप्रदाय में आने की तिथि सं० १६२८ से लेकर सं० १६३१ के बीच में कहीं होनी चाहिए। इस तिथि को हम लगभग सं० १६२९ कह सकते हैं। इस समय नंददास की आयु लगभग ३५ वर्ष की रही होगी।

नंददास जी की गोलोकवास की तिथि—नंददास की मृत्यु अकबर बादशाह के समक्ष हुई थी, यह बात '२५२ वैष्णवन की वार्ता' से विदित है। इतिहास बताता है

---

[1] **देखिए, 'इंपीरियल फ़रमान्स', एम० के० झावेरी, पृ० १६५**

कि अकबर बादशाह की मृत्यु सं० १६६२ में हुई थी। इस लिए नंददास की मृत्यु सं० १६६२ से पहले होनी चाहिए। 'वार्ता' में यह भी लिखा है कि अकबर बीरबल को साथ लेकर ब्रज गया था और ब्रज में अपने आने की सूचना बीरबल के द्वारा ही नंददास के पास भिजवाई थी। इस से ज्ञात होता है कि नंददास की मृत्यु बीरबल के जीवन-काल ही में हुई थी। बीरबल की मृत्यु सं० १६४७ में हुई थी। इस लिए नंददास की मृत्यु का समय १६४७ से पहले होना चाहिए।

उन हस्तलिखित '२५२ वार्ताओं' में जिन का हम ने पीछे हवाला दिया है, और 'गुसाईं जी के मुख्य सेवक तिन की वार्ता' नामक ग्रंथ में नंददास जी की वार्ता के छठे प्रसंग में नंददास की मृत्यु कैसे हुई इस का वर्णन है। यह प्रसंग जैसा कि हम ने पीछे कहा है वेंकटेश्वर प्रेस से छपी 'वार्ता' में रूपमंजरी की वार्ता में है। उपर्युक्त हस्तलिखित 'वार्ता' में लिखा है कि नंददास और रूपमंजरी की मृत्यु का समाचार वैष्णवों ने गोस्वामी विट्ठलनाथ जी को सुनाया, जिन्हों ने नंददास की भूरि-भूरि प्रशंसा की। इस से विदित होता है कि नंददास की मृत्यु गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के सामने हुई थी। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी का गोलोकवास सं० १६४२ में हुआ। इसी लिए नंददास की मृत्यु सं० १६४२ से पहले ही हुई होगी। हमारे विचार से नंददास के निधन की तिथि लगभग सं० १६४० है।



सिद्ध तेलोपा

[लेखक—श्रीयुत परशुराम चतुर्वेदी, एम्० ए०, एल-एल्० बी०]

प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों की परंपरा बहुत दिनों तक चली थी और सिद्धांत एवं साधना संबंधी सूक्ष्म मतभेदों के कारण उस के अंतर्गत अनेक आम्नाय वा भिन्न-भिन्न उप-संप्रदाय भी बन गए थे। सिद्ध तेलोपा वा तिलोपा को, तदनुसार, सिद्धाचार्य लुईपा का 'वंशधर' बतलाया जाता[1] है और यह भी कहा जाता है कि उन के गुरु कोई विजयपा नामक सिद्ध थे। परंतु लुईपा एक प्राचीन सिद्ध थे जो, 'चर्याचर्य विनिश्चय' की संस्कृत टीका तथा चौरासी सिद्धों की उपलब्ध चित्रावली के अनुसार भी, 'आदि सिद्धाचार्य' समझे जाते हैं, और विजयपा का नाम चौरासी सिद्धों की किसी सूची में स्पष्टरूप में, नहीं मिलता। इधर नेपाल में पाई गई, किसी ताड़पत्र पर लिखे ग्रंथ की एक खंडित प्रति के अनुसार, यह भी जान पड़ता[2] है कि सिद्ध तेलोपा का संबंध सिद्ध इंदुभूति के आम्नाय से था, और एक अन्य परंपरा के अनुसार, इन्हें उक्त सिद्ध का शिष्य तक माना गया मिलता[3] है। अतएव यह भी अनुमान किया जा सकता है कि विजयपा, कदाचित्, सिद्ध इंदुभूति का ही एक दूसरा नाम रहा होगा। किंतु सिद्ध इंदुभूति उड़ीसा प्रांत वा किसी 'लंकापुर' के राजा भी रह चुके थे और उन का समय सन् ७१७ ई० अथवा आठवीं शताब्दी के आरंभ में प्रायः निश्चित-सा समझा जाता[4] है; इस लिए, यद्यपि सिद्ध तेलोपा भी 'तंजूर' की सूची में एक स्थल पर 'उडिष्यावासी' लिखे गए हैं तो भी, इन के, सर्वसम्मति से, सिद्ध नारोपा (मृत्यु सन् १०३९ ई०) का गुरु माने जाने एवं साथ ही बंगाल के राजा महीपाल

---

[1] हरप्रसाद शास्त्री : 'बौद्ध गान ओ दोहा', मुखबंध, पृ० १६

[2] ग्वि० तुची : 'जर्नल बंगाल एशियाटिक सोसाइटी', १९३०, पृ० १५०

[3] डा० प्रबोधचंद्र बागची : 'कौल ज्ञान-निर्णय', भूमिका, पृ० २७

[4] डा० विनयतोष भट्टाचार्य : 'टू वज्रयान वर्क्स', भूमिका, पृ० ११-२

(सन् ६७८-१०३० ई०) का समकालीन होने से भी, इन का जीवन-काल १०वीं ईस्वी शताब्दी के पहले नहीं लाया जा सकता। हां, यह संभव है कि सिद्ध तेलोपा सिद्ध इंद्रभूति-प्रवर्तित आम्नाय के अनुयायी मात्र रहे और उन के गुरु यदि विजयपा ही रहे (जैसा 'स-स्क्य-व्कं-वुम्' की वंशावली से भी जान पड़ता है) तो यह नाम इन के किसी अन्य समकालीन सिद्ध का था। श्री राहुल सांकृत्यायन ने अपने 'चौरासी सिद्धों का वंशवृक्ष' में इन के एक दूसरे गुरु का नाम पद्मसंभव भी दिया है।

कहते हैं कि सिद्ध तेलोपा का जन्म किसी 'भृगुनगर' में हुआ था और सिद्ध नारोपा इन से दीक्षा ग्रहण करने के लिए किसी 'विष्णुनगर' में पहुँचे थे[1]। परंतु इन 'भृगुनगर' वा 'विष्णुनगर' में से किसी की भी भौगोलिक स्थिति ज्ञात नहीं। यदि दोनों (अथवा इन में से कोई एक भी) उड़ीसा प्रांत में रहे हों तो सिद्ध तेलोपा का उपरोक्त 'उडिष्यावासी' कहलाना भी सार्थक हो सकता है।

सिद्ध तेलोपा को जाति के अनुसार, ब्राह्मण अथवा 'राजवंशिक' कहा गया है और यह भी बतलाया गया है कि इन का भिक्षु-नाम 'प्रज्ञाभद्र' था, परंतु चर्या में ये तिल कूटा करते रहे इस लिए इन का नाम 'तिलोपा' पड़ गया[2]। सिद्धों की प्रकाशित चित्रा-वली के अंतर्गत इन के दाहिने हाथ में कोई कूटने का हथियार-सा दिखलाया गया है और बाएं में एक खप्पर-सी भी वस्तु दीख पड़ती है, किंतु उस खप्पर के अंदर की चीज़ साधारण तिल-सी नहीं जान पड़ती। यदि खप्पर 'तेली की खोपड़ी' समझा जाय तो बात ही और है। सिद्ध तेलोपा वा नारोपा के चित्रों में एक यह भी विशेषता है कि उन के शरीरों पर कोई मनुष्य की खाल, पीठ की ओर पड़ी हुई-सी जान पड़ती है; शिर के अंश पूरे-पूरे दाहिनी बग़ल में दिखलाई देते हैं, और पैरों की खालें कंधों के ऊपर पड़ी हुई वा उठाई हुई दिखलाई गई हैं। संभव है सिद्ध तेलोपा ने श्मशान पर कोई साधना की हो जिस का फलस्वरूप उन का विशेष नामकरण हुआ और उन के शिष्य नारोपा को भी उस की स्मृति के रूप में मनुष्य की खाल ओढ़नी पड़ी। जो हो, 'तंजूर' की सूची में इन का नाम, तिलोपा वा तेलोपा के अतिरिक्त, तेलिप व तैलिक

---

[1] **राहुल सांकृत्यायन : 'गंगा', पुरातत्त्वांक, पृ० २५७**
[2] **हरप्रसाद शास्त्री : 'बौद्ध गान ओ दोहा', सूची, पृ० २**

पाद के रूपों में भी लिखा मिलता है और इन की पदवी आचार्य, महाचार्य वा सिद्ध महाचार्य की भी पाई जाती है।

सिद्ध तेलोपा की रचनाओं की संख्या श्री राहुल सांकृत्यायन ने, 'तंजूर' के अनुसार, ११ बतलाई है, परंतु 'बौद्ध गान ओ दोहा' के अंत में दी हुई 'बौद्ध तांत्रिक ग्रंथकार नाम-सूची' के अंतर्गत इन के केवल छः ग्रंथों का ही उल्लेख है[1] और ये छः ग्रंथ भी उस में, तेलोपा के उक्त भिन्न-भिन्न नामों एवं पदवियों के सामने, अलग-अलग दिए गए हैं। इन्हीं छः ग्रंथों में वे चारों रचनाएं भी सम्मिलित हैं, जिन्हें उन्हों ने 'मगही हिंदी में' लिखित होना कहा है। इन चारों ग्रंथों में से भी इस समय हमें केवल 'दोहाकोष' मात्र उपलब्ध है। 'दोहाकोष' की एक पुरानी हस्तलिखित प्रति डाक्टर बागची को नेपाल के राजगुरु प्रसिद्ध हेमराज शर्मा के संग्रहों में सन् १९२९ ई० में मिली थी। डाक्टर बागची ने उस का लेखन-काल १३वीं ईस्वी शताब्दी बतलाते हुए, उसे 'बिल्कुल नई'[2] भी कहा है, किंतु उन्हों ने उस के पूरी वा अधूरी होने की चर्चा नहीं की है। इधर श्री राहुल सांकृत्यायन ने, कदाचित् उसी प्रति का उल्लेख करते हुए लिखा है—"राजगुरु के पास अपना भी प्राचीन ग्रंथों का एक अच्छा संग्रह है उस में दसवीं शताब्दी के सिद्ध तिल्लोपा का एक दोहाकोश मिला। ग्रंथ खंडित है।"[3] तौ भी जान पड़ता है, डाक्टर बागची ने, अपने उक्त 'दोहाकोष' का संस्करण निकालते समय, मूल पाठ के लिए, उसी प्रति का सहारा लिया है। इन के 'दोहाकोष' ग्रंथ में, तेलोपा के दोहाकोष के अतिरिक्त, सिद्ध काण्हपा व सिद्ध सरहपा के भी दोहाकोष संपादित हैं और साथ ही कुछ फुटकर पद्य भी संगृहीत हैं। सिद्ध तेलोपा के दोहाकोष में मूलपाठ के नीचे, टिप्पणी के रूप में, संपादक द्वारा किया गया प्रत्येक पद्य का संस्कृत रूपांतर है और ग्रंथ के अंतिम भाग में उक्त कोष की एक संस्कृत टीका भी दी हुई है। टीका पुराने ढंग पर लिखी जान पड़ती है, परंतु उस की प्रारंभिक प्रथम पंक्ति के न रहने के कारण, टीकाकार के विषय में कुछ पता नहीं चलता। टीका के अंत में भी केवल "श्री महायोगीश्वर तिल्लोपादस्य दोहाकोष पञ्जिका सारार्थ पञ्जिका नाम"

---

[1] **हरप्रसाद शास्त्री : 'बौद्ध गान ओ दोहा', सूची, पृ० २**
[2] **डा० प्रबोधचंद्र बागची : 'दोहाकोष', भूमिका, पृ० १**
[3] **राहुल सांकृत्यायन : 'मेरी तिब्बत यात्रा', पृ० १५८**

मात्र छपा है[1]। डाक्टर बागची के अनुसार दोहाकोष के 'अपभ्रंश भाग' का कोई तिब्बती अनुवाद भी 'तंजूर' के 'नार्थंग संस्करण' में सुरक्षित है और उन्हों ने अपने उक्त संस्करण के संपादन में उस से भी सहायता ली है। 'अपभ्रंश भाग' से डाक्टर बागची का तात्पर्य कदाचित् 'दोहाकोष' के मूलपाठ से है।

सिद्ध तेलोपा के उक्त 'दोहाकोष' में कुल मिला कर ३५ रचनाएं हैं जिन में से केवल ६ दोहे और शेष २६ चौपाई की अर्द्धालियों के रूप में हैं। इन दोहे एवं अर्द्धालियों की भी रचना प्रचलित नियमानुसार नही हुई है। छंदःशास्त्र के अनुसार कदाचित् ५ अर्द्धाली और एक दोहा ही शुद्ध उतर सकें। इसी प्रकार चौपाई और दोहे के प्रचलित क्रम का भी कोई अनुसरण किया गया नहीं जान पड़ता। कहीं-कहीं केवल अर्द्धालियां चलती हैं तो बीच में कहीं दो-तीन दोहे आ जाते हैं और फिर एक दो अर्द्धाली। वास्तव में 'दोहाकोष' सिद्ध तेलोपा की फुटकर रचनाओं का एक छोटा-सा संग्रह मात्र है जिस के पद्यों के क्रमादि को सुव्यवस्थित रखने की कोई चेष्टा नहीं की गई है। इस के सिवाय जिस प्रति के आधार पर डाक्टर बागची ने इसे संपादित किया है वह भी कदाचित् अधूरी है। ग्रंथ का विषय सहज तत्व है, और उस की सिद्धि के लिए की जाने वाली साधना एवं कतिपय छोटी-मोटी अन्य गौण बातों का भी प्रसंगानुसार समावेश कर दिया गया है। विषय-निर्वाह की कुव्यवस्था खटकती है। सिद्ध काण्हपा व सिद्ध सरहपा के 'दोहा-कोष' इस दृष्टि से कहीं अच्छे हैं। इस 'दोहाकोष' की उपयोगिता इस की भाषा की सरलता एवं भावों की स्पष्टता में है।

सिद्ध तेलोपा के 'दोहाकोष' के अनुसार उन के सिद्धांतों का सारांश हम इस प्रकार दे सकते हैं :—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार व विज्ञान नामक पाँचों स्कंध, पृथ्वी, जल, तेज, वायु व आकाश नामक पांचों भूत एवं आँख, कान, नाक, जीभ, काय व मन नामक छहों आयतन इंद्रियां—ये सभी—सहज द्वारा प्रभावित (बँधी हुई-सी) हैं। यह सहज न तो लाल, हरा, आदि किसी रंग का है और न छोटी-बड़ी, आदि किसी आकृति वाला ही ही है। तौ भी यह सभी प्रकार के रूपों व आकारों में एक-सा ही व्याप्त है। इस 'निर्मल सहज' में न तो पाप वा पुण्य का समावेश है और न यह कहीं से आता, कहीं जाता अथवा

---

[1] **डा० प्रबोधचंद्र बागची : 'दोहाकोष', भूमिका, पृ० ७१**

कहीं ठहरता ही है। यह गुरुदेव की कृपा से अपने भीतर केवल हृदयंगम किया जा सकता है। सहज के विषय में भाव अथवा अभाव अर्थात् भव एवं निर्वाण का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि वास्तव में, यह शून्य एवं करुणा की पूर्ण स्थिति का ही दूसरा नाम है और इसे ऐसा ही मानते हुए, हमें 'समरस' के लिए प्रयत्न करना चाहिए। संशोधित मन वा परमार्थ बोधिचित्त भगवान् स्वरूप है और खसम (वा तद्व्यापक महासुख) भगवती के समान है और इस प्रकार का ज्ञान रखने वाला दिन रात सहजावस्था में लीन रहा करता है। योगी की भावना तो ऐसी होनी चाहिए कि "मैं ही जगत् हूं, मैं ही बुद्ध हूं, मैं ही निरंजन हूं और मैं ही भवभंजन" अर्थात् संसार की भावना दूर करने वाला 'अमनसकार' वा शुद्धचित्त भी हूं। क्योंकि "यह मैं हूं, और यह जगत् है" ऐसी भावना वाला निर्मल चित्त का स्वभाव नहीं पहचान सकता।

परंतु चित्त की शुद्धि किस प्रकार की जाय? सिद्ध तेलोपा का कहना है कि सब से पहले, अपने (संकल्पाभिनिविष्ट) चित्त को त्रिभुवन शून्य निरंजन में ले जाकर मार डालो अर्थात् निःस्वभाव कर दो क्योंकि अपने संकल्पविकल्पी चित्त का भलीभाँति, इस प्रकार, संशोधन कर लेने पर इस जन्म में ही हमें मोक्ष का रहस्य मिल जाता है और सिद्धि भी प्राप्त हो जाती है। जब उपरोक्त प्रकार का चित्त संकल्प-विकल्प-रहित होकर शुद्ध होने लगता है तो पवन भी आप ही आप लीन होता जाता है। इस 'अमनसकार' वा मनोमारण क्रिया द्वारा एक निरालंब की स्थिति प्राप्त हो जाती है और वही निर्विकल्पक सहज ज्ञान की भी अवस्था है। फिर तो चित्त जहां कहीं भी जाय वह अचित्त हो गया सा ही प्रतीत होता है और इस प्रकार भावाभाव-रहित समरस की स्थिति स्वयं उत्पन्न हो जाती है अर्थात् चित्त शून्यरूप होकर समसुख में स्थित हो जाता है और इंद्रियों के विषय मात्र तक नहीं दीख पड़ते। सिद्ध तेलोपा ने चित्तशुद्धि के लिए की गई साधना को महामुद्रा की साधना भी कहा है और बतलाया है कि उक्त साधना द्वारा ही हमें (विचित्र, विपाक, निर्मल व विलक्षण नामक चारों) क्षणों का अनुभव प्राप्त होता है तथा उन के द्वारा मिलने वाले (क्रमशः प्रथमानंद, परमानंद, विरमानंद एवं सहजानंद नामक चारों प्रकार के) आनंदों के रहस्य का भी पता चलता है। सहजानंद की अवस्था ही सहज ज्ञान की अवस्था है जिसे प्राप्त कर साधक इसी जन्म में योगी वा सिद्ध बन जाता है।

वास्तव में किसी वस्तु को सचल वा निश्चल बतलाना केवल व्यवहार की बात

है और जन्म व मरण की भी भावना विकल्प मात्र है। शून्य ही निरंजन (सहजरूप) है और वही सब कुछ है, इस में संदेह नहीं। अतएव तीर्थ वा तपोवन की सेवा करना व्यर्थ है, और ब्रह्मा, विष्णु वा महेश्वर अथवा बोधिसत्त्व की आराधना भी मूर्खता के सिवाय कुछ नहीं। आराध्य वस्तु केवल बुद्ध वा अद्वय ज्ञान है जिस के साथ एकाकार होकर अद्वय चित्त कल्पवृक्ष की भाँति तीनों भुवनों में अपना विस्तार कर लेता है, करुणा फूलने व फल देने लगती है और अपने वा दूसरे का उपकार करने की भावना तक नहीं रह जाती। यही स्थिति वह स्वसंवेदन की अवस्था है जिस के अनुभव का वर्णन किया नहीं जा सकता और जो केवल गुरुदेव की कृपा द्वारा ही प्राप्त हुआ करती है। सिद्ध तेलोपा ने इसे सारे गुणों व दोषों से रहित 'परमार्थ' की भी संज्ञा दी है। स्वसंवेदन की सिद्धि प्राप्त कर लेने पर संसार के बंधनों का कुछ भी भय नहीं रह जाता, क्योंकि "जिस प्रकार विषतत्त्व का जानकार मनुष्य विष-भक्षण कर के भी नहीं मरता उसी प्रकार योगी भी संसार के विषय सुख को भोगा करता है और उसे संसार का बंधन प्राप्त नहीं होता।" अतएव सिद्ध तेलोपा का अंतिम उपदेश यह जान पड़ता है—

पर अप्पाण न भन्ति करु, सअल णिरन्तर बुद्ध।
तिहुअण णिम्मल परमपउ, चित्त सहावें सुद्ध॥

अर्थात् अपने व पराए की भ्रांति न करो, सब कुछ स्वभावतः बुद्धरूप है; त्रिभुवन मात्र निर्मल व परमपद है और चित्त भी स्वभावतः शुद्ध है।

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग १० } अक्तूबर, १९४० { अंक ४

गिलक्राइस्ट और हिंदी

[लेखक—डाक्टर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, एम्० ए०, डी० फ़िल्०]

लल्लूलाल और उन के 'प्रेमसागर' के नाते डॉ० जॉन बौर्थविक् गिलक्राइस्ट का नाम हिंदी साहित्य के इतिहास में गद्य के जन्मदाता और उन्नायक के रूप में लिया जाता है। सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने अपने 'दि मॉडर्न लिट्रेरी हिस्ट्री अव् हिंदुस्तान' के प्राक्कथन में लिखा है कि अँगरेज़ों ने हिंदी भाषा को जन्म दिया, और सब से पहले गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में 'प्रेमसागर' के रचयिता लल्लूलाल ने सन् १८०३ ई० में उस का साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयोग किया। 'ए लिट्रेरी हिस्ट्री अव् इंडिया' के लेखक आर० डब्ल्यू० फ़्रेज़र ने भी ग्रियर्सन महोदय के कथन का समर्थन किया है। सन् १९२४ ई० के 'कलकत्ता रिव्यू' में लिखते हुए श्री नलिनीमोहन सान्याल ने कहा है कि हिंदी भाषा अर्थात् खड़ी-बोली लल्लूलाल और सदल मिश्र की देन मानी जा सकती है। इसी भाँति, ग्रीब्ज़ तथा हिंदी के अन्य भारतीय इतिहास-लेखकों में भी ऐसी ही धारणा फैली हुई है। न मालूम इन विद्वानों के कथनों का क्या आधार है। संभवतः 'प्रेमसागर' की भूमिका में गिलक्राइस्ट का नाम जोड़ देने से ऐसा हुआ हो। मैं गिलक्राइस्ट द्वारा चुनी हुई भाषा के कुछ नमूने, उन के भाषा-संबंधी विचार, और 'प्रेमसागर' का इस संबंध में महत्व दिखला कर उपर्युक्त कथनों की भ्रमात्मकता सिद्ध करने की चेष्टा करूँगा।

ज़ॉन बौर्थविक् गिलक्राइस्ट[१] का जन्म सन् १७५९ ई० में एडिनबरा में हुआ था। स्थानीय जॉर्ज हैरियट्स अस्पताल में डॉक्टरी का अध्ययन कर चुकने के बाद ३ अप्रैल सन् १७८३ ई० में वे ईस्ट इंडिया कंपनी में सहायक सर्जन नियुक्त हुए, और उसी वर्ष कलकत्ता पहुँच गए। सन् १७९४ ई० में वे सर्जन बना दिए गए।

जिस समय गिलक्राइस्ट भारतवर्ष में आए उस समय कंपनी फ़ारसी भाषा का प्रयोग करती थी। कंपनी के अधिकारी अच्छी तरह या कामचलाऊ फ़ारसी जानने वाले कर्मचारियों पर विशेष कृपा रखते थे। उच्च पदाधिकारियों की समझ में फ़ारसी न आने के कारण राज्यकार्य में उन को बड़ी दिक़्क़तों का सामना करना पड़ता था। उस को दूर करने के लिए दुभाषियों से काम लिया जाता था। ये दुभाषिये या तो कंपनी के कर्मचारियों में से ही होते थे, या विज्ञापन द्वारा किसी फ़ारसी जानने वाले की नियुक्ति होती थी। लेकिन गिलक्राइस्ट ने देखा कि कंपनी जिस भाषा का व्यवहार करती थी वह देश की भाषा नहीं थी। दिल्ली-दरबार की अवनति के साथ-साथ फ़ारसी भाषा का प्रचार कम हो चला था और उस के स्थान पर हिंदुस्तानी का चलन हो गया था। उन्हों ने इस बात को महसूस किया कि राज्य कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए समाज की उच्च श्रेणी के जिन हिंदू और मुसलमानों के सहयोग की आवश्यकता थी उन में हिंदुस्तानी का ही प्रचार अधिक रह गया था। इस लिए कंपनी के कमचारियों को हिंदुस्तानी भाषा का ज्ञान होना परमावश्यक समझा गया। उन्हों ने स्वयं उस का अध्ययन करना शुरू कर दिया। कई वर्ष तक वे हिंदुस्तानी प्रदेश में घूमते रहे। इस बीच में उन्हों ने संस्कृत, फ़ारसी तथा कुछ और पूर्वी भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। उन की देखा-देखी कंपनी के और कर्मचारियों ने भी हिंदुस्तानी का अध्ययन शुरू कर दिया। इन

---

[१] स्वास्थ्य ख़राब हो जाने के कारण सन् १८०४ में वे घर लौट गए। ३० अक्तूबर सन् १८०४ में एडिनबरा यूनिवर्सिटी ने उन को एल्० एल्० डी० की उपाधि दी। ६ जनवरी सन् १८०९ में वे ३०० पाउंड की पेंशन पर कंपनी की नौकरी से अलग हो गए। सन् १८१६ में वे एडिनबरा से लंदन चले गए। वहां दो वर्ष बाद ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने कर्मचारियों को हिंदुस्तानी पढ़ाने के लिए उन्हें प्रोफ़ेसर नियुक्त किया। सन् १८२६ में उन्हों ने अपना काम सैन्फ़ोर्ड आर्नौट और डंकन फ़ौर्ब्स को सौंप दिया। ९ जनवरी सन् १८४१ में पेरिस में उन की मृत्यु हो गई। वे बड़े भारी रिपब्लिकन और स्वभाव के उग्र थे।

नौसिखियों और नए भरती किए गए 'राइटरों' (लेखकों) की सुविधा के लिए उन्हों ने कई ग्रंथों की रचना की। सन् १७८७-९० ई० में 'ए डिक्शनरी, इँगलिश एंड हिंदुस्तानी', २ भाग; सन् १७९६ ई० में 'ए ग्रामर अव् दि हिंदुस्तानी लैंग्वेज', और सन् १७९८ ई० में 'दि ओरिएंटल लिंग्विस्ट' नामक तीन प्रमुख ग्रंथों का उन्हों ने निर्माण किया। मार्क्विस वेलेज़ली को इस ओर कुछ दिलचस्पी थी। उन्हों ने गिलक्राइस्ट के हिंदुस्तानी भाषा के अध्ययन और प्रचार-कार्य की अत्यंत प्रशंसा की और यथाशक्ति वे उन को आर्थिक सहायता भी देते रहे। सन् १८०० ई० में फ़ोर्ट विलियम कॉलिज की स्थापना होने पर उन्हों ने गिलक्राइस्ट को हिंदुस्तानी विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया।

यहीं से गिलक्राइस्ट का हिंदी साहित्य में पदार्पण होता है। परंतु यदि हम उन के भाषा-संबंधी विचारों का अध्ययन करें तो उन की वास्तविक स्थिति का पता चलते देर न लगेगी।

गिलक्राइस्ट का हिंदुस्तानी से उस भाषा से तात्पर्य था जिस के व्याकरण के सिद्धांत, क्रिया-रूप आदि तो हलहेड द्वारा कही जाने वाली विशुद्ध या मौलिक हिंदुस्तानी ('प्योर ऑर ओरिजिनल हिंदुस्तानी'), और स्वयं उन के द्वारा कही जाने वाली 'हिंदुवी' या 'बृजभाषा' के आधार पर स्थित थे, लेकिन जिस में अरबी-फ़ारसी के संज्ञा-शब्दों की भरमार रहती थी। इस भाषा को केवल वे ही हिंदू और मुसलमान बोलते थे जो पढ़े-लिखे थे, और जिन का संबंध राज-दरबारों से था, या जो सरकारी नौकर थे। लिखने में फ़ारसी लिपि का प्रयोग किया जाता था। हिंदुस्तानी को उन्हों ने 'हिंदी', 'उर्दू', 'उर्दुवी' और 'रेख़्ता' भी कहा है। इन में केवल 'हिंदी' शब्द ही ऐसा है जो साहित्यिकों के दिमाग़ में उलझन पैदा कर देता है। हिंदी का 'हिंद की' के अर्थ में प्रयोग किया गया है, जो बिल्कुल ठीक है। हिंदुस्तानी उसी प्रकार हिंद की भाषा थी जिस प्रकार आधुनिक 'इँगलिस्तानी', यद्यपि उस का साहित्य में प्रयोग नहीं किया जाता। दूसरे, हिंदुस्तानी में खड़ीबोली का प्रयोग होने से भी वह 'हिंदी' कही जा सकती थी क्योंकि खड़ीबोली हिंदुस्तान की ही भाषा तो है। लेकिन 'हिंदी' के स्थान पर 'हिंदुस्तानी' शब्द उन्हों ने इस लिए पसंद किया कि 'हिंदुवी' 'हिंद्वी' या 'हिंदुई' और 'हिंदी' शब्दों से, जो बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं, कोई गड़बड़ी पैदा न हो सके। 'हिंदुवी' को वे केवल हिंदुओं की भाषा मानते थे। मुसलमानी आक्रमण से पहले यही भाषा देश में प्रचलित थी और इसी के

आधार पर हिंदुस्तानी का भवन खड़ा हुआ था। यहां पर यह बतला देना ज़रूरी है कि 'हिंदी'-'हिंदुवी' शब्दों का यह भेद जन-साधारण में प्रचलित नहीं था।[१] इस प्रकार 'हिंदुवी' और 'हिंदुस्तानी' का भेद मान कर गिलक्राइस्ट ने तीन प्रचलित शैलियां निर्धारित कीं—(१) दरबारी या फ़ारसी शैली, (२) हिंदुस्तानी शैली और (३) हिंदुवी शैली। फ़ारसी शैली दुरूह होने और सर्वसाधारण की समझ में न आ सकने के कारण उन्हें अग्राह्य थी। 'हिंदुवी' शैली को वे गँवारू कह कर पुकारते थे। सिर्फ़ 'हिंदुस्तानी' शैली उन को पसंद आई जो उन के मतानुसार हिंदुस्तान की महान् लोकप्रिय बोली ('दि ग्रांड पापुलर स्पीच अव् हिंदुस्तान') थी। इस शैली में दक्षता प्राप्त करने के लिए फ़ारसी भाषा और लिपि का ज्ञान अनिवार्य था। वे स्वयं तो रोमन लिपि के कट्टर पक्षपाती थे। लेकिन फ़ारसी लिपि से उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी क्योंकि 'हिंदुस्तानी' (यां उर्दू) के पुराने कवियों, जैसे, मीर, दर्द, सौदा आदि, ने इसी लिपि का प्रयोग किया था। अच्छी हिंदुस्तानी लिखने के लिए फ़ारसी शब्दों का मिश्रण आवश्यक समझा गया। और अच्छी हिंदुस्तानी के उदाहरण या तो सौदा की रचनाओं में या स्वयं गिलक्राइस्ट की बनाई किताबों में दिए गए हिंदुस्तानी भाषा के नमूनों में या आया, खानसामा और मुंशी की भाषा में मिल सकते थे। इस लिए कोई हिंदू भी अच्छा 'हिंदुस्तानी मुंशी' बन सकता है, यह बात वे मानने के लिए तैयार नहीं थे। संक्षेप में उन्हों ने हिंदुस्तानी का यह सूत्र (फ़ॉरम्यूला) दिया है—

---

[१] जनसाधारण की भाँति श्रीरामपुर मिशनरियों ने भी 'हिंदुई' और 'हिंदी' में कोई भेद नहीं माना। सन् १८१२ ई० में प्रकाशित अपने चौथे संस्मरण में उन्हों ने लिखा है—

"हम हिंदुई या हिंदी नाम हिंदुस्तानी की उस बोली को देते हैं जो मुख्यतया संस्कृत से निकली है, और जो मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व सारे हिंदुस्तान में बोली जाती थी। जन-साधारण में सब से अधिक समझी जाने वाली अब भी यही भाषा है।'

"We apply the Hindooee, or Hindee, to that dialect of the Hindoosthanee which is derived principally from the Sungskrit, and which, before the invasion of the Musulmans, was spoken throughout Hindoosthan. It is still the language most extensively understood, particularly among the common people."

साथ ही उन्हों ने 'हिंदी' और 'हिंदुस्तानी' का एक अर्थ में भी प्रयोग किया है। हिंदी से उन का अर्थ पश्चिमी हिंदी से था जिस को अँगरेज़ी में उन्हों ने इस प्रकार लिखा है— Hindee. (देखिए फ़ुटनोट२पृ० ३३६)

उपर्युक्त अवतरण का अंतिम वाक्य ध्यान देने योग्य है।

हिंदुवी+अरबी+फ़ारसी=हिंदुस्तानी[1]

यही 'फ़ॉरम्यूला' यदि इस रूप में रख दिया जाय तो उस में कोई अंतर न पड़ेगा—

हिंदुवी+अरबी+फ़ारसी=उर्दू

याद रखना चाहिए कि गार्सां द तासी ने 'ऐंदुई' और 'ऐंदुस्तानी' का गिल्क्राइस्ट के 'हिंदुवी' और 'हिंदुस्तानी' शब्दों के अर्थ में ही प्रयोग किया है।

अब उन के बनाए हुए ग्रंथों का निरीक्षण करना चाहिए ताकि ऊपर कही गई बातें और साफ़ हो जायँ। गिलक्राइस्ट की सहायता से प्रधान सेनापति के फ़ारसी भाषा के दुभाषिया विलियम स्कॉट ने सन् १७९० ई० में 'आर्टिकिल्स अव् वार' का हिंदुस्तानी में अनुवाद किया था। 'दि ओरिएंटल लिंग्विस्ट' के सन् १७९८ और १८०२ ई० के दोनों संस्करणों में ये शामिल हैं। उन में से एक अवतरण नीचे उद्धृत किया जाता है—

"पहली आईन आठवीं बाब की

"जिस वक़्त किसी ओहदेदार, या सिपाही पर, बड़े गुनाह की नालिश हो, या किसू रय्यत के बदन या माल के कुछ बिदत, या नुक़सान करने की फ़रीआद होवे, जिस की सज़ा रेजीमेंट, रिसाले, कंपनी या तईनाती में वुह आसामी, या वे आसामी एलाक़ा रखते हों, जिन पर फ़रीआद हुई है; तौ ऊस ही के सर्दार, और ओहदेदारों को चाहिएं, इस आईन के मुआफ़िक़ मुनासिब दरख़्वास्त पर, ऊस फ़रीआदी या फ़रीआदियों से, या ऊन के तरफ़ से, कि अपनी मक़दूर भर ऊस आसामी या आसामियों को, जिन पर नालिश हुई है, मुल्की हाकिम को सौंपे; और इस के चाहिए कि अदालत के ओहदेदार को मदद ओ सहारा देवे, ऊस आसामी या आसामियों के पकड़ने, और सलामत पहुँचाने में, वास्ते तहक़ीक़ात इस नालिशी मुक़द्दमे के. अगर कोई सर्दार या ओहदेदार देख सून के न माने, या ग़फ़लत करे उसी दरख़्वास्त की रू से मुल्की हाकिम को ऊस आसामी या आसामियों के सौंपने में या इस आसामी, या आसामियों के पकड़ने में अदालत के लोगों

---

[1] 'दि ओरिएंटल लिंग्विस्ट', भूमिका, पृ० १

की कूमक न करे, तौ वुह सर्दार या वे ओहदेदार तक़सीरमंद ओहदे और नौकरी से बरतरफ़ होंगे।" (१७९० ई०)

(रोमन लिपि से)

मेजर ब्राउटन के 'सेलेक्शंस फ़ाम दि पॉप्यूलर पोएट्री अव् दि हिंदुज़' की भूमिका से उद्धृत करते हुए उर्दू (या हिंदुस्तानी) भाषा और हिंदी सिपाही के विषय में टॉम्पसन साहब की 'हिंदी एंड इँगलिश डिक्शनरी' का एक समीक्षक लिखता है—

'लेकिन[1] हमारे हिंदी सिपाहियों में से बहुत कम अपने गाँवों को छोड़ते समय इस भाषा का ज्ञान रखते हैं। लंबी नौकरी के बीच निःसंदेह वह इस से कुछ अधिक परिचित हो जाते हैं, पर आजन्म वह अपनी मौलिक बोली का इतना व्यवहार बनाए रखते हैं कि एक पुराने सिपाही और उन के अनुभवी अफ़सरों के बीच एक दुभाषिये की बहुधा आवश्यकता पड़ती है।"

इसी आधार पर कुछ लोगों ने, मुख्यतया श्रीरामपुर के पादरियों ने, इस भाषा का विरोध भी किया था।[2]

---

[1] With this language, however, few of our Hindi Sipahis are conversant when they quit their native villages. In the course of long service they doubtless acquire more of it, but throughout their lives, they generally retain so much of their original dialect, that it not unfrequently requires a third person to interpret between a veteran soldier and his experienced officer— **'कलकत्ता रिव्यू', १८४८ ई०**

[2] **५ मार्च सन् १८१६ ई० के छठे संस्मरण में श्रीरामपुर के पादरियों ने लिखा है—**

"सच बात तो यह है कि नवीनतम शोधों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि हिंदी किसी भी प्रदेश को अपना विशेष प्रदेश नहीं बता सकती। मुसलमानी दरबारों और बाज़ारों की भाषा होने के कारण यह उन शहरों और क़स्बों में बोली जाती है जो कि मुसलमानी शासकों की राजधानी रह चुके हैं या अब हैं अथवा उन मुसलमानों द्वारा बोली जाती है जो कि यूरोपियन संभ्रांत व्यक्तियों के सारे हिंदुस्तान में ताबेदार हैं। इसी लिए यह वह भाषा है कि जिस से सब से पहले यूरोपियन लोग परिचित होते हैं और जिस पर प्रायः उन की भाषा-संबंधी खोज का अंत हो जाता है। परिस्थितियों से ऐसा विश्वास फैल गया है कि यह भाषा अधिकांश हिंदुस्तान की भाषा है; लेकिन वास्तव में यह भाषा बड़े शहरों से २० मील की दूरी पर भी जन-साधारण के लिए सदा सुबोध नहीं होती है। वह अपनी-अपनी बोली अलग बोलते हैं जैसे बंगाल में बंगाली, और अन्य प्रदेशों में अन्य भाषाएं। इस से एक परिस्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है जिस से कि न्याय-विभाग के अधिकारीगण परिचित हैं अर्थात् कंपनी सरकार के नियमों की विज्ञप्तियों पर इस लिए

सन् १७९६ ई० में उन्हों ने 'ए ग्रामर अव् दि हिंदुस्तानी लैंग्वेज' की रचना की। इस व्याकरण के सिद्धांत तो 'हिंदुवी' पर आधारित हैं परंतु और सब बातें हिंदुस्तानी (या उर्दू) की हैं। उदाहरण के लिए छंद उन्हों ने 'फ़ाइलुन', 'फ़ाइलातुन', 'मफ़ाइलुन', 'फ़ाइलात' आदि चुने हैं। फ़ारसी या अरबी लिपि के उन्हों ने 'नस्तालीक़', 'नस्ख़', 'शिकस्तआमेज़', 'शिकस्ता', 'शफ़ीअ' और 'शुल्स' भेदों का वर्णन किया है। सब से आश्चर्यजनक बात तो गिलक्राइस्ट ने यह कही है कि 'हिंदुवी' लिपि को मुसलमान तो कोई नहीं समझ पाता और हिंदू भी बहुत थोड़ी संख्या में उसे समझ पाते हैं। न मालूम उन के इस कथन का क्या आधार है। उदाहरण के लिए अवतरण भी उन्हों ने उर्दू साहित्य से चुने हैं और वली, दर्द, ताबां, मिस्कीन, अफ़ज़ल, जुरत, मीर, सौदा, बेदार आदि की हिंदुस्तानी कवियों में गणना की है। विस्तार के भय से और उदाहरण तो नहीं दिए जा सकते, लेकिन इतनी ही बातों से साफ़ ज़ाहिर है कि गिलक्राइस्ट का हिंदुस्तानी से

बहुधा आपत्ति की जाती है कि वे हिंदुस्तानी में होती हैं और देश में जनसाधारण के समझ में नहीं आती हैं।

"......The fact is, indeed, that the latest and most exact researches have shown, that the Hindee has no country which it can exclusively claim as its own. Being the language of the Musalman courts and camps, it is spoken in those cities and towns which have been formerly or are now, the seat of Musalman princes; and in general by those Musalmans who attend on the persons of European gentlemen in almost every part of India. Hence it is the language of which most Europeans get an idea before any other, and which indeed in many instances terminates their philological researches. The circumstances have led to the supposition, that it is the language of the greater part of Hindoostan; while the fact is, that it is not always understood among the common people at the distance of only twenty miles from the great towns in which it is spoken. They speak their own vernacular language, in Bengal the Bengalee, and in other countries that which is appropriately the language of the country, which may account for a circumstance well-known to those gentlemen who fill the judicial department; namely, that the publishing of the Honourable Company's Regulations in Hindoosthanee has been often objected to, on the ground that in that language they would be unintelligible to the bulk of the people in the various provinces of Hindoostan."

यहां पर 'हिंदी' और 'हिंदुस्तानी' का एक अर्थ में प्रयोग किया गया है। फ़ुटनोट १ पृ० ३३४ की 'हिंदी' उपर्युक्त 'हिंदी' से भिन्न है। ध्यानपूर्वक दोनों अवतरणों को पढ़ने से यह भेद स्पष्ट ज्ञात हो जायगा।

मंतलब उर्दू का था।

सन् १७९८ ई० में 'दि ओरिएंटल लिंग्विस्ट' का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ। इस में 'दि रुडीमेंट्स अव् दि हिंदुस्तानी टंग' ('हिंदुस्तानी भाषा की मौलिक बातें') नामक एक छोटा सा ग्रंथ भी शामिल है। इस के अतिरिक्त साहबों के लाभार्थ हिंदुस्तानी में बातचीत ('डायालाग्ज़') फ़ौजी शब्दावली ('मिलिटरी टर्म्स'), फ़ौजी क़ानून ('आर्टिकिल्स अव् वार'), क़िस्से-कहानियों ('टेल्स एंड अनेकडोट्स',) कविताओं ('ओड्स'), और रेख़्ता और ग़ज़ल के रूप में हिंदुस्तानी संगीत के उदाहरण दिए गए हैं। अँगरेज़ी-हिंदुस्तानी कोष ('वोकाब्यूलरी—इँगलिश एंड हिंदुस्तानी') सन् १७९८ई० और सन् १८०२ ई० वाले दोनों संस्करणों में है। १८०२ ई० के संस्करण में पारिभाषिक शब्द, हिंदुस्तानी गिनती, दिन आदि कुछ नए विषयों के अतिरिक्त कुछ नई कविताएं और कहानियां भी दे दी गई हैं। इन सब की भाषा हिंदुस्तानी है। नमूने के तौर पर कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

> "जो जड़ और डाल पात किसू क़िस्से के लोगों के दिलों पर बहुत असीर-पज़ीर है, तौ ऊस को थोड़ा ही सा उज्र आदमीयों के सुनाने के लीए चहीए. यिह कहानी भरी हुई है कई एक दिलरेश वारिदात से, कि नतीजा औ तासीर में ऊस की हम सब थोड़ा बहुत शरीक हैं. मैं कहा, "ऐ बड़े मिआं तुम्हें किआ दुख है ?" "हाए ! साहिब, मेरी लड़की को तुम ने देखा है ?" जिस शख़्स ने यिह ऐसा जवाब मुझे दीआ, सो वुह एक ग़रीब अंधा मर्द बैठा था, खोखरे दरख़्त की एक जड़वत पर, जिस के नीचे एक फ़ुट हरी सी नाली बहती थी, ऊस के सिर की चाँदी की सब सोभा लूटी हुई थी, लुटेरे वक़्त के सख़्त हाथ से;—औ झोली पैबन्दी ऊस की भी खाली थी लछमी की मिहरबानी से,—एक बाँस की लाठी जिस पर ऊस्के निर्बल हाथ टिके हुए थे, औ देही उस की भूख की कठिन चोट से मेरी नज़र में जो डूबने पर थी ग़श में,—औ फूटी आँखें औ थरथराती आवाज़ ऊस की यिह दरोबस्त देख, त्रुंत एक इबरत अदाबाना दिल में मेरे पैदा हुई. फिर ऊस सुरत ज़ाहिरी की तरफ़ जो मूझे इस हैरत में पाबंद कीआ मैं तक रहा, तौ जी में बूझा, कि क़ुदरत इलाही ने इस ज़ईफ़ की पर्वरिश से एक क़लम हाथ उठाया.

जो निर्मल नाला ऊसके पैरों के तले खलखलाता था वुह भी आफ़त की ज़बान हमावाज़ हो, चीं अब्रूई से खड़खड़ाता रहा, गोया कि वाक़िफ़ था ऊस के पैहम हादिसों से......" (१७९८ ई०)

(रौमन लिपि से)

"यूं सुना है कि हिंद में किसी वक़्त एक पादशाही अदील था, उसे यिह ख़बर पहुँची, कि फ़लाने शहर का हाकिम बड़ा ज़ालिम था, सो मर गया; तब ऊसने दिल में यिह मन्सूबा कीआ कि अपने ख़ासुलख़ास अमीरों से जो बड़ा मुन्सिफ़ हो, सो भेजा चाहीए, कि लोग वहां के फिर अज़ीयत न पावें. उन्ह में से एक को तजवीज़ कीआ और मुशाहरा ऊसका औरों की निस्बत ज़ीआदा ठहराया और जागीर भी अच्छी मुकर्रर की, तिस पीछे रुख़्सत कीआ, और उसे कहा. जो अदील रहेगा तो यिह हमेशा बहाल रहेगी, आख़ीरश अन्क़रीब फिर यिह बात मशहूर हुई कि बदस्तूर-इ-साबिक़ शहर की रय्यत पर वुही बीदत रहती है, शाह ने सुन कर कुछ इल्तिफ़ात न की, क्योंकि ऊस की दानिस्त में वुह बड़ा अमीन था....." (१८०२ ई०)

(रोमन लिपि से)

दूसरे उद्धरण वाली कहानी फ़ोर्ट विलियम कॉलिज के विद्यार्थियों को अभ्यास के रूप में दी गई थी। यह याद रखना चाहिए कि यह क़िस्से-कहानियों की भाषा है जिस में 'सोभा', 'निर्बल', 'चतुर', 'कठिन', 'लगभग', 'लजाना', 'पात' आदि शब्द भी आ गए हैं। परंतु इन से हमारे कथन में कोई अंतर नहीं पड़ता। उन की चुनी हुई भाषा 'ईसवीअत का तवक्कुल काफ़िर हूआ, इस असेब की अज़ीअत फ़रो करने में' जैसी शब्दावली से भरी हुई है। सन् १८०२ के संस्करण में अँगरेज़ी पारिभाषिक शब्दों का हिंदुस्तानी में जो अनुवाद किया गया वह भी हमारे कथन की पुष्टि करता है।[१]

[१] Abbreviation — **इख़्तिसार**
Abstract — **ख़ुलासा, इंतिख़ाब**
Accusative — **मफ़ूल**
Adjective — **सिफ़त**
Adverb — **हर्फ़ ज़र्फ़, तमीज़**

फ़ोर्ट विलियम कॉलिज के विद्यार्थियों में जिस भाषा का प्रचार किया जा रहा था उस से भी हमारे कथन की पुष्टि होती है। विलियम बटरवर्थ बेली, जो सन् १७९९ ई० में 'राइटर' (लेखक) की हैसियत से भारतवर्ष आए थे और जो १३ मार्च सन् १८२८ ई० से ४ जुलाई सन् १८२८ ई० तक स्थानापन्न गवर्नर रह कर बाद को कोर्ट के डाइरेक्टर तक हो गए थे, गिलक्राइस्ट के विद्यार्थी थे। कॉलिज के नियमानुसार होने वाले वार्षिकोत्सव पर ६ फ़रवरी सन् १८०२ ई० में हिंदुस्तानी पर उन्हों ने एक 'थीसिस' (प्रबंध) पढ़ा था जो सन् १८०४ ई० के लगभग प्रकाशित विद्यार्थियों द्वारा लिखे हुए लेखों के संग्रह ('एसेज़ एंड थीसेस कंपोज़्ड') में छपी थी। उक्त 'थीसिस' की कुछ पंक्तियां नीचे उद्धृत की जाती हैं—

"आख़िरुल अमर यिह बोली हिंदुस्तान सब को अज़ीज़ ओ प्यारी हुई ओ अकसर मुतवत्तिनों ने इसी मुरक्कब ज़बान पर राग़िब होकर इस को अख़ज़ कीआ कि अपने ऐसे मुआमलात जिन का इस्तिहकाम मौकफ़ तहरीर पर न हो उन में इसी से कलाम करें।"

"हिंदू भी जो कदरे इमतियाज़ रखता हो या मुसलमानों से या अंगरेज़ी क़ौम से जिस को कुछ ऐलाकः हे थोड़ी बहुत हसविहाल अपने नहीं हो सकता कि न जानें।"

"अगरचि साहिवि मुहावरः हिंदूस्तानी ज़बान के फ़रवर नहीं

Adverb of Time	ज़र्फ़ी ज़मान
Adverb of Place	ज़र्फ़ी मुकान
Allegory	मजाज़
Article	हर्फ़, इस्म
Case	हालत
Compound	मुरक्कब
Declinable	मुतर्सारिफ़
Future	इस्तक़बाल, मुसतक़बिल
Grammar	सर्फ़-ओ-नहो, क़ाइदा-क़वानीन
Hyperbole	मुबालग़ा
Plural	जमा

करते कि इस में वहुत नसर की कितावें या तसानीफ़ि इल्मी हैं. पर कितने ऐक क़िस्से खूव ओ गज़लें मरग़ूव ओ ग़ैरे नज़्म में मौजूद हैं। दरकिनार यिह कि मुआमलति महाजनी ओ लश्करी ओ मुहिम्माति मुल्की ओ ग़ैरे कि तअल्लुक़ नविश्त ख़्वांद से रखते हैं उन्हों में भी ज़वानि हिंदी जारी है।"

"ऐक फ़ाऐदाः यिह भी है कि अकसर और ज़वानों का इक्तिसाव इस की खूव शिनासाई से आसान होता ओ सिर्फ़ यिही ज़वान वसीलः है कि जिस से क़रार वाक़ई वेइनसाफ़ी ओ तग़ल्लुव रैयत से दूर हो जावे।"

और चाहे जो कुछ भी हो उपर्युक्त अवतरणों की भाषा 'हिंदुवी', हिंद्वी' या आधुनिक हिंदी नहीं है। नागरी लिपि का प्रयोग जरूर किया गया है। वह भी गिलक्राइस्ट की इच्छा के विरुद्ध। कंपनी-सरकार जानती थी कि व्यापारियों से, जो मुड़िया, कैथी आदि लिपियों का प्रयोग करते थे, संबंध वढ़ाने के लिए देवनागरी लिपि का ज्ञान परमावश्यक था।

अब रह गई 'प्रेमसागर' की बात। सन् १८०० ई० में फ़ोर्ट विलियम कॉलिज की स्थापना होने पर वेलेज़ली ने गिलक्राइस्ट को फ़ारसी और हिंदुस्तानी विभाग का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया। उन्हों ने बड़ी तेज़ी और मुस्तैदी के साथ पाठ्य-पुस्तकें तैयार कराने की व्यवस्था की। इस कार्य के लिए बहुत-से मुंशी उन की अध्यक्षता में रक्खे गए। परंतु इतना सब कुछ होते हुए भी सिविलियनों को हिंदुस्तानी भाषा सीखने में बड़ी कठिनाई हुई। क्योंकि हिंदुस्तानी (या उर्दू) का प्रासाद 'भाखा' के आधार पर खड़ा हुआ था। इस लिए कॉलिज के कार्य में सहायता देने के लिए उन्हें एक 'भाखा-मुंशी' की जरूरत हुई। फलस्वरूप सन् १८०० ई० में लल्लूलाल, जो अपनी आजीविका के लिए कलकत्ता आए हुए थे, कॉलिज में 'भाखा-मुंशी' नियुक्त हुए। सन् १८०३-९ ई० में लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' की रचना की। 'प्रेमसागर' ब्रज-रंजित खड़ीबोली गद्य में है। आधुनिक खोजों से काफ़ी प्रमाणित हो चुका है कि लल्लूलाल द्वारा खड़ीबोली का प्रयोग कोई नई बात नहीं थी। उस से पहले भी हिंदी साहित्य में खड़ीबोली का प्रयोग होता था, यद्यपि साहित्य में उस को प्रमुख स्थान न मिल सका था जो धीरे-धीरे उन्नीसवीं शताब्दी में मिला। साहित्यिक दृष्टि से 'प्रेमसागर' सड़ियल रचना है। सदल मिश्र

कृत 'नासिकेतोपाख्यान' उस से कहीं अच्छी रचना है। लेकिन कॉलिज के पाठ्य-क्रम में उस की पूरी-पूरी उपेक्षा की गई। यदि गिलक्राइस्ट सच्चे हृदय से हिंदी गद्य के शुभ-चिंतक होते तो वे ज़रूर विद्यार्थियों को 'नासिकेतोपाख्यान' पढ़ाते। लेकिन ऐसा कभी नहीं हुआ।

वास्तव में लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' का प्रयोजन केवल हिंदुस्तानी भाषा के लिए मुहावरों की पूर्ति करना[१] और सिविलियन विद्यार्थियों को भारतीय रहन-सहन और रीति-रस्मों का ज्ञान कराना था। यह तो सर्वमान्य है कि हिंदुस्तानी या उर्दू का प्रासाद 'हिंदुवी' के आधार पर खड़ा हुआ था। लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' ने गारे-चूने का काम दिया। उन की दूसरी प्रमुख रचना 'राजनीति' ब्रजभाषा गद्य में है। उन के 'बैताल-पच्चीसी' और 'सिंहासनबत्तीसी' नामक ग्रंथों की भाषा रेख़्ता या हिंदुस्तानी या उर्दू है। गिलक्राइस्ट जिस भाषा के पक्षपाती थे उस का लगभग सामीप्य इन दोनों ग्रंथों की भाषा में पाया जाता है। शहराती मुसलमान और उच्च स्तर के पढ़े लिखे हिंदू जिन का मुसलमानी दरबार से संबंध था लगभग ऐसी ही भाषा बोलते थे। जन-साधारण की भाषा इस भाषा से दूर थी। शासक-वर्ग उसे बहुत कम समझ पाता था। और फिर 'प्रेमसागर' की भाषा का आनेवाले साहित्य पर कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। यह है 'प्रेमसागर' के निर्माण की कहानी और उस से गिलक्राइस्ट के संबंध का इतिहास। सन् १८०४ ई० में वे अपने घर लौट गए।

सच बात तो यह है कि गिलक्राइस्ट ने हिंदुस्तानी या उर्दू गद्य का निर्माण किया[२] न कि हिंदी गद्य का।

क्या अब भी गिलक्राइस्ट हिंदी गद्य के जन्मदाता और उन्नायक समझे जायँगे ?

---

[१] 'कलकत्ता रिव्यू', १८४६ ई०

"......In Hindi, the Prem Sagar, which has nought to recommend it but idiom, as the subject matter is a wearisome and endless repetition of the amours of Krishna......"

अर्थात् हिंदी में 'प्रेमसागर' का मूल्य केवल उस के मुहावरों के कारण है, जहां तक विषय की बात है उस में कृष्ण की अनेक और थकाने वाली प्रेमक्रीड़ाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

[२] एडवर्ड बालफ़र : 'दि इन्साइक्लोपीडिया आव् इंडिया (१८८५ ई०)', जिल्द १, पृ० १२०३

कविवर नंददास-कृत 'रासपंचाध्यायी'

[लेखक—श्रीयुत दीनदयालु गुप्त, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०]

महाकवि नंददास की प्रौढ़ रचनाओं में से 'रासपंचाध्यायी' का विशेष स्थान है। इस ग्रंथ को गार्सां द तासे, शिवसिंह सेंगर, मिश्रबंधु, सर जॉर्ज ग्रियर्सन, पंडित रामचंद्र शुक्ल आदि सभी विद्वानों ने नंददास की कृति माना है। पहले-पहल यह ग्रंथ संवत् १८७२ में मथुरा से छपा। इस के बाद भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने इसे अपनी पत्रिका 'हरिश्चंद्र-चंद्रिका' में सन् १८७८-७९ ई० में प्रकाशित किया, जिस में उन्हों ने मूलपाठ के अतिरिक्त कोई भूमिका नहीं दी थी। उस के बाद अब तक इस ग्रंथ के अनेक संस्करण निकल चुके हैं, जिन का ब्यौरा हम ने एक स्वतंत्र लेख में दिया है।[१] शिवसिंह सेंगर, नागरी-प्रचारिणी सभा की 'खोज-रिपोर्ट' तथा भारतेंदु हरिश्चंद्र ने इस ग्रंथ का नाम 'पंचाध्यायी' दिया है, और 'हरिश्चंद्रचंद्रिका' में यह ग्रंथ इसी नाम से छपा है। अन्य प्रकाशित प्रतियां 'रास-पंचाध्यायी' के नाम से ही छपी हैं। विविध स्थानों से प्रकाशित तथा 'रासपंचाध्यायी' की उन हस्तलिखित प्रतियों में जो हमारे देखने में आई हैं, अनेक पाठांतर हैं, और छंद-संख्या में भी असमानता है। इस से विदित होता है कि 'रासपंचाध्यायी' के छंदों में पीछे से लोगों ने बहुत मेल कर दिया। किसी-किसी प्रति में तो इतने प्रक्षिप्त अंश है कि मूल ग्रंथ दूने आकार का हो गया है।

नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्टों में नंददास[२] के अतिरिक्त छः अन्य कवियों की रासपंचाध्यायियों का उल्लेख है। ये कवि कृष्णदेव,[३]

---

[१] 'नंददास संबंधी आधुनिक लेखों का निरीक्षण'—यह लेख 'हिंदुस्तानी' के किसी आगामी अंक में प्रकाशित होगा।

[२] खोज-रिपोर्ट, १९०१ (नं० ६९), १९०६-८ (नं० २०० ए)।

[३] वही, १९०९-११ (नं० १५९)। इस पंचाध्यायी का लिपि-काल सं० १८८७ है।

दामोदर,[1] गोपालराय,[2] व्यास[3] (ओरछा निवासी), रामकृष्ण चौबे,[4] तथा सुंदरसिंह[5] हैं।

इन के अतिरिक्त अष्टछाप के सभी कवियों ने कृष्ण की रासलीला के पद गाए हैं। अष्टछाप के भक्तकवि कृष्णदास ने पदों के अतिरिक्त छंदों में भी एक छोटी-सी 'रासलीला' लिखी है, जो वल्लभ-संप्रदाय के 'वर्षोत्सव-कीर्तन',[6] में छपी है।

नंददास की 'रासपंचाध्यायी' की अनेक हस्तलिखित प्राचीन प्रतियां हमारे देखने में आई हैं। स्वर्गीय पंडित मयाशंकर याज्ञिक अलीगढ़-निवासी के संग्रहालय में हम ने नंददास-कृत 'रासपंचाध्यायी' की ९ प्रतियां देखी हैं, जिन में सब से प्राचीन प्रति संवत् १७८० की है। इन प्रतियों में से एक प्रति के अंत में राधावल्लभ-संप्रदायी लिपिकार ने वल्लभ-संप्रदाय के अतिरिक्त अन्य कृष्णभक्त वैष्णव-संप्रदायों के नाम दिए हैं, जिस से ज्ञात होता है कि नंददास की 'रासपंचाध्यायी' का आदर तथा पठन-पाठन अन्य कृष्णपूजा-संप्रदायों में भी था। यह उल्लेख इस प्रकार है—

"श्री राधावल्लभो जयति—नंददास, कुंभनदास, कृष्णदास, गदाधर भगवानदास, परमानंद, गोविंदप्रभु, सूरदास, चतुर्भुजदास, आसकरन, श्री हरिवंश गुसाईं, श्री हरिदास स्वामी, व्यासस्वामी, छीतस्वामी रसिक।" हिंदी साहित्य के इतिहास से विदित होता है कि ये सभी भक्त नंददास के समकालीन कवि थे।

किसी-किसी प्रति में लिपिकार ने नंददास को 'स्वामी नंददास' कह कर लिखा है, यथा "इति श्री पंचाध्यायी स्वामी नंददास कृत संपूर्ण"। नंददास की जीवनी में हम ने बताया है[7] कि वल्लभ-संप्रदाय के अष्ट सखा कवियों में चार भक्त, सूरस्वामी, परमानंदस्वामी, गोविंदस्वामी और छीतस्वामी स्वामी कहलाते हैं और चार भक्त कृष्ण-

---

[1] खोज-रिपोर्ट, १९१२-१४ (नं० ४६ जी)। रचना-काल सं० १६९९। यह ग्रंथ सवैया छंदों में है। कवि हितहरि-संप्रदाय का था।

[2] वही, १९१२-१४ (पृ० ८६)। ग्रंथ कवित्त छंदों में है।

[3] वही, १९१२-१४। यह रचना त्रिपदी और चौपाई छंदों में है।

[4] वही, १९०६-८ (नं० १०० एफ़्)

[5] वही, १९०४ (नं० ७३)। निर्माण-काल १८६६। रचना दोहा-चौपाई छंदों में है।

[6] भाग २, पृ० ३१०-१३ (प्रकाशक, लल्लूभाई छगनलाल, अहमदाबाद)

[7] 'हिंदुस्तानी', जूलाई १९४०

दास, कुंभनदास, नंददास और चतुर्भुजदास दास कहलाते हैं। वल्लभ-संप्रदाय में इस का यह तात्पर्य बताया जाता है कि वल्लभ-संप्रदाय में आने के पहले 'स्वामी' कहलाने वाले चार भक्त अपने शिष्य भी बनाते थे और वे या तो किसी अन्य संप्रदाय की दीक्षा देते थे अथवा, काव्य और गान विद्या के आचार्य होने के कारण कविता और गान विद्या-प्रेमी लोगों को उन विषयों की शिक्षा देते थे। नंददास जी, 'स्वामी' नाम से वल्लभ-संप्रदाय में प्रसिद्ध नहीं हैं। विरक्त भक्त तथा विरक्त साधु-महात्माओं को भी बहुधा 'स्वामी जी' कहा जाता है। संभव है उसी प्रकार नंददास को भी लोगों ने 'स्वामी' लिखा हो।

नंददास की 'रासपंचाध्यायी' के विषय से संबंध रखने वाली उन की एक और रचना 'सिद्धांतपंचाध्यायी' है। 'रासपंचाध्यायी' में कवि की धार्मिक प्रवृत्ति के साथ-साथ काव्यकौशल का विशेष परिचय है। 'सिद्धांतपंचाध्यायी' में गोपीकृष्ण की रास-लीला के केवल धार्मिक पक्ष का उद्घाटन किया गया है।

'रासपंचाध्यायी' का विषयतत्व

नंददास की 'रासपंचाध्यायी' में दो विभिन्न भाव-धाराएं प्रवाहित मिलती हैं। एक धारा कवि के आध्यात्मिक भावों की है, और दूसरी लौकिक शृंगार की। लौकिक शृंगार की तह में आध्यात्मिक धारा इतनी प्रच्छन्न चलती है कि नंददास के काव्य को पढ़ने वाला साधारण विद्यार्थी सहज ही में भ्रमित होकर कहने लगता है कि रासपंचाध्यायी एक शृंगारिक काव्य है जिस में लौकिक संयोग-प्रेम का रूप अंकित है। परंतु जिन्हों ने कवि के आंतरिक भावों का मनन किया है और उस के जीवन पर दृष्टि डाली है उन को ज्ञात होगा कि इस ग्रंथ में व्यक्त विषय पर कवि के धार्मिक भावों तथा उन आदर्शों की, जिन को श्री वल्लभाचार्य जी ने सामने रक्खा था, अमिट छाप है। वास्तव में नंददास के काव्य का ध्येय धार्मिक था। जो आदर्श नंददास के समय में सर्वमान्य थे, अब अधिक अंश में परिवर्तित हो चुके हैं। काव्य का आध्यात्मिक ध्येय वर्तमान भौतिकवादी जीवन में अधिक मूल्य का नहीं रहा। हां लौकिक शृंगार के जिस रूपक द्वारा कवि ने अपना ध्येय स्पष्ट किया है उस का हमारे वर्तमान जीवन से घनिष्ट संबंध है। इसी लिए हमें नंददास जैसे कवियों के काव्य का लोक-पक्ष दिखाई देता है, और आध्यात्मिक पक्ष नहीं दीखता।

नंददास ने जिस विचार-पथ को ग्रहण किया, वह सांसारिक न होकर आध्यात्मिक था। उस समय की प्रवृत्ति भी ऐसी ही थी। इसी लिए उस समय के समस्त काव्य की अभिरुचि मानव क्रिया-कलाप और लौकिक व्यवहार से हटी हुई आत्मिक जगत की ओर अग्रसर दिखाई देती है। उस समय काव्यकला का ध्येय हमारे सामने उन आदर्शों को रखना नहीं था जिन का हमारी सांसारिक वासनाओं से संबंध है, उस का ध्येय था आध्यात्मिक तुष्टि संपादन करना। इस अभिरुचि को महात्मा तुलसीदास ने 'रामचरित-मानस' (बालकांड) में स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया है :—

कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना,
सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।

"लौकिक पुरुषों के गुणज्ञान से सरस्वती दुःखित और अप्रसन्न होती हैं।"

नंददास के समय में 'सुत वित नारि' के पाने की ईषणा को छोड़ केवल ईश्वर को पाने की ईषणा लोगों में प्रबल हो रही थी। नंददास की जीवनी से और उन के ग्रंथों के सूक्ष्म मनन से ज्ञात होता है कि उन की आत्मा भी लोकरूप के रमण से हट कर उस अनंत और अपार रस-रूप ईश्वर के साथ रमण के लिए विह्वल थी जिस ईश्वर से कवि नंददास के विचारानुसार आत्मा बिछुड़ी हुई है। 'रासपंचाध्यायी' में व्यक्त लौकिक शृंगार के पीछे अन्योक्ति है और वह अन्योक्ति आध्यात्मिक है। अपनी भक्ति-पद्धति में नंददास ने माधुर्य-प्रेम का अनुसरण किया है। लौकिक प्रेम के सब स्वरूपों में स्त्री-पुरुष के प्रेम में बहुत अधिक गहनता और तीव्रता होती है। आध्यात्मिक प्रेमानुभव की गहनता, भक्तों ने, उस से भी अधिक गहन बताई है। और जब भक्तों ने इस प्रेम की अभिव्यंजना की है तो उन्हें यह व्यंजना लोकानुभूत प्रेम के रूपकों द्वारा ही करनी पड़ी है।

निर्गुण पंथ के अनुयायी कबीर, जायसी आदि महात्माओं ने भी अपने आध्यात्मिक अनुभवों को लौकिक शृंगार की अन्योक्तियों में प्रकट किया है। नंददास के काव्य में माधुर्य-भक्ति के कारण शृंगार-भाव का समावेश अधिक मात्रा में हुआ है।

'रासपंचाध्यायी' में लौकिक रति के चित्रों में आध्यात्मिक प्रेम का रहस्य छिपा है।

श्रीमती चंद्रावती त्रिपाठी के शब्दों में इसे 'शृंगारिक रहस्यवाद'[१] अथवा प्रेम का रहस्य-वाद कह सकते हैं। 'रासपंचाध्यायी' के आध्यात्मिक पक्ष का विवेचन नंददास की दूसरी रचना 'सिद्धांतपंचाध्यायी' को लेकर विशेषता से हो सकता है।

'रासपंचाध्यायी' का कथानक

जैसा कि ग्रंथ के नाम से प्रकट है, 'रासपंचाध्यायी' में पाँच अध्याय हैं, जिन में गोपीकृष्ण की रासलीला का वर्णन है। आध्यात्मिक दृष्टि से कृष्ण परब्रह्म परमात्मा हैं, और गोपियां आत्माएं हैं जो उसी का अंश हैं। भगवान के आनंदांश से अलग होकर ये आत्माएं संसार-चक्र के बीच फिर उसी आनंदस्वरूप परमात्मा से मिलने को लालायित होती हैं। इन पाँच अध्यायों में बिछुड़ी हुई आत्मा और रसरूप परमात्मा के पुर्नमिलन की आनंदावस्था का वर्णन किया है। ग्रंथ का आरंभ श्री शुकदेव जी की वंदना से होता है जिन्हों ने श्रीमद्‌भागवत द्वारा असह्य दुख से पीड़ित संसार को मोक्ष का मार्ग दिखाया। करुणामूर्ति, परम-भक्त, श्री शुकदेव जी का आकर्षक नखशिख-वर्णन करने के उपरांत कवि रास क्रीड़ा की रम्य घटनास्थली वृंदाविपिन के प्राकृतिक सौंदर्य; और उल्लासपूर्ण शरद ऋतु के वातावरण का मनोरम वर्णन करता है। पेड़ों की पत्तियों से बनी झिझरियों से चंद्रमा की शीतल चाँदनी छन-छन कर फैल रही है, मानो चंद्रमा छिद्रों से उझक कर कृष्ण-रास को देखने की प्रतीक्षा में हो। खिली हुई मल्लिका की मनोरम शोभा शरद रात्रि की ज्योत्स्ना से मानो होड़ लगा रही है। सुख से सनी अमृत की फुहारें उछल-उछल कर प्राकृतिक उल्लास में सहयोग दे रही हैं। एक ओर भ्रमर गुंजार कर रहे हैं, दूसरी ओर अपना पराग बिखेर कर पुष्प उन का स्वागत कर रहे हैं। प्रकृति की इस आनंदमयी शोभा के बीच 'कोटि कंदर्पो' को लज्जित करने वाले श्री कृष्ण अपनी 'योगमाया' सी मुरली बजाते हैं। कृष्ण की मुरली का नाद केवल संगीतमय ही नहीं है, वरन् उस को कवि ने शब्दब्रह्म का उत्पादक कहा है। इस प्रेरणा-स्वरूप मोहक शब्द को सुन कर गोपियों में कृष्ण-मिलन की प्रसुप्त आकांक्षा जागृत हो उठती है, और वे घरबार छोड़, उन्मत्त की तरह उस शब्द का अनुकरण कर चल पड़ती हैं। जिन गोपियों का प्रेम दृढ़ और परिपक्व

---

[१] 'परिषद्-निबंधावली', भा० १, पृ० १७६। संपादक, डा० धीरेंद्र वर्मा।

था वे कृष्ण के पास पहुँच जाती है और जिन की प्रेम-साधना अपरिपक्व थी वे लोकलज्जा और अपने कुटुंबियों की कान से रुक जाती हैं। जब गोपियां कृष्ण के पास पहुँचती हैं, कृष्ण उन्हें स्त्रियों के लौकिक धर्म का उपदेश देते हैं और उन को वापिस घर जाने को कहते हैं। कृष्ण के उपदेश में गोपियां कृष्ण की निष्ठुरता का भाव पाकर दुखित होती हैं। वे कृष्ण के तर्कों का उत्तर देकर वापिस न जाने में अपनी विवशता प्रकट करती हैं। इस में कृष्ण को गोपियों के निर्मल तथा सच्चे प्रेम का परिचय मिल जाता है। कृष्ण गोपियों के साथ, उन के प्रगाढ़ प्रेम का उपहार देने को यमुना-तट की सघन कुंजों में रास-क्रीड़ा आरंभ करते हैं। इस स्थान पर कवि ने बताया है कि उस समय रास में कामोद्दीपन की समग्र सामग्री उपस्थित थी और कामदेव गोपियों के चित्त में उत्पन्न भी हुआ, परंतु योगिराज कृष्ण के प्रभाव से काम पराजित कर दिया गया। उस समय गोपियों के चित्त में कुछ गर्व का संचार हुआ। भक्त-स्वरूपा गोपियों का अभिमान मिटाने के लिए श्रीकृष्ण थोड़ी देर के लिए अचानक छिप जाते हैं। 'रासपंचाध्यायी' का पहला अध्याय इतनी कथा पर समाप्त हो जाता है।

दूसरे अध्याय में गोपियां कृष्ण की खोज करती हैं। इस स्थल पर गोपियों की विरह-दशा का कवि ने वर्णन किया है। प्रेमोन्मत्त, विरहाकुल गोपियां कृष्ण के पुनर्मिलन को छटपटाती हैं और सजीव और निर्जीव का भेद भूल कर सब बन-वृक्षों से पूछती फिरती हैं, कहीं किसी ने कृष्ण तो नहीं देखे। गोपियां कृष्ण को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उन की एक विशेष प्यारी गोपी राधा से मिलती हैं और अब सब मिल कर और भी अधिक परिश्रम के साथ कृष्ण को ढूँढ़ने लगती हैं।

तृतीय अध्याय में कवि ने गोपियों की असहनीय विरह-दशा तथा कृष्ण की खोज में उन के अनवरत परिश्रम का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। इस अध्याय में गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रेमाधिक्य में उपालंभ भी है। इस के उपरांत कवि ने गोपियों की आत्म विस्मृति का प्रभावशाली वर्णन किया है।

चतुर्थ अध्याय में कृष्ण प्रकट हो जाते हैं और चिरकाल के बिछुड़े प्रेमियों की भाँति उन्मत्त प्रेम की उत्सुकता के साथ गोपियां उन से मिलती हैं। कृष्ण गोपियों के प्रेम से प्रभावित होते हैं और उन के अनन्य प्रेम की प्रशंसा करते हैं। कवि ने इस पुनर्मिलन का बड़ा हृदयग्राही चित्र अंकित किया है।

पाँचवे अध्याय में कृष्ण और गोपियों की रासक्रीड़ा का वर्णन है। कृष्ण के साथ रास, गोपियों की आंतरिक इच्छाओं का अंतिम फल है। इस अध्याय में कवि ने गोपी-कृष्ण रास में उन के नाचने और गाने का बहुत ही सजीव और कलात्मक वर्णन किया है। नृत्य और गान समाप्त होने के बाद जलक्रीड़ा आरंभ होती है। प्रातःकाल सूर्योदय से पहले ही गोपियां अपने-अपने घर पहुँच जाती हैं। इस संपूर्ण वर्णन में कवि ने अपने आध्यात्मिक ध्येय को पिछड़ने नहीं दिया। आध्यात्मिकता की रक्षा करते हुए कवि ने शृंगार भाव के चित्रण में असाधारण काव्य-पटुता का परिचय दिया है। और काव्यानंद और भक्ति-प्रेमरस की सुखद मंदाकिनी प्रवाहित की है।

'रासपंचाध्यायी' का आधार

नंददास की 'रासपंचाध्यायी' का मुख्य आधार श्रीमद्भागवत है। वल्लभ-संप्रदायी कवियों के काव्य का मुख्य आधार यही ग्रंथ रहा है। इन कवियों ने कृष्ण की रासलीला की कथा तथा कहीं-कहीं भाव भी स्वतंत्रता-पूर्वक इसी ग्रंथ से लिए हैं, परंतु यह कहना अनुदारता होगी कि इन कवियों के भाव श्रीमद्भागवत के संस्कृत श्लोकों के अनुवाद मात्र हैं। सूरदास के सूरसागर में जिस का आधार श्रीमद्भागवत है अनेक स्थल सूर की स्वतंत्र रचनाएं हैं। इसी प्रकार नंददास का काव्य भी भागवत पर अवलंबित होते हुए अपनी स्वतंत्र सत्ता रखता है। विषय के प्रतिपादन की रीति, भाषा-सौंदर्य, कवि-कल्पना से युक्त काव्योक्तियां, कथा में स्वतंत्र प्रसंगों का समावेश तथा धार्मिक सिद्धांत इस मौलिकता के विशेष अंग हैं। नंददास की रचनाओं में मौलिकता के उपर्युक्त अंग विद्यमान हैं। श्रीमद्भागवत में, दशम स्कंध के २९वें अध्याय से ३३वें अध्याय तक गोपी-कृष्ण की रासलीला का वर्णन है। यही पाँच अध्याय नंददास की रचना 'पंचाध्यायी' कहलाते हैं। हरिवंश पुराण में भी गोपी-कृष्ण की रासलीला का 'हल्लीसक्रीडन' नाम से वर्णन है, परंतु कवि ने इस ग्रंथ से 'रासपंचाध्यायी' की कथा और उस में व्यक्त विचारों का आकलन नहीं किया। 'रासपंचाध्यायी' के प्रथम अध्याय में कवि स्वयं इस बात को स्वीकार करता है कि उस ने भागवत से रासलीला की कथा ली है।

श्री भागवत सुनाम परम अभिराम परम मति,
निगम सार सुकसार बिना गुरु कृपा अगम अति।

ताही में मणि अति रहस्य यह पंचाध्याई,
तन में जैसे पंच प्रान अस सुक मुनि गाई।
परम रसिक इक मित्र मोंहि तिन आज्ञा दीनी,
ताही ते यह कथा यथामति भाषा कीनी ।।

'रासपंचाध्यायी' और 'श्रीमद्भागवत'

हम ने ऊपर कहा है कि नंददास की 'रासपंचाध्यायी' में, श्रीमद्भागवत का भावानुवाद होते हुए भी विशेष मौलिकता है। 'रासपंचाध्यायी' के प्रथम अध्याय का आधार भागवत का २९वां अध्याय है। परंतु शुकदेव जी की बंदना, वृंदाबन की शोभा का वर्णन जिस की छटा चंद्रमा से अलंकृत शरद रात्रि को और भी रमणीय बनाती है, आदि स्वतंत्र कल्पनाएं हैं। श्री शुकदेव जी के नखशिख का वर्णन नंददास ने भागवत से लिया है जिस मे यह वर्णन प्रथम स्कंध के २९वें अध्याय में आया है। नंददास ने शुकदेव जी के नखशिख-वर्णन में जो उत्प्रेक्षाएं दी हैं वे उन की अपनी हैं, और वे उन के रास-विषयक आध्यात्मिक भावों की पुष्टि करती हैं। भागवत में शरद ऋतु तथा चंद्रोदय का वर्णन केवल दो श्लोकों में ही दिए गए हैं परंतु इस स्थल पर नंददास ने शरद की शोभा तथा रास के अनुकूल वातावरण के चित्रण में जिस काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है वह वास्तव में प्रशंसनीय है। नंददास की 'रासपंचाध्यायी' के प्रथम अध्याय में अनंग के आगमन और उस पर गोपी-कृष्ण द्वारा विजय प्राप्ति का वर्णन है। इस ओर कवि की सूझ बड़ी निराली और मौलिक है। श्रीमद्भागवत में हमें इस का कोई चित्र नहीं मिलता। कालिदास की प्रसिद्ध कृति 'कुमारसंभव' में तो ऐसा प्रसंग अवश्य मिलता है। शिव जी अपने नेत्र से उत्पन्न क्रोधाग्नि द्वारा अभागे कामदेव को जला देते हैं। इस प्रसंग के लाने का नंददास का आशय यह दिखाना है कि गोपी-कृष्ण रास में लौकिक कामवासना का कोई समावेश नहीं है।

दूसरे अध्याय की कथा भागवत दशम स्कंध के ३३वें अध्याय के अनुसार है। इस अध्याय के वर्णन में भी कवि ने नवीन उक्तियों तथा नवीन उत्प्रेक्षाओं द्वारा अपनी उर्वरा कल्पना-शक्ति का परिचय दिया है। कवि की शक्तिशालिनी वर्णन-शैली, उत्प्रेक्षाओं की अनूठी सूझ और प्रभावपूर्ण मधुर पदावली इस अध्याय की मौलिकता हैं। भागवत का आधार लुप्त होकर कवि की स्वतंत्र मौलिकता ही स्थायी रूप धारण करती दिखाई

देती है। नंददास ने तीर्थवासियों को कठोर प्रकृति का बताया है,[1] परंतु भागवत में तीर्थवासियों के प्रति इस प्रकार का कोई कथन नहीं है। विरहाकुल गोपियां उन्मत्त और पागल की भाँति कृष्ण का पता वृक्षलतादि से पूछती फिरती हैं। नंददास ने इस स्थान पर बताया है कि विरहप्रेम में व्याकुल जनों को जड़चेतन का भान नहीं होता—

ह्वै गईं विरह विकल सब पूछति द्रुम बेली बन।
को जड़ को चेतन्य कछु न जानत विरहीजन।

तृतीय अध्याय श्रीमद्भागवत दशम स्कंध के ३१वें अध्याय का भावार्थ है, परंतु कवि ने अपनी काव्यशक्ति, ललित भाषा, और भावचित्रों से मौलिकता ला दी है, साथ ही मूल का लेशमात्र भी नाश नहीं होने दिया।

चौथा अध्याय दशम स्कंध भागवत के ३२वें अध्याय पर अवलंबित है जिस में कवि ने अपनी मौलिकता की सफलता-पूर्वक रक्षा करते हुए अपनी काव्यचातुरी से गोपी-कृष्ण पुनर्मिलन का वर्णन किया है। इस में जितने छंद हैं उन की प्रथम पंक्तियां भागवत की पंक्तियों के अनुवाद हैं, और उन की प्रत्येक द्वितीय पंक्ति कवि की मौलिक रचना है। इन पंक्तियों में कविकल्पना की सुंदर अवतारणाएं देखने को मिलती हैं। जैसे—

कोउ नागर नगधर की गहि रहि दोउ कर पटकी,
जनु नवघन ते सटकी दामिनि दामन अटकी।
दौरि लिपटि गईं ललित लाल सुख कहत न आवे,
मीन उछरि ज्यों पुलिन परे पै पानी पावे।
कोउ पिय भुज सों लटकि मटकि रहि नारि नवेली,
जनु सुंदर शृंगार विटप लपटी छवि बेली॥

भागवत के इस प्रसंग में श्रीकृष्ण ने गोपियों की प्रशंसा की है और उन के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की है परंतु नंददास ने 'रासपंचाध्यायी' में इस कृतज्ञता के भाव को बढ़ाते हुए कृष्ण को गोपियों का पूर्ण ऋणी बताया है। भगवान के ऊपर भक्तों की विजय

---

[1] **जमुन निकट के विटप पूछि भईं निपट उदासी,**
क्यों कहिहें सखि अति कठोर ये तीरथवासी।

का जो भाव नंददास की रचना से सूचित होता है वह भागवत के वर्णन से नहीं होता।

पंचम अध्याय श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध के ३३वें अध्याय पर अवलंबित है। इस अध्याय में नंददास की काव्यकला पूर्ण सफलता की सीमा तक पहुँच गई है। भाव के अनुसार उचित शब्दों का प्रयोग, शब्दों के उच्चारण में भाव का द्योतन और शब्दचित्रों में रासलीला का वर्णन नंददास की निजी छाप के द्योतक हैं। यहा नंददास के एक भी शब्द को छंद से हटाना उन के पूरे छंद की सुंदरता को नष्ट करना है। इस अध्याय में 'रासपंचाध्यायी' के सुनने और उस का पाठ करने का महात्म्य भी कवि ने बताया है। यहां कवि की धार्मिक प्रवृत्ति प्रधान है।

'रासपंचाध्यायी' के काव्य की समीक्षा

'रासपंचाध्यायी' में कृष्णलीला के केवल एक प्रसंग, 'रासक्रीड़ा' का ही वर्णन है। इस में शृंगार-भाव का चित्रण मुख्य-रूप से है। मानवी शृंगारिक भावों को कवि ने आश्चर्यजनक आध्यात्मिक रूप दिया है। रासलीला की सुपरिचित कथा के भीतर कवि की आत्मा की वह महती आकांक्षा, जो असीम से मिल कर अनंत रसमग्न होना चाहती है, छिपी मिलती है। नंददास की यह कृति कथा-प्रधान न होकर वर्णन और भाव-प्रधान है। काव्य की दृष्टि से उन की कला का दर्शन ग्रंथ के वर्णन और भावचित्रों में ही होता है।

प्रबंध-रचनाओं में काव्य के तीन रूपों का समावेश रहता है—(१) वस्तुकथन, (२) दृश्य और चरित्र-वर्णन, तथा (३) भावों की व्यंजना। पूर्ण कथानक में आने वाले प्रसंग, वर्णन की संक्षिप्त शैली में ही चित्रित हुआ करते हैं, परंतु जब वृहत् कथा के किसी एक प्रसंग को स्वतंत्र काव्य-रूप दिया जाता है, तो कथावस्तु के अभाव में, भाव-चित्रों की विशदता और दृश्यों के विस्तृत वर्णन ही रसात्मकता की कमी की पूर्ति किया करते हैं। पाठक की कथा-श्रवण की जिज्ञासा दब जाती है और उस की मनोवृत्ति कथा से हट कर दृश्य और भावों के चित्रों पर ही टिकने लगती है। साथ ही, जब काव्य में कथा की कमी और दृश्यवर्णन तथा भावाभिव्यक्ति की प्रचुरता होती हैं तब अलंकृत और चित्ताकर्षक भाषा-शैली तथा भाव को व्यक्त करने वाली उपयुक्त शब्दावलि का चयन भी काव्य-सौंदर्य का महत्वशाली अंग हो जाता है। अतएव जैसा ऊपर कहा है, 'रास-पंचाध्यायी' में कथा की कमी के कारण पाठक का ध्यान कथा की ओर न जाकर भावों

और मनोहर दृश्यवर्णनों की ओर ही आकृष्ट होता है। अब देखना यह है कि कवि ने दृश्य-वर्णन तथा भावव्यंजना में कितनी काव्य-पटुता का परिचय दिया है। साथ ही यह भी प्रश्न उठता है कि 'कवि अपनी भाषा शैली को हृदयग्राही बनाने में कितना सफल हुआ है!' हमें 'रासपंचाध्यायी' को इसी कसौटी पर कसना है।

'रासपंचाध्यायी' में वर्णन

काव्य में वर्णन और वस्तुकथन का एक-दूसरे से घनिष्ट संबंध है। स्वतंत्र वर्णनों में भी कथातत्व का कुछ-कुछ समावेश अवश्य रहता है। यात्रा, त्यौहार, आदि के वर्णनों में कथा का अंश कम रहता है परंतु कथातत्व की आवश्यकता दृश्यों के सिलसिला मिलाने में पड़ ही जाती है उधर• कथानक में तो वर्णन भिन्न-भिन्न प्रसंगों का अंग ही हुआ करता है। यह आवश्यक है कि कथा-प्रधान काव्य में वस्तुकथन की पटुता अधिक हो, और वर्णन-प्रधान काव्य में वर्णन की रोचकता अधिक हो। वर्णनात्मक काव्य के विषय का क्षेत्र, चाहे वर्णन स्वतंत्र रूप में हो, चाहे कथानक के अंतर्गत उस के अंग रूप में, बहुत विस्तृत है। दृश्यमान जगत, अथवा प्रकृति के समस्त पदार्थ, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि तथा उन का क्रिया-कलाप, मानव-जीवन में घटने वाली समस्त घटनाएं आदि वर्णनात्मक काव्य का विषय बन सकती हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जो वस्तु और घटना हमारे भावों का आलंबन अथवा उद्दीपन होती हैं वे सब वर्णनात्मक काव्य का विषय बन सकती हैं। इस प्रकार कथानक में आने वाले वर्णन के भी दो रूप होते हैं, पहला आलंबन विभाव रूप और दूसरा उद्दीपन विभाव रूप। 'रासपंचाध्यायी' में इन दोनों रूपों में वर्णन का समावेश हुआ है। आलंबन विभाव के अंतर्गत गोपी और कृष्ण का रूप-वर्णन तथा रासक्रीड़ा-वर्णन है। उद्दीपन रूप में, रासक्रीड़ा की घटनास्थली वृंदावन, रात्रि में शरद ऋतु की शोभा, प्रकृति का रंग-विरंगा शृंगार, तथा मुरली के मनोहर नाद का वर्णन है। बंदना के रूप में श्री शुकदेव जी का नखशिख-वर्णन भी, रास-रस की वृद्धि में सहायक और उस की ओर प्रेरित करने वाला होने के कारण, उद्दीपन रूप ही है।

श्री शुकदेव जी भागवत धर्म के प्रसिद्ध प्रचारक हैं और भगवान की कृपा के विशेष पात्र हैं। कवि ने पहले, उन की बंदना करना ही उचित समझा है। इस बंदना

में कवि ने श्री शुकदेव जी के उस रूप का वर्णन किया है जो भक्तिरस में पूर्णतया मग्न है। उन के नेत्र भगवान की निस्सीम कृप से विभोर हैं, वे हरि की लीला के रस में सदैव मग्न रहते हैं, उन का दैदीप्यमान ललाट सूर्य के समान चमकता हुआ भक्ति के प्रतिबंध रूपी अंधकार को नष्ट करता है। बड़े-बड़े मुनीश्वर उन के चरण कमलों की भ्रमरवत् सेवा करते हैं। उन के वक्षस्थल की शोभा हृदय में स्थित भगवान कृष्ण की रूपराशि का प्रकाशन कर रही है। प्रेमरस-आसव के पान से छके और अलसाए उन के नेत्रों का वर्णन कवि इस प्रकार करता है—

कृष्ण रंग रस अयन नयन राजत रतनारे,
कृष्ण रसासव पान अलस कछु घूमघुमारे।

उद्दीपन रूप वर्णन में कवि ने रास के पूर्व की घटना-स्थली तथा रासानुकूल-वातावरण का चित्र अंकित किया है। वृंदाबन में पुष्प खिला कर, वृक्ष और लतादि प्रफुल्लित हो रहे हैं। लहरों के दृश्य-रूप में स्वच्छ-जल-धारिणी यमुना अठखेलियां करती हुई अल्हड़पन से चल रही है। शरद ऋतु की सुखदायिनी विमल चाँदनी कोमल स्निग्ध पत्तियों से छन-छन कर मल्लिका के पुष्पों की धवलता को परिपूर्ण कर रही है। जल-प्रपात छिटक-छिटक कर शीतल जल की नन्हीं नन्हीं बूँदों के रूप में सुख की वर्षा कर रहा है। प्रत्येक वस्तु वृंदाबन में, भविष्य में आने वाले आनंद के पूर्वानुभव से अपनी-अपनी रुचि तथा योग्यतानुसार प्रफुल्लता दर्शित कर रही है। कवि के शब्दों में उल्लास पूर्ण वातावरण इस प्रकार है—

अब सुंदर श्री वृंदाबन को गाय सुनाऊं,
सकल सिद्धिदायक पै सब ही बिधि सिधि पाऊं।
देवन में श्री रमारमन नारायण प्रभु-जस,
कानन में श्री वृंदाबन सब हित शोभित जस।
अमृत फुही सुख गुहीं सुहीं अति परत रहत नित,
रास रसिक सुंदर-प्रिय के श्रम दूर करन हित ॥
थलज जलज झलमलत ललित बहु भँवर उड़ावें,
उड़ि उड़ि परत पराग कछू छवि कहत न आवें।

श्री जमुना जी प्रेम-भरी नित बहत सुगहरी,
मणि मंदिर दोउ तीर उठत छबि अद्भुत लहरी ।
या बन की बर बानक या बन ही बन आवै,
सेस महेस सुरेस गनेसहु पार न पावै ।।

शरद की रात्रि में वृंदाबन की शोभा और भी बढ़ गई है। इतना ही नहीं वरन् चंद्रोदय ने रासरस-पान की उत्सुकता को उन्मत्त बना दिया है—

जदपि सहज माधुरी विपिन सब दिन सुखदाई,
तदपि रँगीली सरद समैं मिलि अति छबि छाई ।
छवि सों फूले फूल अवर अस लगी लुनाई,
मनो शरद की छपा छबीली बहसन आई ।
मंद मंद चलि चारु चंद्रमा अस छवि छाई,
उझकत है जनु रमारमन पिय कौतुक आई ।।

उत्प्रेक्षा द्वारा कवि ने बड़ी सुंदर कल्पना के चित्र खींचे हैं। कवि की यह कल्पना कि चंद्रमा वृक्ष की पत्तियों की ओट से झाँक कर गोपी-कृष्ण रास के कौतुक को देखने की प्रतीक्षा में है, रासरस की वृद्धि करने के अतिरिक्त पाठक को काव्यरस से भी मुग्ध करती है। ऐसी अनेक सुखद उत्प्रेक्षाओं से नंददास की काव्य-पटुता का परिचय मिलता है।

कवि ने प्रकृति को रास की घटना-स्थली का रंगमंच बनाया है। गोपी और कृष्ण, रास आरंभ करने के पहले, यमुना के किनारे जाते हैं। वहां की शोभा अपूर्व है। कवि कहता है—

सुभ सरिता के तीर धीर बलबीर गये तहं ।
कोमल मलय समीर छबिन की महा भीर जहं ।।
कुसुम धूरि धूंधरी कुंज छवि पुंजन छाई ।
गुंजत मंजु अलिंद बेनु जनु बजत सुहाई ।।
इत महकत मालती चारु चंपक चित चोरत ।
उत घनसार तुसार मिली मंदार झकोरत ।।

इत तुलसी छबि हुलसी छांड़त परिमल पूटें।
उत कमोद ग्रामोद मोद भरि भरि सुख लूटें॥

फूलन माल बनाय लाल पहरत पहरावत।
सुमन सरोज सुधावर ग्रोज मनोज बढ़ावत॥

उज्वल मृदुल बालुका कोमल सुभग सुहाई।
श्री जमुना जी नित तरंग करि यह जु बनाई॥

रास करते-करते कृष्ण थोड़ी देर के लिए छिप जाते हैं। गोपिकाएं उन्हें ढूँढ़ती हैं। जब वे उन्हें नहीं पातीं तो वे उन्मत्त हो उठती हैं। कृष्ण को ढूँढ़ते समय वे बन के वृक्ष लता, पशु पक्षी सभी से पूछती हैं "कहीं किसी ने कृष्ण तो नहीं देखे। इस स्थल पर प्रकृति मानव-भावों से ग्राक्रांत दिखाई गई है। भाव को तीव्र करने के लिए प्राय: सभी भाषाग्रों के कवियों ने प्रकृति को मनुष्य के भावों तथा व्यापारों से ग्राक्रांत ग्रौर उन में सहयोग देने वाली दिखाया है। नंददास ने इस प्रकृति-संबोधन में भागवत का ग्राधार लिया है।

कृष्ण समस्त सौंदर्य तथा शोभा की खान हैं, ग्रस्तु प्रत्येक सुंदर वस्तु उन की छाया-मात्र है। इस संबंध के ग्रनुसार प्रत्येक सुंदर वस्तु कृष्ण का कुछ-वार्ता ग्रवश्य दे सकती होगी। ऐसी ही ग्रटपटी युक्तियों के ग्राधार पर गोपियां प्रकृति की प्राणहीन वस्तुग्रों से ग्राशाजनक उत्तर पाने का ग्रनुमान करती हैं। परंतु ग्रंत में एक-एक कर के सब से निराशा होती चलती है। इस ग्राशा ग्रौर निराशा के भूले में भूलती हुई गोपियों का चित्र बड़ा सुंदर बन पड़ा है।

बिरहाकुल ह्वै गईं सबै पूछत बेली बन।
को जड़ को चैतन्य कछु न जानत विरहीजन॥
हे मालति हे जात जूथ के सुनि हित दे चित।
मानहरन मनहरन लाल गिरधरन लखे इत॥

हे मंदार उदार बीर करवीर महामति।
देखे कहुं बलबीर धीर मनहरन धीरगति॥

पूछोरी इन ललन फूलि रहीं फूलन जोईं।
सुंदर पिय के परस बिना ग्रस फूल न होईं॥

हे सखि ये मृग बधू इन्हें किन पूछहु अनुसरि।
डहडहे इनके नैन अबहि कहुं देखे हैं हरि॥

प्रकृति-वर्णन

हिंदी के प्राचीन कवियों ने स्वतंत्र प्रकृति-वर्णन की ओर कम ध्यान दिया है। प्रबंध-काव्यों में प्रकृति-वर्णन बहुत थोड़ा है। उद्दीपन विभाव की दृष्टि से, जैसे संयोग अथवा वियोग शृंगार के अंतर्गत बारहमासा, षड्ऋतु-वर्णन, कोकिल, मोर, पपीहे का बोलना आदि, अथवा घटना-स्थली के चित्र रूप में, प्रकृति का वर्णन अवश्य हुआ है, और इस दृष्टि से यह वर्णन हिंदी में प्रचुर मात्रा में है। ऐसे वर्णनों में कवियों की निरीक्षण शक्ति सूक्ष्मदर्शिता का परिचय मिलता है। परंतु कवि के हृदय में अथवा मनुष्य मात्र के हृदय में रागात्मिका वृत्ति को जाग्रत करने वाला स्वतंत्र वर्णन बहुत न्यून मात्रा में है। संस्कृत कवियों ने प्रकृति के भिन्न-भिन्न व्यापारों और पदार्थों के बड़े सूक्ष्म निरीक्षण के साथ मनोरम चित्र खींचे हैं। उद्दीपन विभाव रूप में जो वर्णन हिंदी में मिलता है, उस की हिंदी काव्य में एक परंपरा सी बँधी दीखती है। लगभग सभी कवियों ने एक-सी प्राकृतिक वस्तुओं का वर्णन संयोग शृंगार अथवा वियोग शृंगार के भीतर किया है। परंतु इस परंपरा में जड़ता नहीं है। इसी के भीतर कवियों ने अपनी काव्य प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। नंददास ने भी संस्कृत काव्य से आई प्राकृतिक वस्तुओं का प्रयोग अपने काव्य में किया है। प्रकृति की वस्तुओं का वर्णन अलंकारों के प्रयोग के साथ अवर्ण्य रूप अथवा उपमान रूप में भी आता है। प्रकृति की वस्तुओं का इस प्रकार का प्रयोग दो दृष्टियों से आता है, एक स्वरूपबोध के लिए और दूसरा भाव तीव्र करने के लिए। नंददास ने प्रकृति का प्रयोग, घटना-स्थली रूप में, उद्दीपन रूप में, तथा स्वरूपबोध और भाव तीव्र करने की दृष्टि से अलंकार रूप में, किया है। कथानक के बीच अथवा पृथक् रूप में प्रकृति का स्वतंत्र रागात्मक वर्णन नंददास ने भी नहीं किया।

कृष्ण-गोपी रूपवर्णन

रासलीला के वर्णन में कवि ने रास को श्रीमद्भागवत की तरह एक आध्यात्मिक रूप दिया है। इस लिए कृष्ण और गोपियों के रूप-सौंदर्य के वर्णन में कवि की धार्मिक

वृत्ति प्रधान है। परंतु कृष्ण के जिस रूप का वर्णन यहां कवि ने किया है, वह शृंगार-प्रधान है, क्योंकि रास ऐसे शृंगारमय व्यापार में यही रूप संगत है। इस लिए अपने ध्येय को दृष्टि में रख कर कवि काव्य के बीच में कृष्ण के लोकोत्तर शृंगार रूप की याद दिलाता चलता है। यह स्पष्ट है कि कवि को भय है कहीं पाठक कृष्ण को साधारण लौकिक नायक समझ कर रासक्रीड़ा को लौकिक शृंगार-लीला न समझने लगें। इस वर्णन में कृष्ण का पूर्ण नखशिख वर्णन नहीं है। साधारण नायक की दृष्टि से वर्णन बहुत थोड़ा है। इसी प्रकार गोपिकाओं के वर्णन में भी आध्यात्मिक रूप अधिक विशद है।

कृष्ण का रूप

अद्भुत सांवल अंग बन्यो अद्भुत पीतांबर,
मुकुट धरें सिगार, प्रेम अंबर ओढ़ें हरि।
बिलुलित उर बनमाल लाल उर चलत चाल वर,
कोटि मदन की भीर उठत पुनि गिरत चरन पर।
गल मोतिन की माल ललित बनमाल धरें पियं,
मंद मरुत बस पीत बसन फरकत करखत हिय॥

कृष्ण की मुरली का शब्द सुन कर कृष्ण-प्रेम में उन्मत्त गोपिकाएं कृष्ण-मिलन को उत्सुक हो उठती हैं। वे घरबार और लोक की लाज छोड़ कर रात्रि में ही कृष्ण के पास वंशीनाद के सहारे-सहारे चल पड़ती हैं। उस समय का वर्णन कवि ने बड़ा सजीव किया है।

चलत अधिक छवि फबित स्रवण मनि कुंडल झलकैं।
संकित-लोचन चपल ललित जुत विलुलित अलकैं॥
कहुं दिखियति कहुं नाहिं सखी बन बीच बनी यों।
बिजुरिन की सी छटा सघन बन मांझ चली जों॥
आय उमगि सों मिलीं रंगीली गोपबधू अस।
नंद-सुवन सागर-सुंदर सों प्रेमनदी जस॥

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, इस वर्णन में भी गोपियों के आध्यात्मिक रूप की प्रचुरता है।

रासवर्णन

काव्य के लिए रास का विषय लेना ही किंचित् साहस की बात है क्योंकि यह विषय अनेक बड़े कवियों ने चुना है। नंददास अपनी कल्पना की उड़ान और शब्दचयन में किसी से पीछे नहीं रहे हैं, उन का शब्द-चयन माधुर्य और प्रसाद गुणों से संपन्न है। गोपी-कृष्ण की रासलीला का वर्णन कवि ने बड़ा सजीव किया है। रासमंडल में गोलाकार रूप में गोपियां हैं, और बीच में कृष्ण नाचते हैं। नाचने में पैरों की 'पटक,' हाथों की 'मटक', और शरीर के मोड़-तोड़ से प्रदर्शित हावभाव के चित्र कवि ने ज्यों के त्यों अंकित कर दिए हैं। नाचने की भिन्न-भिन्न स्थितियों में जो भाव अनुदित होते हैं, प्रयुक्त शब्दों का उच्चारण उन्हीं भावों तथा ध्वनियों की ओर संकेत करता है। यह संपूर्ण रास-वर्णन एक विशद शब्द चित्र बन गया है। कवि उत्प्रेक्षा करता है कि गोलाकार नाचते हुए गोपी-कृष्ण मानो नव मरकत और कनक मणियों की माला हैं, जो वृंदाबन को पहना दी गई है। निम्न-लिखित अवतरण इस नाच के वर्णन का परिचय देते हैं—

नूपुर कंकन किंकिन करतल मंजुल मुरली,
ताल मृदंग उपंग चंग एकै सुर जुरली।
मृदुल मधुर टंकार ताल झंकार मिली धुनि,
मधुर जंत्र की तार भंवर गुंजार रली पुनि।
तैसिय मृदु पद पटकनि चकटनि कर तारन की,
लटकनि मटकनि झलकनि कल कुंडल हारन की॥
सांवरे पिय के संग लसत यों ब्रज की बाला,
जनु घन मंडल मंजुल विलसित दामिनि माला।
छवि सों निरतन लटकन मटकनि मंडल डोलनि,
कोटि अमृत सम मुसकनि मंजुल ताथेई बोलनि।

गोपी-कृष्ण इस रास में इतने उन्मत्त हैं कि एक दूसरे के वस्त्र में वस्त्र, और आभूषण में आभूषण उलझ गए हैं।

हार हार में उरझि, उरझि बहियां में बहियां।
नील पीतपट उरझि उरझि बेसर नथ महियां ॥

कुंजों का रास फिर जलक्रीड़ा में परिणत हो जाता है। इस जमुनाजल-क्रीड़ा का वर्णन भी कवि ने मनोहर और रसात्मक ढंग से किया है।

इहि विधि विविध हास सुख कुंज सदन के,
चले जमुन जल क्रीड़न ब्रीड़न कोटि मदन के।
धाय जमुन जल धंसे लसे छवि परत न बरनी,
बिहरत मनु गजराज संग लिये तरुनी करनी।

छिरकत हैं छल छैलि जमुन जल अंजुलि भरि भरि।
असन कमल मंडली फाग खेलत रस रंग झरि ॥
चलत दृगंचल चंचल अंचल में झलकत अस।
सरस कनक के कंजन खंजन जाल परत जस ॥
जमुना जल में दुरि मुरि कामिनि करत कलोलें।
मानों नव घन मध्य दामिनी दमकत डोलें ॥

भीजि वसन तन लिपटि निपट छवि अंकित हैं अस,
नैननि के नहिं बैन, बैन के नैन नहीं जस ॥

इन सब वर्णनों को देखने से ज्ञात होता है कि नंददास की, वर्णन द्वारा चित्र अंकित करने की शक्ति महान है।

भाव-चित्रण

भाव-चित्रण में कवि का ध्येय वस्तुओं के वाह्य आकार का रूप अंकित करना नहीं होता, वरन् वस्तुओं अथवा घटनाओं के संसर्ग से जो भाव कवि के अथवा कथानक में वर्णित पात्रों के हृदय में उठते हैं, उन की अनुभूति का रूप अंकित करना होता है। जिन भावों से पाठक का हृदय समानुभूति में मग्न हो जाता है उन के भावचित्र काव्य की दृष्टि से सफल समझे जाते हैं। उन्हीं चित्रों में रसानुभूति भी होती है। यह अनुभूति

कवि की अभिव्यक्ति के अनुसार लौकिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की होती है। वर्णन की तरह भाव-चित्रण भी मुक्तक रूप में होता है और कथानक के भिन्न-भिन्न भावात्मक स्थलों में भी। कृष्णभक्त कवियों की रचनाओं में और विशेष रूप से सूरदास के काव्य में इन भावचित्रों के आध्यात्मिक और लौकिक दोनों रूप अंकित हुए हैं। नंददास के भाव-चित्र सूरदास की तरह प्रचुर और विशद तो नहीं हैं, परंतु फिर भी उन्हें छोटे-छोटे प्रसंगों के भीतर भाव के प्रभावपूर्ण चित्र खींचने में प्रशंसनीय सफलता मिली है।

'रासपंचाध्यायी' का मुख्य विषय प्रेमरस है, जिस के संयोग और वियोग दोनों पक्षों की कुछ दशाओं का चित्रण है। गोपियों के विरह में जो गहनता है वह लौकिक काव्य की दृष्टि से प्रसंग की परिस्थिति में चाहे खटकती हो परंतु भक्ति-भाव और वल्लभ-सिद्धांत की दृष्टि से उस में कोई असंगति नहीं है। गोपियों के साथ नाचते-नाचते श्रीकृष्ण थोड़ी देर के लिए छिप जाते हैं, गोपियों को बस इतनी ही देर में पूर्ण विरह दशा आ घेरती है, और वे उन्मत्त की तरह प्रलाप करने लगती हैं।

इस असंगति का समाधान कवि स्वयं 'रासपंचाध्यायी' के द्वितीय अध्याय के आरंभ में करता है कि प्रेम-भक्ति में जिन गोपियों को अथवा भक्तों को अपने प्रिय से एक पलमात्र का बिछुड़ना कोटि युग के समान लगता है उन का प्रिय यदि घर की, बन की, अथवा कुंज की ओट में हो जाय तो उन के दुख की गणना नहीं हो सकती—

जिन को नैन निमेष ओट कोटिन युग जाहीं,
तिन कौं घर, बन, कुंज ओट दुख गनना नांहीं।

उन के लिए वास्तव में उत्कट विरह दशा में ही अहंकार की संज्ञा छुटती है, तभी आत्मविस्मृति होती है। श्री वल्लभाचार्य का सिद्धांत है कि कृष्ण-संयोग की लालसा इतनी उत्कट हो जाय कि प्रत्येक क्षण में विरह-दशा की अवस्था बनी रहे और इस विरह-दशा में पूर्ण आत्म-समर्पण और आत्म-विस्मृति हो जाय तभी भगवान् मिल सकते हैं। कृष्णभक्त कवियों ने जिस विरह-वेदना का वर्णन किया है वह काव्य-कथानक की परिस्थितियों के बीच देखने की वस्तु नहीं है। वास्तव में यदि काव्य की दृष्टि से देखा जाय तो पंडित रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में "सूर का (सभी कृष्णभक्त कवियों का) वियोग-वर्णन वियोग-वर्णन के लिए ही है, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं।" गोपियों का विरह

लौकिक प्रेम का विरह नहीं है, उस में विरह है जीवात्मा का परमात्मा से। इस लिए भक्तिसाधन की दृष्टि से विरह की परिस्थिति पूर्ण रूप से विद्यमान है। यही दृष्टिकोण श्रीमद्भागवत में भी लिया गया है जो समस्त कृष्णभक्ति के काव्य का मूल-श्रोत है।

नंददास ने रास-प्रसंग के छोटे से दायरे में संयोग की उन्मत्तता और वियोग की वेदना का सुंदर कवित्वमय वर्णन किया है।

एक ओर गोपियां प्रेमोन्मत्त हो कृष्ण की मुरली के शब्द के सहारे कृष्ण-मिलन को अभिसारिका रूप में जाती हैं, दूसरी ओर कृष्ण गोपियों की प्रतीक्षा में उत्कंठित खड़े हैं। कवि ने यहां गोपियों के अभिसारिका रूप में बलवती संयोग इच्छा का तथा कृष्ण के उत्कंठित रूप में प्रेमी की अनिश्चित भावनाओं का सफल चित्र खींचा है।

मुरली का मधुर नाद गोपियों को कृष्ण-मिलन के लिए अधीर कर देता है। और वे कल्पना में पहले संयोग सुख का अनुभव करती हैं।

पुनि रंचक धरि ध्यान पिया परिरंभ दियो जब,
कोटि स्वर्ग सुख भोग छिनहि मंगल कीनो तब।

गोपियों के अभिसार में अभिसारिका का वैसा परकीया रूप नहीं है जैसा कि लुक छिप कर जाती हुई अभिसारिका का रूप हिंदी के शृंगारिक कवियों ने खींचा है। यहां गोपिकाएं निर्भीक चपलता के साथ सरिता की तरह उमड़ती हुई अपने प्रिय के पास जाती हैं।

ते पुनि तिहि मग चलीं रँगीली तजि गृह संगम।
जनु पिंजरन ते छुटे उड़े नव प्रेम विहंगम॥
चपल अधिक छवि फवित श्रवण मनि कुंडल झलकें।
संकित-लोचन चपल ललित जुट विलुलित अलकें॥
आय उमगि सों मिलीं रंगीली गोप बधू जस।
नंद-सुवन सागर-सुंदर सों प्रेम नदी जस॥

उधर कृष्ण गोपियों की प्रतीक्षा में खड़े हैं। जब उन्हें गोपियों के नूपुरों का शब्द सुनाई पड़ता है, तब उन की संपूर्ण इंद्रिय-शक्तियां कानों में केंद्रीभूत हो जाती हैं। और

जब वे दिखाई देने लगती हैं तो कृष्ण का ध्यान सब ओर से छूट कर केवल दृष्टि में संलग्न हो जाता है। इस 'इंतज़ारे यार' की स्वाभाविक तल्लीनता का वर्णन कवि ने थोड़े से शब्दों में बड़ा सजीव किया है।

जिन के नूपुर नाद सुनत जब परम सुहाये।
तब हरि के मन नयन सिमिटि सब श्रवनन आए॥
रुनुक झुनक पुनि भली भांति सों प्रगट भई जब।
प्रिय के अंग अंग सिमट मिले हैं रसिक नयन तब॥
सब के मुख अवलोकत पिय के नैन बने यों।
स्वच्छ सुंदर ससि मांझ अरबरे द्वै चकोर यों॥

परंतु संयोग को सुखद आनंद शीघ्र ही नहीं मिलता। जब गोपियां कृष्ण के पास पहुँच जाती हैं, उस समय वे उन की प्रेम-परीक्षा लेते हैं और उन से अपने घर में रह कर स्त्रियों के पातिव्रतधर्म के पालन करने को कहते हैं। कृष्ण के इस उपेक्षा भाव को पहले गोपियों ने प्रणय-प्रेम का विनोद समझा।

लाल रसाल के बंक बचन सुनि चकित भई यों।
बाल-मृगन की माल सघन बन भूलि परी ज्यों॥
मंद परस्पर हंसी लसीं तिरछी अंखियन अस।
रूप उदधि इतराति रँगीली मीन पांति जस॥

उपर्युक्त पंक्तियों में आपस में एक दूसरे की ओर शंकित भाव से तथा तिरछी आँखों से देखती हुई गोपियों के विनोद के चित्र को 'रूप उदधि इतराति रंगीली' वाली उत्प्रेक्षा ने और भी चमका दिया है। वास्तव में सफल कविता वही है जो थोड़े से चुने हुए शब्दों में आनंद के उद्रेक के साथ बहुत-सा भाव प्रकट करे। उच्च कोटि के कवियों की वर्णन-शैली में वह मोहिनी शक्ति होती है जो भाव और उस के आधार आलंबन आदि के सजीव चित्रों द्वारा, तथा बिना किसी क्लिष्ट कल्पना के हृदय में रस उत्पन्न कर दे। भाव के अनुकूल शब्दों का प्रयोग और शब्दों द्वारा भाव का संकेत नंददास के वर्णन की विशेषता है, और वे उपर्युक्त कसौटी पर खरे उतरते हैं।

जब गोपिकाओं ने कृष्ण की उपेक्षा का बढ़ा हुआ रूप देखा तो उन का प्रणय-विनोद का अनुमान शंका और चिंता में परिणत हो गया। उस समय वे संयोग ही में वियोग का अनुभव करने लगीं।

जब पिय कह्यो घर जाउ अधिक चिंता चित बाढ़ी।
पुतरिन की सी पांति रह गईं इकटक ठाढ़ी॥
दुख सों दबि छवि सींव ग्रीव नै चली नाल सी।
अलक अलिन के भार भ्रमित जनु कमलमाल सी॥
हिय भरि विरह हुतास उसासन संग आवत झर।
चले कछुक मुरझाय मधुभरे अधर बिंबवर॥
तब बोलीं ब्रजबाल लाल मोहन अनुरागीं।
सुंदर गद गद गिरा गिरधरहिं मधुरी लागीं॥

इन पंक्तियों में स्तंभ, वैवर्ण, सुरभंग, आदि सात्विक अनुभावों द्वारा भावी वियोग की आशंका से जनित चिंता, मलिनता, उच्छ्वास और संताप की विरह-दशाओं का चित्रण किया है। गोपियों के दृढ़ संकल्प को देख कर कृष्ण का हृदय द्रवित हो जाता है और वे गोपियों के साथ प्रेम लीला आरंभ कर देते हैं।

इस संयोग-वर्णन को यदि लौकिक दृष्टि से देखा जाय तो कहना पड़ता है कि कुछ अश्लीलता अवश्य आ गई है।

परिरंभन मुख चुंबन, कच कुच नीबी परसत।
सरसत प्रेम अनंग रंग नवघन ज्यों बरसत॥

परंतु इस वर्णन के बाद ही कवि ने इस रति-रूप को आध्यात्मिक पक्ष और धार्मिक पवित्रता की ओर मोड़ दिया है। गोपी-कृष्ण के सम्मुख कामवासना की समग्र सामग्री उपस्थित थी और रति-भाव के वाह्य शारीरिक विकार भी उपस्थित हो गए थे, परंतु गोपी और कृष्ण ने काम को जीत लिया।

तब आयो वह काम पंचसर कर हैं जाके।
ब्रह्मादिक को जीति बढ़ि रह्यो अति मद ताके॥

निरखत ब्रज बधु संग रंग भीने किसोर तन।
हरि मन्मथ को मथ्यो उलटि वा मन्मथ को मन ॥

यह भी गोपियों की एक परीक्षा थी, मानों लौकिक वासना की अग्नि में वे अछूती पार हो गई। 'सिद्धांतपंचाध्यायी' में कवि ने इस शृंगार-वर्णन में लौकिक काम की विद्यमानता पर विचार प्रकट किए हैं।

इस संयोग के बाद रास करते-करते कृष्ण थोड़ी देर के लिए छिप जाते हैं। यह गोपियों की दूसरी प्रेम-परीक्षा थी। थोड़ी देर की विरह-दशा का वर्णन कवि ने बड़े मार्मिक शब्दों में किया है। हम पहले कह आए हैं कि काव्य-दृष्टि से असंगत होते हुए भी यह प्रसंग नंददास के धार्मिक सिद्धांतों का भली-भाँति प्रतिपादन करता है। नंददास की "धार्मिक अनुभूति" में विरह का प्रमुख स्थान था, इसी कारण उन्हों ने अपनी रचना 'विरहमंजरी' में विरह को प्रधानता देते हुए उसे चार प्रकार का बताया है, प्रत्यक्ष विरह, पलकांतर विरह, बनांतर विरह, और देशांतर विरह। ध्यान रहे कि प्रत्येक तत्कालीन श्रेष्ठ कवि की भाँति धार्मिक अनुभूति की पूर्ण अभिव्यंजना ही नंददास की कविता का मुख्य उद्देश्य था।

'रासपंचाध्यायी' में वर्णित रस

'रासपंचाध्यायी' में नव रसों में से प्रधान रस शृंगार है जिस के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का संक्षेप में वर्णन है। परंतु नंददास जी इस शृंगार कथानक को लौकिक रति का उत्पादक नहीं कहते, वे तो इसे ब्रह्म-प्राप्ति की "परा विद्या" बताते हैं। कवि की दृष्टि से अथवा भक्तों की अध्यात्मिक दृष्टि से 'रासपंचाध्यायी' में आध्यात्मिक शृंगार भाव है, और माधुर्य प्रेमरस है जो अंत में शांत रस का उद्रेक करता है। परंतु लौकिक काव्य-समीक्षा की भाषा में इसे रतिभाव और शृंगार रस ही कहना होगा।

रासलीला गोपी-कृष्ण का विनोद सम्मेलन है, इस लिए इस प्रसंग में हास-परिहास की भी गुंजाइश है। परंतु नंददास ने हास्यरस का चित्रण नहीं किया है। रास-वर्णन में एक स्थान पर कवि कहता है—

बैठे तहँ सुंदर सुजान सब सुख निधान हरि।
बिलसत बिविध बिलास हास रस हिय हुलास भरि ॥

इन पंक्तियों में कवि ने कहा है कि गोपी-कृष्ण अनेक प्रकार के विलास कर हास-रस का आनंद ले रहे हैं। हास्य भाव की पूर्ण व्यंजना उस के आलंबन, उद्दीपन विभाव, उस के अनुभाव तथा संचारी भावों के चित्रण से होती है, तभी पाठक अथवा श्रोता को कल्पना संपूर्ण हास्य दृश्य उपस्थित करती है। इस विशद रूप में हास्य-रस का चित्रण नंददास ने नहीं किया है।

काव्य-रस उत्पन्न करने और उस में मन को रमाने के लिए अद्भुतता का भाव भी आवश्यक है। काव्य में बिना वैचित्र्य के आए पाठक को अपनी वास्तविक लौकिक परिस्थिति का विस्मरण और मन का आकर्षण उस स्थिति में नहीं होता, जिस स्थिति में पहुँच कर वह काव्यानंद का अनुभव करता है। वैचित्र्य-वर्णन काव्य के अद्भुत रस से कुछ भिन्न होता है। इस की विलक्षणता, आनंद का उद्दीपक हेतु बन कर, काव्य-अलंकार की श्रेणी में गिनी जाती है। अद्भुत रस के पूर्ण वर्णन में आश्चर्य से युक्त किसी घटना अथवा व्यापार का चित्रण आलंबन रूप में होना आवश्यक है। वास्तविक अद्भुत घटना का वर्णन स्वतंत्र अद्भुत रस की गणना में किया जाता है। 'रासपंचाध्यायी' में ऐसे अद्भुत रस का वर्णन तो नहीं है परंतु काव्य-चमत्कार और अद्भुत उक्तियां इस वर्णन में बहुत आई हैं। रास-रस इतना अधिक है कि कवि की कल्पना इस रस की सीमा तक नही पहुँच सकती। इस रास के आनंद का प्रभाव भी केवल मनुष्यों तक ही परिमित नहीं है, पशु-पक्षी, वृक्ष और पत्थर सभी इस से प्रभावित हो रहे हैं। पत्थर पिघल कर पानी हो गया और पानी जम कर पत्थर हो गया।

अद्भुत रस रह्यो रास गीत धुनि सुनि मोहे मुनि।
सिला सलिल ह्वै चलीं सलिल ह्वै रह्यो सिला पुनि॥

अंत में कवि इस अद्भुत रस के वर्णन में अपने को असमर्थ पाता है "नैनन के नहिं बैन बैन के नैन नहीं अस।"

'साहित्य-दर्पण' में एक प्रश्न उठाते समय लेखक ने कहा है कि मुनियों ने शांत रस उस रस को कहा है जहां न दुख न सुख, न कोई चिंता है न रागद्वेष है और न कोई इच्छा है। यह अवस्था वास्तव में मुक्त पुरुषों की होती है। मुक्त अस्वथा में किसी प्रकार के लौकिक भाव, अनुभाव आदि नही होते। तब फिर रस कैसे उत्पन्न हो सकता

है ? शांत भाव में जिस सुख का अभाव बताया गया है, वह लौकिक विषय-जन्य सुख है। शांत अथवा शम भाव में यही आध्यामित्क आनंद रस कहलाता है। इस रस का स्थायी भाव लौकिक विषय तथा लौकिक मनोवृत्ति से वैराग्य और भगवान के प्रति प्रेम है तथा तपोवन, वेदशास्त्र का पठन, सत्संग आदि उद्दीपन विभाव है, और स्वयं साक्षात् भगवान इस के आलंबन विभाव हैं। संसार की अनित्यता, पश्चात्ताप, मन में प्रबोध आदि इस रस के संचारी हैं। 'रासपंचाध्यायी' में नंददास जी की धार्मिक वृत्ति प्रधान है। कृष्ण लौकिक नायक नही हैं, और न गोपियां लौकिक नायिका हैं। कृष्ण तो साक्षात् ब्रह्म हैं, उन के संबंध में जितने भी भाव हैं, वे सब आध्यात्मिक हैं। गोपी-कृष्ण के रूप-वर्णन में कवि ने उन के सिद्ध आत्मा और परमात्मा रूप का बोध कराया है। रास के वर्णन में भी कवि की कृष्णभक्ति प्रधान रूप से लक्षित होती है। कवि का हृदय कृष्ण-भक्ति में मग्न परमात्मा के सामीप्य का अनुभव करने लगता है।

मोहन पिय की मुसकनि, ढलकनि मोर मुकुट की।
सदा बसो मन मेरे फरकनि पियरे पट की॥

ग्रंथ का माहात्म्य वर्णन करते हुए कवि ने इस रासलीला को नित्य और आध्यात्मिक शांति का देने वाला बताया है। यह रासलीला वास्तव में एक अन्योक्ति है, जिस में कृष्ण परम ब्रह्म परमात्मा हैं, गोपियां सिद्ध आत्माएं हैं जो लौकिक विषयों को छोड़ कर परमात्मा के प्रेम की चरम सीमा को पहुँच चुकी हैं, और रासलीला आत्मा तथा परमात्मा का सामीप्य मिलन है। कवि ने इस भाव को अपने ग्रंथ 'सिद्धांतपंचाध्यायी' में और भी स्पष्ट किया है। 'रासपंचाध्यायी' में भी कवि की अनेक उक्तियां रास की शृंगारिकता को आध्यात्मिकता की ओर मोड़ रही हैं।

निपट निकट घट में जो अंतर्यामी आहि।
विषय विदूषित इंद्री पकरि सकै नाँहि ताहि॥

लौकिक विषयों से विदूषित इंद्रियां अंतर्यामी परमात्मा को नहीं पहचान सकी। कवि के सिद्धांतानुसार यह रास नित्य है।

नित्य रास रस मत्त नित्य गोपी जल वल्लभ।
नित्य निगम जो कहत, नित्य नव तन अति दुल्लभ॥

जो यह लीला हित सों गावै सुनै सुनावै ।
प्रेम भक्ति सोइ पावै अस सब के जिय भावै ।।

यह उज्ज्वल रस माल कोटि जतनन करि पोई ।
सावधान होइ पहिरो अरु तोरो मत कोई ।।
श्रवन कीरतन ध्यान सार, सुमिरन कोटौ पुनि ।
ज्ञान सार, हरि ध्यान सार, श्रुति सार, गुथी मुनि ।।
अघहरनी मनहरनी सुंदर प्रेम-वितरनी ।
नंददास के कंठ बसो नित मंगल-करनी ।।

यह 'रासपंचाध्यायी' 'मनहरनी' है क्योंकि इस में काव्य-रस है और 'अघ-हरनी' है क्योंकि इस में आध्यात्मिक सुख देने वाला शांत रस है। रासलीला के आध्यात्मिक पक्ष का विवेचन 'सिद्धांतपंचाध्यायी' में और भी विस्तार से हुआ है।

'रासपंचाध्यायी' में छंद

'रासपंचाध्यायी' की रचना रोला छंद में हुई है। रोला मात्रिक छंद होता है और उस में चार चरण होते हैं। प्रत्येक चरण में चौबीस मात्राएं होती हैं ११ और १३ मात्राओं के बीच यति होती है। नंददास जी गान विद्या मे निपुण थे। उन की छंद-रचना में भी उन के पदों के संगीत का-सा ही माधुर्य है। नंददास के रोलाओं में एक संगीतमयी लय रहती है जो भाव-जनित आनंद को द्विगुणित कर देती है। उन की काव्य-उक्तियों मे तो आनंद है ही किंतु उन की संगीतमयी भाषा और रोला छंद के प्रवाह में भी कम आनंद नही है। 'रासपंचाध्यायी' का एक-एक शब्द इस प्रकार काव्यपटुता के साथ चुन-चुन कर रोला छंद की लड़ियों में पिरोया गया है कि जिस प्रकार मूँगे की सुमिरनी पर उँगली फिसलती चलती है उसी प्रकार जिह्वा भी एक शब्द से दूसरे शब्द पर सहज ही-सरकती चलती है। नंददास रोला छंद लिखने के लिए प्रसिद्ध हैं। नंददास के पहले रोला छंद का प्रयोग सूरदास ने भी किया है।

'रासपंचाध्यायी' की छपी तथा कुछ हस्तलिखित प्रतियों में रोला छंदों के बीच कुछ दोहे भी मिलते हैं, जैसे प्रथम अध्याय में नीचे लिखे दोहे हैं।

श्री सुक रूप अनूप को क्यों बरने कवि नंद ।
अब बृंदाबन बरनि हौं जहं बृंदावन चंद ।।
श्री बृंदाबन चंद बन कछु छवि बरनि न जाय ।[1]
कृष्ण ललित लीला निमित धारि रह्यो जड़ताय ।।

दोहे प्रथम अध्याय में दो स्थानों पर, दूसरे अध्याय में दो स्थानों पर और पाँचवें अध्याय में एक स्थान पर मिलते हैं। हमारे विचार से ये दोहे प्रक्षिप्त हैं। इन दोहों का रोलाओं के बीच कोई क्रम नहीं है। 'रासपंचाध्यायी' के जिस प्रसंग का ये वर्णन करते हैं उस में ये पुनरुक्ति कारक हैं, उदाहरण-स्वरूप नीचे के दोहे और रोला में एक ही भाव वर्णित है।

दोहा — **श्री सुक रूप अनूप को क्यों बरने कवि नंद ।**
अब बृंदाबन बरनिहौं जहं बृंदाबन चंद ।।

रोला — **अब सुंदर श्री बृंदाबन को गाय सुनाऊं ।**
सकल सिद्धिदायक पै सब ही सब विधि पाऊं ।।

'रासपंचाध्यायी' की वहुत सी हस्तलिखित प्रतियों में ये दोहे नहीं मिलते। भाषा के विचार से इन दोहों के प्रक्षिप्त होने का अनुमान लगाना कठिन अवश्य है, फिर भी दोहों की भाषा में वह पद-लालित्य नहीं है जो रोला छंदों की भाषा में है। इन दोहों में कुछ दोहे ऐसे भी हैं जो अन्य कवियों की रचनाओं में भी मिलते हैं। श्री ब्रजमोहनलाल द्वारा संपादित 'रासपंचाध्यायी' के प्रथम अध्याय में निम्नलिखित एक दोहा है—

सो हंसि हंसि एसें कह्यो सुंदर सब को राउ ।
हमरो दरश तुम्हें भयो अपने घर को जाउ ।।

यही दोहा अष्टछाप कवियों में से एक भक्त कृष्णदास जी की 'रासपंचाध्यायी' में इस प्रकार दिया है—

'रासपंचाध्यायी', पहला अध्याय, पृष्ठ ३, संपादक, श्री ब्रजमोहनलाल ।

गोपिन सों हरि हंसि कह्यो सुंदर सब को राव।
हमरो दरश तुम्हें भयो अपने घर को जाउ ।।[1]

और भी नंददास की 'रासपंचाध्यायी' के दूसरे अध्याय में निम्नलिखित दोहा है—

पिया संग एकांसत रस विलसति राधा नारि।
कंध चढ़न हरि सों कह्यो यातें तजी मुरारि ।।

यही दोहा कृष्णदास की 'पंचाध्यायी' में निम्नलिखित रूप में मिलता है—

पिया संग एकांत रस विलसे राधा नारि।
कंध चढ़न प्रभू सों कह्यो याते तजी मुरारि ।।[2]

इन कारणों से ज्ञात होता है कि 'रासपंचाध्यायी' में आए हुए दोहे नंददास की कृति नहीं हैं।

'रासपंचाध्यायो' की भाषा

काव्य-भाषा का सब से बड़ा गुण यह होता है कि भाषा में भाव प्रकट करने की पूर्ण शक्ति है। यह शक्ति भाव के अनुसार शब्दों के चुनाव पर ही निर्भर रहती है। उपयुक्त शब्दों का प्रयोग भाव को एकदम सीधा पाठक के हृदय तक पहुँचा देता है। नंददास की भाषा में भाव के अनुसार शब्द-चयन का गुण प्रचुर मात्रा में है। रासलीला शृंगार भाव पूर्ण है। इस लिए इस में मधुरावृत्ति के शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। उदाहरण—

मंद परस्पर हंसी लसी तिरछी अंखियन अस।
रूप उदधि इतराति रँगीली मीन पाँति जस ।।

इस पद्य में एक-एक शब्द इस प्रकार चुन-चुन कर रक्खा गया है कि प्रत्येक शब्द

---

[1] वर्षोत्सव के कीर्तन (नित्य कीर्तन) पृष्ठ ३११, (प्रकाशक, लल्लूभाई छगन-लाल, अहमदाबाद)।

[2] वही, पृ० ३१२

प्रसंग के अनुकूल भाव को प्रकट कर रहा है। 'इतराना' शब्द बहुत अर्थगर्भित है। गोपियों के हृदय की संयोग अवस्था में उमंग, कृष्ण के प्रेम की दृढ़ प्रतीति, और उन की वक्रोक्ति पर अपना विनोद, इस एक शब्द से प्रकट हो रहा है। इस प्रकार के उदाहरण 'रास-पंचाध्यायी' में अनेक स्थलों पर मिलेंगे। रास-क्रीड़ा में भी गायन, वादन और नृत्यभाव के द्योतक शब्दों का प्रयोग हुआ है। जैसे—

नूपुर कंकन किंकन करतल मंजुल मुरली।
ताल मृदंग उपंग चंग एकै सुर जुरली॥
तैसिय मृदु पद पटकनि, चटकनि करतारन की।
लटकनि मटकनि झलकनि कल कुंडल हारन की॥

नंददास की भाषा का दूसरा गुण है मधुर और परिचित शब्दावली का प्रयोग। इस प्रकार के प्रयोग से भाव स्पष्टता का गुण 'रासपंचाध्यायी' की भाषा में निखर उठा है। इसी को काव्य-समीक्षा की भाषा में 'प्रसाद गुण' कहते हैं। प्रेममद से उन्मत्त नैनों के लिए "अलस कछु घूमघुमारे नैन", बनावट और शोभा के लिए "बानक", "लावण्य" के लिए "लुनाई" आदि शब्दों के घरेलू और सरल प्रयोगों ने 'रासपंचाध्यायी' की भाषा को भावपूर्ण प्रसादता का गुण दे दिया है। नंददास ने जिन संस्कृत के शब्दों का प्रयोग किया है वे भी ब्रजभाषा के ढाँचे में ढले हुए हैं। संस्कृत भाषा से नंददास ने बहुत-सी शब्दावली ली है परंतु उस को ब्रजभाषा के उच्चारण में रंग दिया है। जैसे "गुण" के स्थान पर "गुन", "योग" के स्थान पर "जोग", "क्षुधित" के लिए "छुदित", "शृंगार" के लिए "सिंगार", "सूक्ष्म" के स्थान पर "सुच्छम" आदि। अष्टछाप के सभी कवियों ने ब्रजभाषा को संस्कृत शब्दावली से समृद्ध बनाया है। और उसे ब्रजभाषा का जामा सभी कवियों ने पहनाया है। वैसा ही नंददास ने भी किया है। खड़ीबोली में संस्कृत से ली हुई कुछ क्रियाओं में 'करना' या 'होना' लगा कर क्रिया का रूप बनाया जाता है, जैसे, 'स्पर्श करना', 'दर्शित होना', 'आकर्षित करना' आदि। इन के स्थान पर नंददास ने संयुक्त क्रियाओं में से 'करना' 'होना' सहकारी क्रियाओं को हटा कर क्रमशः स्वतंत्र कियाएं बनाई हैं, यथा—'परस्यौ', 'दरस्यौ' और 'करषत' आदि।

काव्यमयी भाषा का एक गुण और हुआ करता है और वह है भाषा में प्रवाह,

ग्रौर भाव तथा नाद सौंदर्य का समन्वय। नंददास ने 'रासपंचाध्यायी' में ऐसी ही भाषा का प्रयोग किया है। उन की भाषा में प्रवाह ग्रौर नाद-सौंदर्य है। ग्रनुप्रास के प्रयोग ने भाषा को ग्रौर भी मधुर बना दिया है।

नंददास के समय में कृष्णभक्ति का भारत में दूर-दूर तक प्रचार था। इस से भिन्न-भिन्न प्रांतों के लोग ब्रज में जाया करते थे। इस से ब्रज के लोगों के विचार ग्रौर भाषा पर ग्रन्य-प्रांतीय प्रभाव भी बहुत हुए। ग्रष्टछाप के कवियों की भाषा पर पूर्वी हिंदी का प्रभाव भी मिलता है। नंददास की पंचाध्यायी में 'है' के स्थान पर 'ग्रहै', 'ऐसो' के स्थान पर 'ग्रस', तुम्हारे के स्थान पर 'तुम्हरे' ग्रौर 'राउर' ग्रादि पूर्वी हिंदी के प्रयोग ग्राए हैं। इस ग्रंथ में कहीं-कहीं फ़ारसी शब्दों का भी प्रयोग है, परंतु यह प्रयोग बहुत थोड़ा है, जैसे—'लायक' शब्द।

कूर बचन जनि कहो नाहिं यह तुम्हरे लायक।

उपर्युक्त विवेचन के ग्राधार पर हम संक्षेप में कह सकते हैं कि 'रासपंचाध्यायी' की भाषा माधुर्य ग्रौर प्रसादगुण पूर्ण है। कहीं भी कर्णकटु शब्दों का प्रयोग नहीं हुग्रा। शब्दों को श्रुति-मधुर बनाने के लिए तोड़ा-मरोड़ा भी गया है परंतु इस तोड़-मरोड़ में उन की मधुरता ग्रौर प्रसादता का ह्रास नहीं होने पाया है। भाव के ग्रनुकूल ललित भाषा के प्रयोग के ग्राधार पर ही नंददास के विषय में यह कहावत प्रसिद्ध है कि "ग्रौर सब गढ़िया, नंददास जड़िया"।

'रासपंचाध्यायी' में ग्रलंकारों का प्रयोग

ग्रलंकार भाषा-शैली के उत्कर्षवर्धक गुण कहे जाते हैं। वास्तव में ग्रलंकारों के प्रयोग से हम थोड़े से शब्दों में बहुत-सा भाव व्यक्त करने में समर्थ होते हैं। साथ में जो भाव व्यक्त होता है वह ग्रलंकारिक उक्तियों द्वारा ग्रधिक प्रभावयुक्त बना दिया जाता है। परंतु इस का ग्रर्थ यह कभी नहीं है कि भाव की ग्रभिव्यक्ति को भूल कर कवि ग्रलंकारों के प्रयोग में ही रह जाय। ग्रलंकार भाव के पीछे चलने वाले उपकरण मात्र हैं। यह भाषा का ग्रलंकार शब्द ग्रौर ग्रर्थ दो प्रकार का होता है ग्रौर बहुधा काव्य में दोनों का सहयोग काव्यानंद की वृद्धि करता है। नंददास ने शब्द ग्रौर ग्रर्थ दोनों प्रकार

के अलंकारों के प्रयोग से अपने काव्य के उत्कर्ष को बढ़ाया है। शब्दालंकारों में 'रास-पंचाध्यायी' में अनुप्रास का प्रयोग विशेष रूप से हुआ है। नंददास भाषा के 'जड़िया' इसी लिए कहे जाते हैं कि उन्हों ने श्रुति-मधुर शब्दों का प्रयोग वर्णित भाव के अनुकूल किया है। 'रासपंचाध्यायी' का एक भी छंद ऐसा नहीं है जो इस स्वाभाविक अनुप्रास की मधुरता से रहित हो।

अर्थालंकारों में से 'रासपंचाध्यायी' में उपमा अनन्वोपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और स्वभावोक्ति का प्रयोग अधिक हुआ है। स्वरूप बोध कराने और भाव तीव्र करने के लिए नंददास ने उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग विशेष रूप से किया है। नंददास की उत्प्रेक्षाओं की कल्पना बड़ी मार्मिक और प्रभावशाली होती है। उन में बे-सिरपैर की उड़ान और शब्दों की कलाबाजी नहीं है। अंत में अलंकारों के कुछ उदाहरण 'रासपंचाध्यायी' से उद्धृत करके इसे लेख को समाप्त करता हूं।

उपमा : **तब लीनी कर कमल योगमाया सी मुरली।**
कोऊ प्रिय को रूप नैन भरि उर धरि आवत।
मधुमाखी ज्यों देखि दसों दिसि अति छवि पावत॥

रूपक : **लोचन त्रिषित चकोरन के चित चोंप बढ़ावत।**

अनन्वयोपमा : **या बन की बर बानक या बन ही बन आवै।**

संबंधातिशयोक्ति : **सेस महेस सुरेस गनेसहु पार न पावै॥**

संदेह : **जनो घन तें बिछुरी बिजुरी मानिनि तनु काछें।**
किधौं चंद सों ससि चंद्रिका रहि गई पाछें॥

उत्प्रेक्षा और रूपक : **सुंदर प्रिय को बदन निरखि के को नहिं भूले।**
रूप सरोवर मांझ सरस अंबुज जनु फूले॥

असंगत : **जब पशु चारन चलत चरन कोमल धरि बन में।**
सिल तृण कंटक अटकत कसकत हमरे मन में॥

विषम : **कहं यह हमरी प्रीति कहां तुम्हरी निठुराई।**

विंभावना : ज्यों चंदन चंद्रमा तपन सब सीतल करहीं।
पिय विरही जे लोग तिनहि लगि आगि वितरहीं ॥

स्वभावोक्ति : पीत बसन बन माल धरें मंजुल मुरली हथ।
मंद मधुर मुसिकान निपट मन्मथ के मन्मथ ॥

सिद्ध भुसुकुपा

[लेखक—श्रीयुत परशुराम चतुर्वेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०]

(१)

सिद्ध भुसुकुपा की गणना प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों में की जाती है और तिब्बत की सिद्ध-चित्रावली में इन्हें क्रमानुसार ४१वां स्थान दिया गया है। श्री राहुल सांकृत्यायन के अनुसार "कहते हैं इन्हीं का नाम शांतिदेव भी था; इन की विचित्र रहन-सहन को देख कर राजा देवपाल ने एक बार 'भुसुकु' कह दिया और तभी से इन का नाम भुसुकु पड़ गया।"[1] और, इस प्रकार, वे 'भुसुकु' शब्द का कोई विशेष अर्थ बतलाते हुए नहीं जान पड़ते। परंतु एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में सुरक्षित १४वी ईस्वी शताब्दी की एक तीन पन्नों की हस्तलिखित प्रति के अनुसार इन का पूर्व नाम, वास्तव में, अचलसेन था, किंतु नालंदा-विश्वविद्यालय में सर्वदा शांतभाव से रहने के कारण, ये शांतिदेव भी कहलाते थे और, चूँकि, खाते, पीते, सोते अथवा अपनी कुटी में निवास करते समय, सदा इन का शरीर उज्ज्वल ही उज्ज्वल भासित होता था, इस लिए वहां के लोग उन्हें 'भुसुकु' भी कहने लग गए थे।[2] उक्त सोसाइटी में ही सुरक्षित और ताड़पत्र पर लिखे गए एक दूसरे ग्रंथ 'वर्णन-रत्नाकर' के रचयिता ने, अपने चौरासी सिद्धों की सूची में ७६वें सिद्ध का नाम 'भुसकुटी' दिया है[3] जो, ऐसे नाम वाले किसी दूसरे सिद्ध के न होने से, उक्त 'भुसुकु' का ही रूपांतर वा विकृत रूप सा समझ पड़ता है। जो हो, शांतिदेव के नाम से 'तंजूर' की सूची में[4] जो तीन ग्रंथों के उल्लेख हैं उन में से अंतिम दो के रचयिताओं को क्रमशः 'महापंडित' व 'योगीश्वर' भी लिखा गया है और इन के उपलब्ध आठ चर्यापदों में से दो

---

[1] राहुल सांकृत्यायन, 'गंगा' (पुरातत्त्वांक), पृष्ठ २४६
[2] हरप्रसाद शास्त्री, 'बौद्ध गान ओ दोहा' (मुखबंध), पृष्ठ १०
[3] वही, पृष्ठ ३६
[4] वही, ('बौद्ध तांत्रिक ग्रंथकार-सूची' नाम से अंत में उद्धृत है)।

(अर्थात् पद ४१ व ४३)[१] में इन के नाम भुसुकु के साथ-साथ 'राउतु' की पदवी भी पाई जाती है। सांप्रदायिक परंपरा के अनुसार भुसुकुपा किसी 'मंजुवज्र' के शिष्य कहे जाते हैं, जिन के नाम, उक्त 'तेंजूर' में, तीन ग्रंथों का पता चलता है, किंतु उन का उल्लेख चौरासी सिद्धों के अंतर्गत नहीं पाया जाता। इन के गुरु का एक दूसरा नाम नागबोधि भी मिलता है जो, चौरासी सिद्धों की सूची के अनुसार, एक प्रमुख सिद्ध की भी संज्ञा है। परंतु मंजुवज्र एवं नागबोधि का एक ही व्यक्ति होना किसी प्रमाण से पुष्ट नहीं होता, और न इस विषय में कोई अन्य सामग्री ही उपलब्ध है।

स्वर्गीय महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने, एशियाटिक सोसाइटी की ऊपर उल्लिखित हस्तलिखित प्रति के आधार पर, शांतिदेव का जीवन-चरित इस प्रकार दिया है[२]—ये किसी राजा के लड़के थे जिस का नाम मंजुवर्मा था। उस के देश का नाम उक्त प्रति मे लिखा है, किंतु पढ़ा नही जाता। मंजुवर्मा ने इन्हें युवराज बनाना चाहा था परंतु उस की रानी को यह बात पसंद नहीं आई। उस ने उन्हें समझा दिया कि "देखो, युवराज होने पर तुम फिर किसी दिन राजा भी बनोगे जिस कारण, क्रमशः तुम्हें पाप में ही डूबते जाना पड़ेगा। इस लिए, यदि अपना भला चाहते हो तो तुम, यहां से भाग कर, शीघ्र बुद्धों व बोधिसत्वों के देश में चले जाओ। मंजुवज्र के यहां उपदेश ग्रहण करने पर तुम्हारी धर्मोन्नति होगी।" युवक को ये बातें अच्छी जान पड़ीं और वह, एक सब्ज़े घोड़े पर सवार हो कर, अपने देश से निकल पड़ा। उस के कई दिन, इस प्रकार, मार्ग में घोड़े पर ही, बिना नींद वा भोजन के बीते। अंत में, किसी दिन, एक घने जंगल में किसी सुंदरी बालिका ने उस के घोड़े की लगाम पकड़ ली और, आग्रह-पूर्वक उसे नीचे उतार कर, भोजन कराया। उस की बातचीत से पता चला कि वह मंजुवज्र की ही शिष्या है, अतएव, प्रसन्नता-पूर्वक उस के साथ-साथ ये उस महापुरुष के आश्रम पर भी गए, और लगातार बारह वर्षों तक वहां ठहर कर, मंजुश्री के संबंध में ज्ञानोपार्जन करते रहे। शिक्षा समाप्त होने पर उक्त गुरु ने इन्हें मध्य प्रदेश की ओर जाने का आदेश दिया जहां पहुँच कर ये मगध के राजा के यहां 'राउत' वा सेनापति बन गए और इन का नाम वहां अचलसेन

---

[१] **प्रबोधचंद्र बागची-संपादित 'चर्यापद', पृष्ठ १४७ व १४९**

[२] **'बौद्धगान ओ दोहा' (मुखबंध), पृष्ठ ९-११**

करके प्रसिद्ध हो चला।

मगध में रह कर ये अपने पास एक देवदार लकड़ी की तलवार रखते थे जिसे और किसी को नहीं दिखलाते थे। जब ये धीरे-धीरे, कुछ दिनों में, उक्त राजा के प्रिय पात्र बन गए तो अन्य राउत इन से द्वेष करने लगे और, इन्हें नीचा दिखलाने की इच्छा से, उन्हों ने राजा से, इन की निंदा करते हुए, एक दिन स्पष्ट कह दिया कि "अचलसेन के पास निरे काठ की तलवार है, जिस से वह युद्ध नही कर सकता।" राजा ने, यह सुन कर, आज्ञा निकाली कि "सब लोग मुझे, अमुक दिन, अपनी-अपनी तलवारें दिखलावें; मैं उन की परीक्षा करना चाहता हूं।" तदनुसार सब ने अपनी-अपनी तलवारें दिखलाईं, किंतु अचलसेन इस बात पर किसी प्रकार सहमत नहीं हुए और, राजा के बहुत कुछ जिद करने पर इन्हों ने कह दिया कि "मेरी तलवार के तेज के सामने आप अंधे हो जायेंगे, अतएव, यदि देखना ही चाहते हों तो, कृपापूर्वक अपनी एक आँख बंद कर पहले इस बात की परीक्षा कर लीजिए।" राजा ने ऐसा ही किया और उस की एक आँख जाती रही। फिर भी उस ने प्रसन्न हो कर इन की प्रशंसा की, किंतु इन्हें अब राउतगिरी पसंद न थी। अपनी उक्त तलवार को इन्हों ने, एक पत्थर पर पटक कर तोड़ डाला और दूसरे भेष में नालंदा जाकर, भिक्षु बन गए।

नालंदा में ये किसी एकांत स्थान पर कुटी बना कर रहते थे जहां से केवल 'त्रिपिटक' की व्याख्या सुनने जाया करते थे। ये, वहां रह कर, योग की साधना किया करते थे और, सदा शांत भाव से रहने के कारण, शांतिदेव कहला कर प्रसिद्ध थे। परंतु नालंदा में ही इन का एक और नाम भुसुकु भी पड़ गया क्योंकि, भोजन, शयन, अथवा कुटी में वास करते समय भी, ये सदा उज्वल ही उज्वल दीख पड़ते थे। "भुञ्जानोऽपि प्रभास्वरः सुप्तोऽपि कुटिंगतोऽपि तदेवेति भुसुकु समाधि समापन्नत्वात् भुसुकु नाम ख्यातिं सङ्घेऽपि।"

शांतिदेव अथवा भुसुकु को, वहां इसी भाँति रहते हुए, कुछ दिन व्यतीत हो गए। ये किसी से बोलते नहीं थे। अपना काम किया करते थे। तो भी नवयुवक विद्यार्थी इन से छेड़-छाड़ करने लगे। उन की धारणा थी कि ये कुछ जानते नहीं, इस लिए किसी दिन इन्हें तंग करना चाहिए। नालंदा में, नियमानुसार, प्रत्येक ज्येष्ठ की शुक्लाष्टमी को पाठ होता था और उस की व्याख्या की जाती थी। इस के लिए उस विशाल विहार की उत्तर-पूर्व वाली बड़ी धर्मशाला सजाई जाती और सभी विद्वान् वहां उपस्थित होकर

अपना-अपना प्रवचन दिया करते। इस प्रकार, एक बार, सब के वहां पहुँच जाने पर, लड़के शांतिदेव से आग्रह करने लगे कि आज आप को भी पाठ पढ़ कर उस की व्याख्या करनी होगी और, उन के लाख आना-कानी करने पर भी, उन्हों ने इन्हें, बलात्कार-पूर्वक वेदी पर लाकर, बिठा दिया। उन्हों ने सोचा था कि जब ये कुछ भी न कह सकेंगे तो हम लोग हँसेंगे और ताली पीटेंगे। किंतु शांतिदेव वहां बैठते ही गंभीर मुद्रा के साथ बोले, "किं आर्षं पठामि अर्थार्ष वा" जिसे सुनते ही वहां के सभी पंडित स्तब्ध से हो गए। वे 'आर्ष' का नाम तो सुन चुके थे, किंतु 'अर्थार्ष' शब्द से अपरिचित थे। इस कारण उन्हों ने इन दोनों के बीच 'प्रभेद' वा अंतर जानना चाहा। शांतिदेव बोले कि "परमार्थ-ज्ञानी लोगों का नाम 'ऋषि' है जो बुद्ध वा जिन हुआ करते हैं और जो कुछ वे कहते हैं वही 'आर्ष' कहलाता है। यदि कहो कि, सुभूति आदि शिष्यों के भी जो उपदेश ग्रंथों में है, वे किस प्रकार आर्ष कहलाते है तो, इस का उत्तर यह है कि--

यदर्थवद्धर्म पदोपसंहितं, त्रिधातु संक्लेश निवर्हणं वचः।
भवे भवेच्छान्त मनुशंसदर्शकं, तद्वत् ऋमार्षं विपरीतमन्यथा॥

अर्थात् आर्ष ग्रंथों से जो कुछ पंडित लोग आकर्षण करके ले लेते हैं वही अर्थार्ष कहलाता है, अतएव सुभूति आदि के जो उपदेश हैं वे आर्ष हैं क्योंकि स्वयं भगवान् ही उस के अधिष्ठाता हैं।" पंडितों ने, इस पर कहा, "हम लोगों ने आर्ष तो बहुत सुना है, कुछ अर्थार्ष ही सुनाइए।"

शांतिदेव ने इस के पहले 'बोधिचर्यावतार', 'शिक्षा-समुच्चय' एवं 'सूत्र-समुच्चय' नामक तीन ग्रंथों की रचना कर ली थी। अतएव कुछ काल तक इन्हों ने ध्यान किया और फिर 'बोधिचर्यावतार' का पाठ करने लगे। 'बोधिचर्यावतार' की भाषा व उस के भावों की गंभीरता का प्रभाव पंडितों के ऊपर पूर्णरूप से पड़ा और वे मुग्ध होकर उसे श्रवण करने लगे। उपस्थित विद्यार्थीवर्ग तक इन के प्रति भक्ति की भावना से विह्वल हो गया। अंत में जिस समय जम कर पाठ हो रहा था और महायान के गूढ़ तत्वों की व्याख्या चल रही थी तथा शांतिदेव अपने मधुर स्वर में--

यदा न भावो नाभावो, मतेः संतिष्ठते पुरः ;
तदान्यगत्यभावेन, निरालम्बः प्रशाम्यति।

श्लोक के स्पष्टीकरण में लगे हुए थे, उसी समय, अकस्मात् स्वर्ग का द्वार खुल गया और, उज्वल वर्ण के विमान पर बैठे तथा दिगदिगंत को आलोकित करते हुए, स्वयं मंजुश्री उतरते हुए दीख पड़े। व्याख्या के समाप्त होते ही उन्हों ने आकर शांतिदेव का गाढालिंगन किया और इन्हें विमान पर ले कर चले गए। दूसरे दिन पंडित लोग इन की कुटी पर गए और 'बोधिचर्यावतार', 'शिक्षासमुच्चय' एवं 'सूत्र-समुच्चय' को वहां से लाकर उन के अध्ययन व प्रचार में प्रवृत्त हो गए। इन तीनों ग्रंथों में से आज तक प्रथम दो ही उपलब्ध हैं और उन का प्रकाशन भी हो चुका है। 'सूत्रसमुच्चय' का पता अभी तक नहीं चल पाया है। संभव है पीछे कभी वह भी मिल जाय।

ऊपर दिए गए लंबे अवतरण के अनुसार शांतिदेव एवं भुसुकु, स्पष्टरूप में, एक ही व्यक्ति जान पड़ते हैं। परंतु क्या भुसुकुपा भी शांतिदेव ही थे? स्वर्गीय शास्त्री महोदय ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखा है कि भुसुकुपा के पद सहजयान के हैं और उक्त ग्रंथ महायान से संबंध रखते हैं तथा, यद्यपि 'शिक्षासमुच्चय' की भूमिका में बेंडल साहब उस के विषय का तांत्रिक होना सिद्ध करते हैं तथापि इस के, उस के अंतर्गत, केवल अल्प मात्रा में ही आने से, इस प्रकार का निर्णय असंदिग्ध नहीं समझा जा सकता है। परंतु शांतिदेव द्वारा लिख गए एक अन्य तांत्रिक ग्रंथ का पता हमें 'तेंजूर' की प्रसिद्ध सूची से भी चल जाता है। इस ग्रंथ का नाम 'श्रीगुह्यसमाज-महायोग-तंत्रवलिविधिनाम' है और उस के रचयिता शांतिदेव की उपाधि 'महापंडित' की दी गई है। उक्त 'तेंजूर' में, इसी प्रकार, शांतिदेव के एक दूसरे ग्रंथ 'सहजगीति' का भी उल्लेख है जो सहजयान का जान पड़ता है। परंतु इस के रचयिता शांतिदेव को 'महापंडित' न कह कर 'योगीश्वर' कहा गया है, जिस कारण, दोनों को एक मानने में कदाचित् कोई आपत्ति की जाय। तो भी, यदि दोनों के केवल विषयों की ही समानता पर विचार किया जाय, तो उन का एक होना बहुत कुछ संभव भी समझा जा सकता है। इस के सिवा एशियाटिक सोसाइटी का जो ४८०१ नं० वाला ग्रंथ है वह अपूर्ण होने पर भी, स्वर्गीय शास्त्री महोदय के ही अनुसार, भुसुकु की रचना एवं सहजयान विषय का प्रमाणित होता है और उस में तांत्रिक बौद्धों के कुटी-निर्माण, शयन, भोजनादि की भी व्यवस्था दी गई है। भुसुकुपा की उपलब्ध रचनाओं की भाषा ('बाङ्गाला') के साथ उक्त ग्रंथ की भाषा की समानता का अनुमान

करें, वे दोनों के रचयिताओं को भी एक ठहराते हुए जान पड़ते हैं।[1] अतएव यदि प्रथम शांतिदेव भुसुक महायानी होने के साथ-साथ तांत्रिक भी समझ पड़ते हैं और दूसरे अर्थात् तांत्रिक शांतिदेव का सहजयानी भी होना असंभव नहीं दीखता तथा, यदि भुसुकं की उक्त अपूर्ण रचना भी एक ही साथ तंत्र व सहजयान दोनों की कही जा सकती है और भाषा की दृष्टि से दोनों के रचयिताओं का एक होना भी मान लिया जा सकता है, तो कोई कारण नहीं है कि, हम एक ही व्यक्ति को उक्त सभी रचनाओं का निर्माता न मान लें और ऊपर दिए गए जीवन वृत्त-संबंधी विवरण पर कुछ न कुछ सांप्रदायिक अत्युक्तियों का आरोप कर, इस विषय में लक्षित होने वाली विषमता का उस व्यक्ति के मानसिक विकास वा परिवर्तन द्वारा परिहार कर डालने का प्रयत्न करें।

परंतु ऐसा करते समय एक दूसरे प्रकार की बाधा, भुसुकुपा के आविर्भाव-काल की दृष्टि से भी, ला खड़ी की जा सकती है। ऊपर लिखित 'बोधिचर्यावतार' आदि ग्रंथों का रचना-काल सन् ६४८ व ८१६ ई० के मध्य में रक्खा जाता है और उक्त 'श्रीगुह्य-समाज-महायोग-तंत्रवलिविधिनाम' की रचना का भी समय, कदाचित्, सन् ६९५ ई० ही समझा गया है।[2] अतएव उन के रचयिता, एक न होने पर भी, समकालीन समझे जा सकते हैं। किंतु तिब्बत की सिद्ध-चित्रावली के अनुसार लुईपा आदि सिद्ध माने जाते हैं और उन का समय सन् ९५० व १०५० ई० के मध्य अथवा सन् ७६९ व ८०९ के आस-पास का बतलाया जाता है, इस लिए भुसुकुपा, सर्वसम्मति से, उन के अनंतर आने के कारण, उक्त प्रथम वा द्वितीय शांतिदेव के साथ एक नहीं हो सकते। तो भी, प्रोफ़ेसर तुची के अनुसार,[3] लुई विषयक एक उल्लेख शांतिरक्षित (जन्म सन् ६५० ई०) के ग्रंथ 'अभिसमयमंजरी' में इस प्रकार आया है—

ततः......द्वयं कृत्वा ज्ञानचक्रविभावनमिति लुयी-पादोक्तेः।

और इस के आधार पर प्रायः निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे, उक्त दोनों ही

---

[1] हरप्रसाद शास्त्री, 'बौद्धगान ओ दोहा' (मुखबंध), पृष्ठ २३

[2] विनयतोष भट्टाचार्य, 'गुह्यसमाजतंत्र' (भूमिका), पृ० ३०

[3] तुची: 'ऑन दि नेम्स मीननाथ ऐंड मत्स्येंद्रनाथ' (जर्नल अव् दि एशियाटिक सोसाइटी अव् बेंगाल), भाग २६ (१९३० ई०), पृष्ठ १३४

शांतिदेव, से प्राचीन थे तथा, इस दृष्टि से, उन दोनों का भुसुकुपा के साथ एक होना भी संभव है। सच तो यह है कि, पर्याप्त सामग्रियों के अभाव में, केवल कतिपय रचनाओं के विषय, काल वा भाषा की ही तुलना के आधार पर, हम इस संबंध में किसी प्रकार का अंतिम निर्णय देने में असमर्थ हैं।

(२)

जीवनवृत्त-संबंधी उक्त विवरण देने वाली हस्तलिखित प्रति में शांतिदेव के मूल निवास-स्थान का भी नाम दिया गया है, किंतु वह पढ़ा नहीं जाता और, इसी प्रकार, 'श्रीगुप्तसमाज-महायोग-तंत्रवलिविधिनाम' के रचयिता के घर का भी किसी 'जाहोर' में होना बतलाया गया है, जिस की भौगोलिक स्थिति अज्ञात है। लामा तारानाथ के अनुसार शांतिदेव सौराष्ट्र देश के निवासी राजपुत्र थे जिसे वेंडल साहब भी स्वीकार करते हुए जान पड़ते हैं। तो भी, ऊपर लिखित घटनाओं के आधार पर, यह भी स्पष्ट है कि वे मगध एवं नालंदा में भी बहुत दिनों तक रहे थे जिस कारण उन का पूर्व भारत से भी कुछ कम संबंध नहीं रहा। सिद्ध भुसुकुपा के संबंध में लिखते हुए स्वर्गीय शास्त्री महोदय ने कहा है कि उन का निवास-स्थान "बंगाल में था, इस विषय में कोई संदेह नहीं"[१] और इस के प्रमाण में वे, उन की उपलब्ध रचनाओं में से एक की पंक्तियां—

बाज णाव पाडी पँउआ खाले बाहिउ,
अदय बङ्गाले क्लेश लुड़िउ ॥
आजि भूसु बङ्गाली भइली,
णिअ घरिणी चण्डाली लेली ॥

उद्धृत कर, उन का इस प्रकार अर्थ करते हैं—"वज्रनौका को मैंने पारी देकर पद्मखाल में छोड़ दिया और अद्वय जो बंगाल देश है वहां पहुँच कर क्लेश लुटा दिया। रे भूसु, त आज सचमुच बंगाली हो गया जिस कारण अपनी घरणी को चंडाली के रूप में ग्रहण कर लिया।" परंतु इसी के आगे वे यह भी कहते हैं कि "सहजयान के मतानुसार 'अवधूती', 'चंडाली' और 'डोम्नी' वा 'बंगाली' नाम से तीन मार्ग प्रसिद्ध हैं, जिन में से 'अवधूती'

---

[१] **हरप्रसाद शास्त्री, 'बौद्धगान ओ दोहा' (मुखबंध), पृष्ठ १२**

में 'द्वैतज्ञान है, 'चंडाली' में द्वैतज्ञान कहा भी जा सकता है नहीं भी कहा जा सकता; परंतु 'डोम्नी' में केवल अद्वैतज्ञान है—द्वैत से कोई संबंध नहीं। बंगाल में अद्वैतमत का अधिक प्रचार है जिस कारण वह अद्वैतज्ञान का आधार-स्वरूप है। यहां पर ग्रंथकार का कहना है कि रे भूसु, जो तेरी अपनी घरिणी अवधूती थी उसे तू ने चंडाली के रूप में स्वीकार किया था अब की बार तू सचमुच बंगाली वा पूर्ण अद्वैती हो गया।" और इस से स्पष्ट है कि यहां पर 'बंगाली' शब्द से अभिप्राय तांत्रिक परिभाषा के अनुसार ही समझना चाहिए। 'आजि भूसु बंगाली भइली' का अर्थ सीधे-सादे शब्दों में 'आज (मैं) भूसु बंगाली हो गया' न करके उन्हों ने 'रे भूसु, आज तुइ सत्य सत्यइ बांगाली हइले' अर्थात् 'अरे भूसु, तू आज सचमुच बंगाली हो गया' कर डाला है। श्री राहुल सांकृत्यायन का तो यह भी कहना है कि उक्त 'भइली' शब्द भी बँगला भाषा में व्यवहृत नहीं होता और 'वह काशी से मगह तक आज भी बहुत प्रचलित है।'[1] अतएव उन्हों ने भुसुकुपा का 'नालंदा के आसपास के प्रदेश में' उत्पन्न होना लिखा है।

श्री राहुल सांकृत्यायन भी शांतिदेव भुसुक एवं भुसुकुपा के एक ही होने में संदेह करते हुए नहीं जान पड़ते। उन्हों ने इन्हें क्षत्रिय वंश में उत्पन्न और नालंदा के राजा (गौडेश्वर) देवपाल (सन् ८०९-८४९ ई०) का समकालीन होना माना है और, 'तेंजूर' के अनुसार, शांतिदेव के दर्शन-संबंधी छः एवं तंत्र-संबंधी तीन ग्रंथों का होना भी लिखा है। वे यह भी बतलाते हैं कि भुसुकु के नाम से भी उस में दो ग्रंथ हैं जिन में से एक 'चक्र-संवरतंत्र' की टीका है तथा "मागधी हिंदी में लिखी इन की 'सहजगीति' भोटिया भाषा में मिलती है।"[2] हमें भुसुकुपा के केवल आठ पद मात्र उपलब्ध हैं जो इस 'सहजगीति' के ही जान पड़ते हैं। ये गीतों के ही रूप में राग 'पटमंजरी', 'बराड़ी', 'बड़ारी', 'कामोद', 'मल्लारी', 'कंदुगुंजरी' व 'बंगाल' के अंतर्गत रक्खे गए हैं और इन में से प्रत्येक की किसी न किसी पंक्ति में, भुसुकुपा का 'भूसु', 'भुसुकु' वा 'भुसुकु राउतु' नाम भी आया है। शास्त्री महोदय द्वारा संपादित 'बौद्धगान ओ दोहा' ग्रंथ में इन की क्रम-संख्या ६, २१, २३, २७, ३०, ४१, ४३ व ४९ दी गई है और प्रत्येक के

---

[1] राहुल सांकृत्यायन, 'गंगा' (पुरातत्त्वांक), पृष्ठ २५० (टिप्पणी)
[2] वही, पृष्ठ २४९

नीचे एक संस्कृत टीका है जो बहुत कुछ अशुद्ध व अपूर्ण भी जान पड़ती है। उक्त ग्रंथ में प्रकाशित इन गीतों का मूल पाठ भी अधिकतर विकृत और भ्रमात्मक है। डाक्टर बागची ने, किसी तिब्बती अनुवाद के सहारे, इन्हें भी, अन्य पदों की भाँति, यत्रतत्र सुधारने का प्रयत्न किया है, किंतु उस अनुवाद के भी किसी संस्कृत टीका का ही रूपांतर मात्र होने के कारण, इन पदों के मूलरूप का ठीक-ठीक पता नहीं चल पाता और कई स्थलों पर संदेह ज्यों का त्यों बना रह जाता है।

जो हो, सिद्ध भुसुकुपा के उक्त आठों पदों द्वारा उन के सहजयान-संबंधी सिद्धांतों के समझने में बहुत बड़ी सहायता मिलती है। वे जो कुछ भी कहते हैं उसे कई उदाहरणों द्वारा अधिक से अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं और कभी-कभी उसे हृदयंगम कराने के लिए ऐसे रूपकों के प्रयोग भी करते हैं जिन में प्रायः सर्वसाधारण के दैनिक जीवन की ही वस्तुओं के उल्लेख रहा करते हैं। जैसे, संसार के वास्तविक रूप का वर्णन करते हुए, उस का परिचय एक पद के द्वारा, इस प्रकार देते हैं—"यह जगत, वास्तव में, कभी उत्पन्न नहीं हुआ और न इस का कोई अस्तित्व ही है, तो भी, भ्रांति के कारण, इसे लोग सत्य सा समझते जान पड़ते हैं। परंतु क्या रस्सी में सर्प का भ्रम करके त्रस्त हो जाने वाले को सर्प सचमुच डसा करता है? आश्चर्य है कि इस साधारण सी बात को भी लोग समझ नहीं पाते! कम से कम साधकों को तो चाहिए कि, ऐसे भ्रमों के कारण, अपने विचारों में कोई विकार न आने दें। यदि जगत के सच्चे रूप का बोध हो जाय तो अपनी सारी वासनाएं दूर हो सकती हैं। जगत का सत्यरूप मरु-मरीचिका, गंधर्व-नगर अथवा दर्पण के प्रतिबिंब के समान ही निःसार है। यह वातावर्त के कारण दृढ़ होकर पत्थर वा उपल बन जाने वाले, जल के समान दीख पड़ता है। यह उस वंध्या स्त्री के तुल्य है जो पुत्रवती की भाँति केलि करती वा भिन्न-भिन्न प्रकार के खेल खेला करती हो, इत्यादि।" (पद ४१)। इसी प्रकार, उक्त भ्रांति के ही कारण, सदा अस्थिर होकर दौड़ लगाते फिरने वाले मानवचित्त का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए, उन्हों ने अपने एक पद में, चंचल चूहे का रूपक देकर, कहा है—"रात अँधेरी है और चूहा इधर-उधर चक्कर लगाता घूम रहा है, वह कभी-कभी, तनिक-सा ठहर कर, कुछ अच्छी वस्तु खा भी लेता है किंतु अपना वह स्वभाव नहीं छोड़ता। हे योगी, वा साधक, तुम उस पवन के समान चंचल चूहे को मार कर उस का स्वभाव छुड़ा दो जिस से आवागमन का भय दूर हो जाय। वह

चूहा भवविनाशक (सब कुछ शक्ति रखने के कारण) होता हुआ भी इधर-उधर गर्त वा बिल खोदने में ही लगा रहता है। उस के दोष-गुण आदि पर भली भाँति विचार कर लो। उस काले चूहे का, वास्तव में, कोई भी रंग नहीं, वह गगन तक पहुँच कर अमृत पान कर आता है। वह तब तक चंचल व बेचैन है जब तक उसे किसी प्रकार (सद्गुरूपदेशादि द्वारा) निश्चल नहीं कर दिया जाता। तभी उस का घूमना-फिरना बंद होगा और भुसुकु के अनुसार, सारे बंधनों के टूट जाने पर आवागमन से भी मुक्ति मिलेगी।" (पद २१)

बौद्ध सिद्धों की साधना के अंतर्गत अपने चित्त के निःस्वभावीकरण का बहुत बड़ा महत्व है। कारण यह कि, उन के सिद्धांतानुसार, चित्त ही, वास्तव में, संसार-स्वरूप है और वही निर्वाण-रूप भी है—विविध संकल्प-विकल्पादि से ओतप्रोत रहने के कारण उसे प्रथम रूप मिलता है और उन से रहित हो कर शून्यवत् निर्मल बनते ही वह अपने द्वितीय रूप में आ जाता है। जब तक वह अपने प्रथम रूप में है तभी तक चंचल है, संकल्प-विकल्पादि के दूर होते ही वह 'अमन' हो कर निश्चल बन जाता है, और उसी स्थिति में, उसे द्वितीय रूप की भी उपलब्धि होती है। शांतिदेव ने अपने उक्त 'बोधिचर्यावतार' ग्रंथ में इस निःस्वभावीकरण की क्रिया को, शिकार में मार कर लाए गए हिरण के क्रमशः चमड़ा, मांस, हड्डी आदि अलग करने के, एक रूपक द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।[1] भुसुकु के नाम से उपलब्ध उक्त पदों में भी वे चित्त को, दो स्थलों[2] पर, शिकार के हिरण का ही रूपक देते हुए दीख पड़ते हैं। उदाहरण के लिए पद ६ में वे इस प्रकार कहते हैं—"भला किस बात के लिए यह सारा झमेला लगा है और चारों ओर से चिल्लाहट के शब्द भी आ रहे हैं? जान पड़ता है, हिरन, अपने मांस के कारण, अपना ही शत्रु बन गया है और क्षण भर के लिए भी इस का साथ अहेरियों से नहीं छूट पाता। न तो

---

[1] **इमं चर्मपुटं तावत्स्वबुद्ध्यैव पृथक् कुरु।**
अस्थिपञ्जरतो मांसं प्रज्ञाशस्त्रेण मोचय॥
अस्थीन्यपि पृथक् कृत्वा पश्य ज्ञानमनंततः।
किमत्रसारमस्तीति स्वयमेव विचारय॥

—बोधिचर्यावतार।

[2] **पद ६ व २३**

यह तृण खाता है न जल ही पीता है। इसे अपनी हरिणी का निवास-स्थल तक ज्ञात नहीं। हरिणी तो कहती है कि इस बन को छोड़ कर शून्य स्थान को चले चलो, किंतु यह इस प्रकार भागा फिरता है कि इस के खुर तक नहीं दीख पड़ते, इस के हृदय में उस के उपदेश कहां तक प्रवेश कर पाएंगे!" इसी प्रकार उक्त २३वें अपूर्ण पद द्वारा वे इस हिरण के जाल आदि का भी वर्णन करते जान पड़ते हैं।

सहजयान के मंतव्यानुसार सहजावस्था के निमित्त की जाने वाली साधना का कुछ वर्णन उन्हों ने निम्नलिखित पद के द्वारा किया है जिस की प्रथम चार पंक्तियों को एक बार ऊपर भी उद्धृत किया जा चुका है—

वाज[1] नाव पाड़ी पँउआ खाले वाहिउ।
अदय बङ्गाले क्लेश लुड़िउ॥
आजि भूसु बङ्गाली भइली।
णिअ घरिणी चण्डाली लेली॥
डहि जो पञ्चपाटण इंदि विसआ णठा।
णजानमि चिअ मोर कहिं गइ पइठा॥
सोणत रूअ मोर किम्पि ण थाकिउ।
निअ परिवारे महासुहे थाकिउ॥
चउकोड़ि भाण्डार मोर लइआ सेस।
जीवन्ते मइलें नाहि विशेष॥—पद ४६

अर्थात् वज्रनौका वा वज्रयान की नाव को पद्मह्रद में डाल कर चला दिया (अथवा सद्गुरुचरणों की कृपा द्वारा 'प्रज्ञारविंद कुहर' में प्रवेश हो गया) और अद्वय वंगप्रदेश में पहुँचते ही मेरे सारे दुःख भी दूर हो गए। आज मैं भुसुकुपा, अंतर्युद्ध में पराजित हो जाने के कारण, बंगाली बन गया[2] और, अपनी गृहिणी के लिए, मैं ने चांडाली स्वीकार

---

[1] डाक्टर बागची ने 'वाज' की जगह, तिब्बती अनुवाद के सहारे, 'राज' शब्द का रखना अधिक उपयुक्त माना है।

[2] इस पर टिप्पणी करते हुए डाक्टर बागची कहते हैं—'दि पीपुल अव् बंगाल कंट्री हैड प्रोबैब्ली नट मच मिलिटरी रेपुटेशन' अर्थात् बंगाल-निवासियों की कदाचित् युद्ध के विषय में अधिक ख्याति नहीं थी!

कर भी। इस समय पाँचों नगरों के जल जाने (अथवा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार व विज्ञान नामक पंचस्कंधों के आश्रित अहंकारादि के दग्ध हो जाने) के कारण, मेरे इंद्रिय विषय भी नष्ट हो गए और मेरा चित्त भी, न जाने कहां जाकर, प्रविष्ट हो गया। मेरे पास अब सोना-चाँदी (अथवा भावाभाव में से कोई भी एक) नहीं रह गया, और मैं अब, अपने परिवार में ही रहता हुआ, महासुख में निमग्न हूं। उस अद्वय की भावना ने मेरे चतुष्कोटि भांडार वा संकल्प विकल्पादि के वृहत् कोष को निःशेष कर दिया और अब मेरे जीवन व मरण में भी कोई भेद शेष नहीं रह गया। भुसुकुपा ने, एक दूसरे पद (२७) में, उक्त साधना द्वारा आधी रात (अथवा प्रज्ञोपाय-मिलन की चतुर्थी संध्या) के समय विकसित हो उठने वाले उष्णीश कमल तथा उस के साथ-साथ आनंद-मग्न हो जाने वाली ३२ नाड़ियों का भी वर्णन किया है और बतलाया है कि किस प्रकार, बोधि-चित्त को अवधूती मार्ग से प्रभास्वर तक पहुँचा कर, उसे सहजसिद्धि का अनुभवी बना दिया जाता है। बोधिचित्त जब निर्वाण की दशा तक इस प्रकार पहुँच जाता है और नैरात्मा महासुखसागर की ओर प्रवाहित होने लगती है उस समय एक ऐसे अनिर्वचनीय किंतु विशुद्ध विरमानंद की उपलब्धि होती है जिसे कोई बुद्ध ही जान सकता है। वे कहते हैं कि प्रज्ञोपाय मिलन की सहायता से, मैं ने उस सहजानंद को सरलता पूर्वक ही जान लिया है।

सहजयानियों के अभीष्ट सहज का परिचय देते हुए उन्हों ने, इसी प्रकार, अपने ३० वें पद में कहा है कि इस त्रैलोक्य के अंतर्गत, वास्तव में, वही एकमात्र सार है। उस के कारण विषयों की विशुद्धि हो जाने पर सभी प्रकार के अंधकार दूर हो जाते हैं और हमें, साक्षात् चंद्रोदय के अवसर पर उपलब्ध होने वाला, आनंद भी मिलने लगता है। अतएव वे चंद्रोदय के रूपक में ही बतलाते हैं कि उक्त सहज, अपनी किरणों के विस्फुरण द्वारा करुणा के बादलों में सर्वत्र व्याप्त होकर, तथा भावाभाव के द्वंद्वत्व को नष्ट कर, जब गगनांगण में एक अद्भुत रूप धारण करता हुआ प्रकट होता है तो सारे इंद्रिय-जाल (वा इंद्रजाल) आप से आप तिरोहित हो जाते हैं और अपने मन में एक प्रकार के विचित्र उल्लास का संचार यों ही होने लगता है।

भुसुकुपा ने अपने सहजयान संबंधी मुख्य सिद्धांतों को संक्षेप में इस प्रकार बत-लाया है—

सहज महातरु फरिअए तेलोए।
खसम सभावे रे बाँधणत मुका कोए ।।
जिम जले पाणिया टलिआ भेउ न जाअ।
तिम मण-रअणा समर से गअण समाअ ।।
जासु नाहि अप्पा तासु परेला काहि।
आइ-अणुअणा रे जाम मरण भाव नाहि ।।
भुसुकु भणइ कट राउतु भणइ कट सअला एह सहाव।
जाइ न आवइ रे ण तहिं भावाभाव ।।—पद ४३

अर्थात् सहज, वास्तव में, महावृक्ष स्वरूप होकर त्रैलोक्य भर में सर्वत्र फैला हुआ है वा व्याप्त है; खसम (ख=शून्य+सम=समान) के स्वभाव अथवा शून्यभाव के बंधन से कोई भी मुक्त नहीं है; जल में, जल के ही मिलने पर, जैसे कोई भेद नहीं दिखाई देता वैसे ही मनोरत्न भी गगन (शून्य) में प्रवेश कर जाता है; फिर तो जहां अपने आप का भी बोध नहीं, वहां पराए की बात क्या कही जा सकती है ! उस (सहज) का न तो आदि है न अंत है और न, इसी कारण, वहां जन्म व मरण का ही कोई प्रश्न है। अतएव भुसुकु राउत का कहना है कि, आश्चर्य तो यह है कि सब का ही यह स्वभाव है, (सहज की दृष्टि से विचार करने पर) आवागमन वा भावाभाव की कोई भी संभावना नहीं।

नाजर आनंदराम और उन की रची हुई दो गद्य टीकाएं

[लेखक—श्रीयुत अगरचंद नाहटा]

हिंदी के प्राचीन गद्य-साहित्य में मौलिक रचनाओं का प्रायः अभाव है। जो कई प्राचीन गद्य-ग्रंथ प्राप्त हुए हैं वे बहुधा संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद मात्र हैं। इस लेख में विवेच्य दो ग्रंथ भी इसी कोटि के, अर्थात् अनुवादित ग्रंथ है। इन में से एक भगवद्गीता की भाषा टीका है और दूसरा गीता माहात्म्य की भाषा टीका।

इन ग्रंथों का उल्लेख खोज-शोध की रिपोर्टों अथवा पुस्तकालयों और ज्ञान-भंडारों की सूचियों में तो मिलता है, लेकिन जहां तक इन पंक्तियों के लेखक को ज्ञात है, हिंदी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में उन का नाम-निर्देश तक नहीं हुआ है। इस का कारण यह हो सकता है कि विद्वानों ने उन्हें पद्यमय मान कर विशेष महत्व का न समझा हो, या उन्हें इन के गद्य के अंशों की उपलब्धि न हुई हो। इस दृष्टि से कि हिंदी भाषा के प्राचीन गद्य-ग्रंथ बहुत कम संख्या में उपलब्ध हैं, इन ग्रंथों का विशेष महत्व हो जाता है।

"हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों के संक्षिप्त विवरण"[१] में आनंदराम के दो (?) ग्रंथों का उल्लेख इस प्रकार पाया जाता है—

आनंदराम : सं० १७६१ के लगभग वर्तमान। भगवद्गीता भाषा, दे० (ख-८४) (छ-१२७)। परमानंदप्रबोध, दे० (छ-१२७)

जैसा हम देखेंगे यह दोनों ग्रंथ एक ही हैं। पहले ग्रंथ का ही नाम कवि ने 'परमानंद-प्रबोध' रक्खा है।

अब नाजर जी के उभय ग्रंथों का परिचय संक्षेप में नीचे दिया जाता है—

---

[१] पृष्ठ १२

१. भगवद्गीता भाषा टीका

आदि :

हर गौरीश गनेश गुरु, प्रनवौं सीस नवाय।
गीता भाषारथ करौ, दोहा सहित बनाय ॥१॥
सुथिर राज विक्रम नगर, नृपमनि नृपति अनूप।
थिर थाप्यौ परधान यह, राजसभा को रूप ॥२॥
नाजर आणंदराम कै, यह उपज्यौ चित चाउ।
गीता की टीका करौ, सुनि श्रीधर कै भाउ ॥३॥
गीता ज्ञान गंभीर लखि, रचि जुं आणंदराम।
कृष्णचरन चित लगि रह्यौ, मन मैं अति अभिराम ॥४॥
आनंद मन उच्छ भयौ, हरि गीता अवरेखि।
दोहारथ भाषा करी, बांनी महा बिशेष ॥५॥

बीच की गद्य भाषा :

प्रथम श्रीकृष्ण जू नैं विचारी किया अर्जुन कौ देह अरु आत्मा कै विवेक तें शोक उपज्यौ ऐंसे जोनि कै ज्ञानोपदेश कै निमित्त श्री भगवान कहत हैं। हे अर्जुन जा वस्तु कौ शोक कर्यो ना चाहीयें ता वस्तु कौ तूं शोक करत है। अरु तूं बुद्धिवंत के सो वचन कहत है पै विनु समुझ्यो हठ करें है। ताते जे बुद्धिवंत विवेकी है ते मुए अरु जीवते को शोक नांही करत काहै तै जनम मरन दोनों मिथ्या है।

अंत के आवश्यक दो दोहे :

परमानंद प्रबोध यह, कीनौ आणंदराम।
पढ़ै गुनै याको सुनै, सो पावै प्रभु धाम ॥१०॥
. . . .
ससि[१] रस[६] उदधि[४] रास[१]मित, कातिक ऊजल मास।
रवि पांच्यौ पूरन भयौ, यह गीता परकास ॥१४॥

इति श्री भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भाषाटीकाया दोहा सहित नाजर आनंदराम कृत परमानंद प्रबोधे अष्टादशः अध्याय ॥

उपर्युक्त ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध ग्रंथ है और बीकानेर राजकीय पुस्तकालय तथा जैन ज्ञानभंडारों में इस की अनेक प्रतियां उपलब्ध हैं। इस की रचना सं० १७६१ में हुई।

२. गीता महातम भाषा टीका

आदि :

मुकटि लटकि कटकी लचकि, लसत हियै बनमाल।
पीत बसन मुरली धरन, बिपति हरन गोपाल ॥१॥
नम करिकै गिरधरन कै, चरन कमल सुखधाम।
गीता महातम करत, भाषा आनंदराम ॥२॥
मनमोहन मन में बस्यौ, तब उपज्यौ चित आइ।
गीता महातम करौं, भाषा सरस बनाइ ॥३॥
कमधबंस अवतंस मनि, सकल भूप कुल रूप।
राज करत विक्रम नगर, अवनी इंद्र अनूप ॥४॥
तिहां थाप्यौ परधान थिर, नाजर आनंदराम।
गीता महातम करत उर धर गिरधर नाम ॥५॥
जाको जस सब जगत मैं, हैं भूपति अनुरूप।
नाजर आनंदराम को, थाप्यौ नृपति अनूप ॥६॥
नाजर आनंदराम को, कीरति चंद प्रकाश।
आखंडलक लोक लगि, परगट भयो उजास ॥७॥
धर्यौं चित्त हरि भक्ति में, कर्यौं कृष्ण परनाम।
गीता महातम रच्यौ, भाषा आनंदराम ॥८॥
है यह बेद पुरान अरु, सकल शास्त्र कौ सार।
गीता महातम कर्यौं, कृष्ण ध्यान उर धार ॥९॥

गद्य :

एक समैं सदाशिव कृपा करिकै गीता महातम पार्वती सुं कहतु है॥ ईश्वरोवाच : पार्वती सुनौ मैं गीता कौ महातम कहतु हो।

... .

अब नवमाध्याय की महिमा पार्वती मो पै सुनौ। नर्मदा के तीर एक माहष्मती नाम नगरी तहां एक माधव एसै नांव ब्राह्मन बसै। अपनै धर्म मै सावधान भयौ वेद शास्त्र को वेत्ता अतिथि कौ पूजक तिहि एक बड़ो जग्य कौ आरंभ कर्यौ। एक तव जग्य निमित्त मोटो नीको बकरा आन्यौ तब वह बकरा बध करबै समै हस कै अचरज सी बानी बोल्यौ हे ब्राह्मनो एसे बिधि पूर्वक कीनै जग्य को कहा फल है तातै बिनिस्यमान है अरु जरा जन्म मरन इन तै मिटै नहीं, एसे जग्य न करतु है मै पसु जोनि पाई एसै बकरा की बानी सुन कै ब्राह्मन को और ऊच्चा (?) जाय मंड (प) मैं आन मिलै तिनि सब कौ परम अचिरज भयौ।

अंत :

गीता महातम सकल, बरन्यो आनंदराम।
सुनत पाप तब ही नसै, बहुरि होय अभिराम ॥१३॥
लखि परमारथ जगत को, कर्यौ ग्रंथ परकास।
बरन्यौ आणंदराम नै, यह आणंद विलास ॥१४॥
धारा धरणि इंदु रवि, धरणि धरण समीर।
गीता महातम कहो, तां लगि सुधर सुधीर ॥१५॥
धरनि(१) रस(६) नीरधि(७) मयंक(१), संमत अगहन मास।
कृष्ण पक्ष तिथ त्र्योदशी, वार भोम परकास ॥१६॥

इति श्री पद्मपुराणे उत्तरखंडे उमामाहेश्वर संवादे नाजर आणंदराम कृतौ गीता महात्म अष्टादशोध्याय ॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जिस तरह गीता की टीका का नाम आनंदराम ने 'परमानंद-प्रबोध' रक्खा था, गीता-माहात्म्य की टीका का नाम 'आनंदविलास' रक्खा। यह टीका पद्मपुराण के उत्तरखंड के एक अंश का अनुवाद है, और इस की रचना का काल भी वही सं० १७६१ ही है। टीका जैसा कि बीच के अंश के उद्धरण से प्रकट है गद्य में है।

इस टीका की एक प्रति बीकानेर के राजकीय पुस्तकालय में है और इस की दो प्रतियां लेखक के निजी संग्रह में हैं।

इस लेख में परिचय दिए हुए दो ग्रंथों के अतिरिक्त नाजर जी रचित एक 'मौन एकादशी ब्रतकथा' का भी उल्लेख हमारे नोटों में है। इस कथा का रचनाकाल सं० १७७२ आषाढ़ कृष्ण १० है, लेकिन उस के न मिल सकने के कारण यहां उस का परिचय

नहीं दिया जा सका है।

श्री गौरीशंकर हीराचंद ग्रोझा के बीकानेर राज्य के इतिहास[1] में नाजर ग्रानंद-राम के विषय में इस प्रकार लिखा है —

"महाराजा ग्रनूपसिंह के ग्राश्रय में ही उस के कार्यकर्ता नाजर ग्रानंदराम ने श्रीधर की टीका के ग्राधार पर गीता का गद्य ग्रौर पद्य दोनों में ग्रनुवाद किया।"

फ़ुटनोट में लिखा है कि "नाजर ग्रानंदराम महाराजा ग्रनूपसिंह का मुसाहिब था। उस के पीछे वह महाराजा स्वरूपसिंह तथा महाराजा सुजानसिंह की सेवा में रहा, जिस के समय में वि० सं० १७८९, चैत्र वदी ८ (ई० १७३३, ता० २६ फ़रवरी) को वह मारा गया।"

बीकानेर के राजा सुजानसिंह भी ग्रानंदराम को बड़े ग्रादर की दृष्टि से देखते हैं जैसा कि ग्रोझा जी लिखित बीकानेर के इतिहास[2] के उल्लेखों से प्रमाणित है। वे उल्लेख इस प्रकार हैं—

१. "जब क़ाफ़िले वालों ने महाराजा सुजानसिंह के दरबार में ग्राकर शिकायत की तो प्रधान नाजिर ग्रानंदराम ग्रादि की सलाह से महाराजा ने ग्रपनी सेना के साथ प्रयाण कर वरसलपुर को जा घेरा।"

२. "फिर भी दिल्ली के बादशाह से संबंध बनाए रखने के लिए उस ने खवास ग्रानंदराम ग्रौर मूंधडा जसरूप को कुछ सेना के साथ दिल्ली ग्रौर मेहता पृथ्वीसिंह को ग्रजमेर की चौकी पर भेज दिया।"

३. "सुजानसिंह के एक मुसाहिब ख़वास ग्रानंदराम तथा जोरावरसिंह के वैमनस्य होने के कारण वह (जोरावरसिंह) उस को मरवा कर उस के स्थान पर ग्रपने प्रीतिपात्र मेहता फ़तेहसिंह के पुत्र बख़तावरसिंह को रखवाना चाहता था। ग्रपनी यह ग्रभिलाषा उस ने पिता के सामने प्रकट भी की, पर जब उधर से उसे प्रोत्साहन न मिला तो वह नोहर में जाकर रहने लगा, जहां ग्रवसर पाकर उस ने वि० सं० १७८९ चैत्र वदि ८ (ई० स० १७३३, ता० २६ फ़रवरी) को ग्राधीरात के समय ख़वास ग्रानंदराम को

---

[1] भाग १, पृष्ठ २८४-८५

[2] भाग १, पृष्ठ २९७, २९९ व ३००

मरवा डाला। जब सुजानसिंह को इस अपकृत्य की सूचना मिली तो वह अपने पुत्र से अप्रसन्न रहने लगा।"

इसी इतिहास[1] में आनंदराम जी के पुत्र अजबसिंह का नाम भी आया है, अतः उन के पुत्र को भी राज्य में अच्छा स्थान प्राप्त था, ऐसा प्रतीत होता है।

उपर्युक्त अवतरणों से विदित होता है कि नाजर आनंदराम जी का महाराजा अनूपसिंह जी और सुजानसिंह जी से बहुत अच्छा संबंध था और वे उन्हें अपना विश्वास-पात्र ख़ास व्यक्ति मानते थे और प्रधान के पद पर उन्हें नियुक्त भी किया था। इस अंतिम बात का वर्णन गीता की टीका में नाजर जी ने स्वयं किया है।

अपने ग्रंथों से आनंदराम जी एक अच्छे कवि और कुशल टीकाकार सिद्ध होते हैं। गीता एवं श्रीकृष्ण पर उन की दृढ़ आस्था थी। स्वयं कवि एवं विद्वान थे ही अतएव अन्य सुकवियों एवं विद्वान जैनाचार्यों का भी वह बहुत आदर करते थे। बीकानेर की खरतरगच्छीय गद्दी के श्रीपूज्यों एवं उन के आज्ञानुवर्ती जैन यतियों के आप परम भक्त थे। तत्कालीन खरतरगच्छाचार्य श्री जिनसुखसूरि जी[2] को दिए हुए चार, और उन के पट्टधर श्री जिनभक्तिसूरि जी[2] को दिया हुआ एक, कुल पाँच पत्र हमारे संग्रह में हैं, जिन में से दो पत्र तो महाराजा सुजानसिंह जी की ओर से लिखे हुए हैं और उन में ख़वास आनंदराम जी ने अपनी वंदना निवेदन की है। अवशेष तीन पत्र उन्हों ने अपनी ओर से लिखे हैं। उन में से एक संस्कृत में है, एक राजस्थानी में और तीसरा मिश्रित रूप में है, क्योंकि संस्कृत में होते हुए भी बीच में थोड़ा-सा भाग राजस्थानी में है। ऊपर बताए हुए पाँच पत्रों में से तीन तो सं० १७७९ वि० के हैं, एक में संवत् नहीं दिया है केवल तिथि दी गई है और पाँचवां सं० १८०० का है, और इस में तिथि फाल्गुन वदि १० दी गई है। इस अंत के पत्र से ओझा जी का सं० १७८९ में इन के स्वर्गवासी हो जाने का उल्लेख विचारणीय हो जाता है।

पहले पत्र में लिखा है—

......**खरतरतपोभूरिषु श्रीजिनसुखसूरिषु प्रकृत्याभिरामाणां खवास श्री-**

---

[1] **पृष्ठ ३१३**

[2] **बाबू पूर्णचंद नाहर द्वारा प्रकाशित "खरतरगच्छ-पट्टावली-संग्रह" देखिए।**

मदानंदरामाणां सविनय प्रणतयः सविशेषा संतु ।

दूसरे में—

......**खवासःसुपद्येन चानंदरामोऽलिखत्संनंति संनत...**

तीसरे में—

खवास आनंदराम कौ नमस्कार वाचिज्यौ ।

चौथे में—

सकलगुणगणग्रामाभिरामेषु सौजन्यसिंधुषु निरुपराधिबंधुषु श्रीमज्जिनसुखसूरि भट्टारकेषु खवास मदानंदरामाणां वंदनापूर्वक प्रणति —॥

पाँचवां पत्र विशेष महत्व का है और राजस्थानी भाषा में है। उस की नक़ल ज्यों की त्यों नीचे दे दी जाती है—

॥ श्री राम जी ॥ स्वस्ति श्री सरब ओपमा लायक । परम सुखदायक सर्वगच्छंत सिरनायक संतां सेवकां मनभायक । अनेक ओपमां विराजमांन पूज्य श्री पूज्य जी श्री श्री श्री श्री श्री जिनभक्तिसूरि जी चरण कुंमलान आज्ञाकारी सदा सेवग नाजर आणंदरांम लिखतुं आदेश वनणा घणे मांन अवधारज्यो जी ॥ अठारा समाचार श्री पूज्य जी की कृपा सुं भला छै । श्री पूज्य जी रा सदा आरोग्य चाहीजै ॥ अप्रंच श्री पूज्य जी बड़ा छौ पूज्य छौ म्हांरै श्री पूज्य जी उप्रांत और कोई बात न छै सेवग आ परौ जांण सदा कृपा भाव राखौ छौ तिण सुं विशेष राखज्यौ जी ॥ अप्रंच कृपापत्र १ आपरौ मा सुदि १३ रीमित्त रौ आयौ वाचीयां सुं आपरै दरसण कीयां रो सा सुख हूवो जी। अप्रंच आप लिखियौ जु जप जाप सुमरण वेला म्हे थां तु याद करां छां सू आप आपरौ सेवग जांण म्हासूं कृपा राखो छौ सू आप बड़ा छौ आपनूं आहीज चाहीजै जी ॥ और अबर कै चौमासै रो आप किसी ठौडरौ विचार राखो छा तैरौ व्यौरो लिख मेल्हजौ ज्युं म्हांई खबर पडै अर म्हांनै तो आप सदा आपरी सेवा हीज मैं जांणता रहिस्यौ जी अठै सरिखौ कां मकान हुसै सु घणो लिखता रहिज्यौ म्हांनु आप कागद पतर लिखायौ सू पाधरी भाषा होज मैं लिखाया करज्यौ संस्कृत मैं मतां लिखावज्यो जी बाह् उतारा कागद सदा देज्यो जी ॥ संवत् १८०० वर्षे मिति फागुण वदि १० दिने ।

उपर्युक्त विवेचन से नाजर आनंदराम जी की खरतरगच्छ के आचार्यों के प्रति भक्ति, संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान, राजस्थानी भाषा के प्रति प्रेम एवं लंबी आयु (कम

से कम ६०-६५ वर्ष) ज्ञात होते हैं।

सुप्रसिद्ध जैन कवि धर्मवर्द्धन जी[१] (धर्मसिंह) के भी आप भक्त थे। उन को पहले पत्र में इन शब्दों में वंदना भी लिखी है—

विविधविद्याविशारदयोः श्री श्री पूज्यानुकं पाधिगत महोपाध्याय पदयोः श्री-धर्मसिंह राजसागर गण्यो वंदनं आवेदनीयम् ॥

कविवर धर्मवर्द्धन को नाजर आनंदराम जी ने एक समस्या दी थी, वह हमारे संग्रह में विद्यमान है। कविवर ने आनंदराम जी के गुणवर्णन में एक सवैया भी रचा है, जिसे उद्धृत कर इस लेख को समाप्त करता हूं—

ज्ञायक गुण अगाह न्याय को करे निबाह
आलोची बड़ो अथाह धीरज को धाम जू।
सज्जन फल्यो उमाह दुज्जनां के हिये दाह
पुण्य को सदा प्रवाह जाको शुभ नाम जू॥
चित्त में धरत चाह नित्य ही उडीके राह
पूज्यो इष्ट देवताह कीनो इष्ट काम जू।
सब ही करै सराह वाह वाह वाह वाह
आयो तौ भयौ उछाह श्री आनंदराम जू॥

---

[१] 'राजस्थान', वर्ष २, अंक २ में 'राजस्थानी साहित्य और जैन कवि धर्मवर्द्धन' शीर्षक मेरा लेख देखिए।

भोजपुरी मुहावरे

[संकलन-कर्ता श्रीयुत उदयनारायण तिवारी, एम्० ए०]

(अप्रैल के अंक से संबद्ध)

कंजड़ भइल—कंजड़=जाति विशेष। यह लोग अपना घरबार लिए हुए एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते रहते हैं। कंजूस होना, दरिद्र स्वभाव का होना। प्र०—उन्हन के का ले ले बाड़ (अ), उ बाँड़ा कंजड़ हउए सँ।

कँटहर फोरल—कटहल फोड़ना। पका कटहल स्वादिष्ट होता है। फोड़ते समय उस का दूध हाथ में चिपक जाता है अतएव यह कार्य बहुत सावधानी से करना पड़ता है। मुहावरे का अर्थ होता है 'अत्यंत आवश्यक कार्य करना'। प्र०—एइ जूँ काहे नइख (अ) रहत; घरवाँ का 'कँटहर फोरे के बा'।

कंठ खुलल—आवाज़ निकलना। प्र०—अब उन्हिकर 'कंठ खुलि' गइल।

कंठागर कइल—कंठस्थ करना। प्र०—ए के तूँ कंठागर कइल (अ)।

कंठी लीहल—बैरागी होना। प्र०—अब बुझाता कि इ 'कंठी लीहें'।

काँखि दिहल—परेशान होना। प्र०—तनिकिए काम में आजु उ 'काँखि दिहले' हा।

किकुरी मारल—सिकुड़ जाना, हतोत्साह होना। प्र०—का 'किकुरी मरले' बाड़ (अ), उठ (अ) चलीं जाँ।

कुँआँ में डालल—सत्यानाश कर देना। प्र०—उहवाँ बिआह कइके उ आँपॉना लइकी के 'कुँआँ में डालि' दिहले।

कुँआँ में बोलल—कुँएं में बोलने से ध्वनि गूँज जाती है अतएव स्पष्ट शब्द सुनाई नहीं देते। 'अस्पष्टता' के लिए इस मुहावरे का प्रयोग किया जाता है। प्र०—तोहार त बोलिए नइखे बुझात, जाँनाता जे 'कुँआँ में बोल (अ) तार (अ)'।

कुँआँ में भाँग घोराइल—किसी वर्ग या गाँव के सब लोगों का मतिभ्रष्ट हो जाना। प्र०—इ कुल्हि एके खानी बतियावतारे सनि, बुझाता जे 'कुएँ में भाँग घोराइल बा'।

कुँइआँ में गिरल—आचरण-भ्रष्ट होना, पतनोन्मुख होना। प्र०—इ मए गाँव 'कुँइआँ में गिरल' जाता।

कुंड परल—नदी के बहाव में किसी स्थान का अत्यंत गहरा पड़ जाना, झगड़ा बढ़ जाना। प्र०—जाँहाँ उ अइले कि 'कुंड परल'।

कुंडा अइसन मुँह कइल या फुलावल—'नाराज़ होना'। प्र०—का 'कुंडा अइसन मुँह कइले' बाड़ (अ)। 'कुंडा अइसन मुँहवाँ फुलावे' मेला घुमनी।

कुंडा ले के आइल—जब एक संबंधी किसी दूसरे संबंधी के घर जाता है तो अपने साथ कूँड़े में मिठाई या खाजा आदि भर कर ले जाता है। मुहावरे का अर्थ है 'सौगात में कोई चीज़ लाना'। प्र०—उन्करा के हम का पूछीं, उ का कवनो 'कुंडा ले के आइल' बाड़े।

कुँड़ेसरि राजा भइल—लोगों का विश्वास है कि भविष्य में एक ऐसा युग आएगा जब मनुष्य अँगूठे के बराबर लंबे होंगे। उस युग में जिस मनुष्य के पास एक 'कूँड़ा' अन्न होगा, वह सब से बड़ा धनी समझा जायगा और उस की 'कुँडेसरि राजा' की पदवी होगी। इस मुहावरे का प्रयोग व्यंग्य में उस गरीब के लिए होता है जिस की आर्थिक स्थिति सुधर रही हो। प्र०—इ आजु काल्हि 'कुँड़ेसरि राजा भइल' बा।

केंचुलि बदलल—पोशाक बदलना। प्र०—आजु इ 'केंचुलि बदलि' के बाहर निकलल बाड़े।

केंवारी ढाँकाँचावल—किवाड़ खुलवाने के लिए उस की कुंडी हिलाना या उस पर आघात करना। प्र०—का केंवारी ढाँकाँचाव (अ) तार (अ) हम त (अ) अवते बानी।

केंवारी लागावल—किवाड़ बंद करना। प्र०—का केंवारी लगवले बाड़ (अ) हो।

क (अ) र कुर कइल—करवट लेना, आराम करना। प्र०—तनी 'क (अ)र कुर कइ' लेईं।

कउआ उचरल—कौए का घर पर आकर बार-बार काँव काँव शब्द उच्चारण करना; आगंतुक अतिथि की सूचना मिलना। प्र०—आजु 'कउआ उचर (अ) ता' जरूर केहू आई।

कउआ कान ले गइल—केवल सुनी सुनाई बात पर विना किसी जाँच पड़ताल के विश्वास कर लेना। प्र०—तूँ त अइसन बतिआव (अ) तार (अ) जइसे 'कउआ कान ले गइल'।

कउआ हँकनी भइल—मूर्ख होना। प्र०—ओकरा का किछु आवेला, उ 'कउआ हँकनी हवे'।

कउड़ी के तीनि भइल—तुच्छ होना। प्र०—मार (अ) उ कवनो अदिमी हवे' कउड़ी के तीनि हवे।

ककन छोड़ावल—ककन=कंकण। खूब पीटना। प्र०—मारि के 'ककन छोड़ा' देबि।

कगरियाइल या कगरिया गइल—एक तरफ़ हट जाना, टल जाना। प्र०—पिटाए के बात सुनि के उ 'कगरियाइ गइलनि'।

कचउड़ी निकालल—खूब पीटना। प्र०—हम मारि के तोहार 'कचउड़ी निकालि देबि'।

कचरकूट कइल या भइल—इच्छापूर्ण भोजन करना, अत्यधिक भोग-विलास करना। प्र०—का पूछ (अ) तानी, राति ए लोकाँ खूब 'कचरकूट भइल' हा।

कजिया भइल—'कजिया'—सं० कार्य, प्रा० कज्ज शब्द से बना है। इस का अर्थ है 'मृतक के अंतिम संस्कार' का दिन। मुहावरे का अर्थ है 'परेशान हो जाना'। प्र०—कंटा पर ऊखि तउलावे गइला पर त (अ) 'कजिया हो जातिआ'।

कटकटाइ के चढ़ि बइठल—अत्यंत क्रोधित होकर चढ़ बैठना, आक्रमण करना। प्र०—उनुक आँवते उ कुकुर नियर 'कटकटाइ के चढ़ि बइठले'।

कोटारा चॉलावल—मंत्र-बल से चोर वा माल का पता लगाने के लिए कटोरा खटकाना। प्र०—उ बाबा जी 'कटोरा चॉलावे' के हालि जाने ले।

कनइठी दीहल—कान ऐंठना, सज़ा देना। प्र०—आजु तोहरा के 'कनइठी दीहल' जाई।

कनखियावल—इशारा करना । प्र०—का 'कनखियावतार (अ)', अब की जो इ भागि के गइलनि त इन्कर खूब मरम्मति कर (अ) बि ।

कबड़ी खेलल—बेकाम फिरना । प्र०—कहाँ 'कबड़ी खेले गइल' रह (अ) ल (अ) हा ।

कमखोट भइल—कंजूस होना । प्र०—इ बॉड़ा 'कमखोट' अदिमी ह (अ) ।

कमर कसल—तैयार होना । प्र०—कब से 'कमर कसले' बाड़ (अ) हो ।

कंपा लगावल—चिड़िया फँसाने के लिए 'कंपा' लगाया जाता है । व्यंग्य में किसी मनुष्य को 'फँसाने' के लिए भी इस मुहावरे का प्रयोग किया जाता है । प्र०—तूँ अपने काम खातिर 'कंपा लगाव (अ) तार (अ)' ।

करउँस मूस भइल—करउँस मूस=चूहा विशेष, जिस की पूँछ में पानी लगते ही वह बिल छोड़ कर तुरंत भाग जाता है । अत्यंत सावधान होना । प्र०—ओके धइल मस्किल बा, उ 'करउँस मूस हवे' ।

करकच कइल—वितंडाबाद करना, शोरगुल करते हुए झगड़ना । प्र०—आजु उ बिहाने से 'करकच कइले' बाड़े सँ ।

करकर कइल—शोर करना, झगड़ा करना । प्र०—इ राति दिन 'करकर कइले' रहेले ।

करकर लागल—झगड़ा होना । प्र०—इन्का घरें राति दिन 'करकर लागल' रहेला ।

करज उतारल—उधार बेबाक करना । प्र०—हम 'करज उतार दिहलीं ।

करम फूटल—भाग्य मंद होना । प्र०—हॉमॉर 'करम फूटि गइल' ।

करम भोगल—अपने किए का फल पाना । प्र०—अपने 'करम भोगल' जाला ।

करियवा बादरि भइल—लाभ होना । प्र०—इन्हिका पइआ मति समुझ ल इनहीं के छूअल 'करियवा बादरि होई' ।

करेजा धकधक कइल—भयभीत हो जाना । प्र०—हॉमॉर करेजा 'धकधक कर (अ) ता' ।

करेजा भइल—प्यारा होना; हिम्मत होना । प्र०—उ हॉमॉर 'करेजा हउए' । अइसन काम करे खातिर 'करेजा चाही' ।

कर्रा कइल—शोर मचाना, कोलाहल करना। प्र०—का सँबेर ही से 'कर्रा कइले' बाड़ (अ)।

कर्रा नाधल—कोलाहल करना। प्र०—का सबेरहीं से आजु 'कर्रा नधले' बाड़ (अ.)।

कलई खुलल—भेद खुलना, वास्तविक बात मालूम पड़ जाना। प्र०—उन्हिकर 'कलई खुलि गइल'।

कल ना लेबे दिहल—कल न लेने देना, चैन न लेने देना। प्र०—जियत जिनगी तोहके 'कल ना लेबे देबि'।

कवर उठावल—पातक लगे हुए व्यक्ति की शुद्धि के लिए भोजन करने को 'कवर उठाना' कहते हैं। प्र०—आजु उन्हिकरा घरें के 'कवर उठावल' हा।

कस के भइल—अधीन होना। प्र०—उ हॉमॉर 'कस के हवें'।

कस में कइल—वश में करना। प्र०—तॉहॉरा 'कस में कइला' से ना हो खी।

कसरि आह भइल—मामूली तबीयत ख़राब होना। प्र०—उन्हिकर जीव आजु 'कसरि आइल बा'।

कसरि निकालल—बदला लेना। प्र०—कवनो ना कवनो दिन हम एकर 'कसरि निकालबि'।

कॉचवाबध मारि भइल—खूब ज़ोर से लड़ाई होना। प्र०—काल्हु 'काचवाबध मारि भइल' रहे।

कॉटारी मारल—कटाक्ष करना। प्र०—उ त आजु 'कॉटारी मार(अ)तिआ'।

कॉपार खाइल—सिर खाना, तंग करना। प्र०—तूँ हॉमॉर 'कॉपार जनि खा'।

कॉपार ठोंकि के काम कइल—एक बार भाग्य के भरोसे कोई काम करना। प्र०—हम 'कॉपार ठोकि कें इ काम कइलीं'।

कॉपार धइल—चिंतित होना; चिंता का कारण होना। प्र०—का कॉपार धइले बाड़ (अ)। अब इ लइकी 'कॉपार धइलसि'।

कॉपार भारी भइल—सिर दर्द होना। प्र०—आजु हॉमॉर 'कॉपार भारी भइल' बा।

कॉपारें खुन चढ़ल—अत्यंत क्रोधित होना। प्र०—इन्करा से जनि बोल (अ) लोग, इन्का 'कॉपारे आज खून चढ़ल बा'।

कॉंपारे खुन सवार भइल—देखो 'कॉंपारें खुन चढ़ल'।

कॉंपारे पर बरम्ह चढ़ल—बरम्ह=ब्रह्म। अकाल मृत्यु से मरा हुआ ब्राह्मण 'ब्रह्म' कहलाता है। मुहावरे का अर्थ है अत्यंत क्रोधित होना'। प्र०—आजु तोहरा 'कॉंपारे पर बरम्ह चढ़ल' बाड़े का ?

कॉंपारे सनीचर चढ़ल—अभागा होना। प्र०—आजु काल्हि इन्का 'कॉंपारें सनीचर चढ़ल' बा।

कॉंरॉंटहा भइल—कॉंरॉंटहा=महाब्राह्मण। व्यंग्य में खाने-पीने में सब्र न रखने वाले व्यक्ति पर इस मुहावरे का प्रयोग होता है। प्र०—का तूँ 'कॉंरॉंटहा भइल' बाड़ (अ)।

कॉंवॉंरा दिहल—वह खाना जो कुत्ते आदि को दिया जाता है। प्र०—कुकुरा के 'कॉंवॉंरा दिआइल' हा कि ना।

कॉंवॉंरा लागल—किसी बात को चुपचाप सुनने के लिए द्वार के कोने पर छिप कर खड़ा होना। प्र०—उ इ बात 'कॉंवॉंरा लागि' के सुनत होई।

कॉंसाई का खूँटा बान्हल—निष्ठुर के पाले पड़ना। प्र०—तूँ त (अ) आॅपॉंना लइकनियाँ के 'कसाई का खूँटा बान्हि आइल' बाड़ (अ)।

कॉंसाई भइल—दुष्ट प्रकृति का होना। प्र०—इ त 'कासाई ह (अ)'।

कॉंहाक भइल—चतुर वक्ता होना। प्र०—उ बाड़ा 'भारी कॉंहाक ह'।

कॉंहॉंल सुनाला में आइल—किसी की बनावटी बातों पर विश्वास करके उस के अनुसार कार्य करना। प्र०—ए घरी उ उन्हिका 'कॉंहॉंला सुनाला में आइल बाड़े'।

कागद के घर भइल—शीघ्र नष्ट होने वाला होना। प्र०—बरियाति 'कागद के घर हो ले'।

कागद की नाव भइल—काग़ज़ की नाव होना, शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तु होना। प्र०—इनकर ई रोजिगार 'कागद के नाव बा'।

काटे दउरल—चिड़चिड़े मिज़ाज का होना। प्र०—ओजी गइला पर उ 'काटे दउरे' ला।

कातिक लागल—बहुत भीड़ पड़ना। प्र०—उन्हिका 'कातिक लागल' बा।

काथा उठल—कथा का बंद होना। प्र०—का हो 'काथा उठल' कि ना।

काथा बइठल—कथा का प्रारंभ होना। प्र० कब से 'काथा बइठल' बा।

कादर भइल—आलसी होना। प्र० हम कादर ना हुउईं।

कान अँइठल—सज़ा देना। प्र० बे 'कान अँइठले' तू ना मनब (अ)।

कान ओड़ल—ध्यान-पूर्वक किसी बात को सुनना। प्र० इ बराबर 'कान ओड़ले' रहेला।

कान काटल—बढ़ कर होना। प्र० इ त ओकरो 'कान कटले' बा।

कान के पातर भइल—पातर=पतला। कान का कच्चा होना, सुनी सुनाई बात पर विश्वास करने वाला होना। प्र० राजा 'कान के पातर हुअनि'।

कान पकड़ल—कान पकड़ना, निषेधात्मक प्रतिज्ञा करना। प्र० हम 'कान पकड़तानी' जे अब अइसन काम ना करबि।

कान फुँकवावल—शिष्य होना। प्र० ऐ बबुआ तूँ हूँ ए बाबा जी से 'कान फुँकवा्ल (अ)'।

कान भरल—किसी के विरुद्ध किसी के मन में कोई बात बैठा देना। प्र० उ बाड़ा 'कान भरेला'।

कान में ठेपी लॉगावल—न सुनना। प्र० का तूँ 'कान में ठेपी लगवले' रहल (अ) हा।

कान में रुई डालल—अनसुनी कर देना, बिल्कुल ध्यान न देना। प्र० हम कतनो कह (अ) तानी बाकी उ 'कान में रुई डलले' बाड़े।

कान रोपल—ध्यान पूर्वक किसी बात को सुनना। प्रयोग के लिए देखो 'कान ओड़ल'।

काना फूँसी कइल—छिपे-छिपे आलोचना करना। प्र० कल्हुए इ बात भइल, आजु 'काना फुँसी लोग करे लागल'।

काना सानी भइल—इशारा करना। प्र० का 'काना सानी कइले' बाड़ (अ) लोग।

काने लागल—कान लगना, बहकाना। प्र० इ 'काने लागि' के हॉमॉर काम खराब कइले हा।

कान्ह लॉगावल—सहारा देना। प्र० चल (अ) तनी तूँ हूँ कान्ह लागा

दीहं (अ) ।

कान्हावरि दिहल—पीला वस्त्र जो संबंधियों को दिया जाता है। प्र० उन्हिका के 'कान्हावरि दे' के भेजिह (अ) लोग।

काम आइल—व्यवहार में आना। प्र० गाँव के धतूरो 'काम आवे' ला।

काम कइल—मतलब निकालना। प्र० आपन 'काम कइ ल (अ)' त कहीं जइह (अ)।

काम टुकटुकाइल—आर्थिक लाभ होना, उन्नति होना। प्र० अब एकर 'काम त (अ) नी टुकटुकाइल' बा।

काम ठक्ठकाइल—आर्थिक हानि होना। प्र० आजु काल्हि एकर 'काम ठक्ठकाइल' बा।

काम बनल—बात बनना। प्र० हॉमॉर काम 'बनि गइल'।

काम में नाधल—काम में लगाना। प्र० तनी एहु के आपाना 'काम में नधले' जा।

काम में नाधाइल—काम में लगना। प्र० दिन राति काम में नाधाइल रह (अ) तॉवॉना पर त (अ) इ हालि बा।

कामाइल धामाइल—उद्यम व्यापार करना। प्र० अब उ 'कामाए धामाए' लगले।

कारकुन भइल—कारकुन=(फ़ा०) प्रबंधकर्ता। भोजपुरी में इस का अर्थ 'होशियार' होता है। प्र० उ बड़ा भारी 'कारकुन भइल' बा।

काला कइल—झूठमूठ रोना। प्र० 'इ काला कइले' बा।

काली का हवंकल में परल—काली की हवा में पड़ना, 'विपत्ति में फँसना'। प्र० इ आजु काल्हि 'काली का हवंकल में परल' बाड़े।

कासी का साहु के चमकउआ कइल—काशी के साहु (श्रेष्ठिन्) अपने ठाट-बाट के लिए प्रसिद्ध हैं। इस मुहावरे का प्रयोग व्यंग्य में किसी के 'ठाट-बाट' पर किया जाता है। प्र० ए बिआह में 'इ कासी का साहु के चमकउआ कइले' बा।

किछु कइ दिहल—जादू टोना कर देना। प्र० बुझाता जे ओकरा लइकवा के 'किछु कइ देले' बाड़ी सँ (अ)।

किछु हो गइल—कुछ रोग या भूत प्रेत की बाधा हो जाना; किसी योग्य पद

को प्राप्त कर लेना। प्र० ठीक पाँता त नइखे चलत, बाकी ओकरा 'किछु हो गईल' बा। ओकर बात का पुछले बाड़ (अ), अब उ 'किछु हो गइल' बा की।

किराया पर लिहल—दूसरे की वस्तु का कुछ दाम देकर व्यवहार करना। प्र० इ त (अ) मू 'किराया पर लिहल' बा।

किरिनि फुटल—सूर्योदय होना। प्र० उठ (अ) हो 'किरिनि फुटि' गइल।

कुकुर काटल—पागल होना। प्र० ओकरा से बोल (अ) लोगें मति, ओकरा के 'कुकुर कटले' बा।

कुकुरहो कइल—कुत्तों सा झगड़ा करना, व्यर्थ के लिए लड़ना। प्र० का 'कुकुरहो कइले' बाड़।

कुकुरो बिलारि ना पूछल—कुत्ता बिल्ली का भी न पूछना, व्यर्थ होना। प्र० भादो के भात 'कुकुरो बिलारी ना पूछे'।

कुचुराई कइल—निंदा करना। प्र० उन्हि हॉमार 'कुचुराई कइले' बाड़े, हम बे मर्ले ना छोड़बि।

कुजाति काढ़ल—जाति से वहिष्कृत करना। प्र० उ 'कुजाति काढ़ल' बाड़े।

कुठाँवे मारल—मर्म-स्थान पर मारना। प्र० उ ओकरा के 'कुठाँवे मर्ले' बा, देखीं उ बाँचेला की नाहीं।

कुठेठि कइल—हठ करना। प्र० का 'कुठेठि कइले' बाड़े रे।

कुदुकल गइल—प्रसन्नता से दौड़ते जाना। प्र० का 'कुदुकल गइल (अ) हा।

कुनमुनाइल—भीतर ही भीतर नाराज़ होना। प्र० तूँ ओकरा किहाँ जइह (अ) मति; उ बॉडा 'कुनमुनाला'।

कुप्पा नियर मुँह कइल—कुप्पा = चमड़े का बर्तन जिस में तेल रक्खा जाता है। मुँह फुलाना, नाराज़ होना। प्र० का 'कुप्पा नियर मुँह कइले' बाड़ (अ)।

कुफुत कइल या नाधल—आफ़त करना। प्र० उ राति दिन 'कुफुत कइले' (नधले) रह (अ) तारे।

कुफुत में घुलल—अफ़सोस में घुलना। प्र० आजु काल्हि उ 'कुफुत में घुल (अ) तारे'।

कुफत में डालल—आफ़त में डालना। प्र० उ हॉमारा के 'कुफुत में डलले

बाड़े'।

कुफुत में परल—आफ़त में पड़ना। प्र० आजु काल्हि हम 'कुफुत में परल' बानी।

कुर्छाही कइल—दुष्टता करना। प्र० का 'कुर्छाही कइले' बाड़ (अ)।

कुल मुँड़नि भइल—खेत की बुआई का समाप्त होना। प्र० आजु 'कुल मुँड़नि भइल' हा।

कुल्हा उतरल—गिरने अथवा किसी प्रकार के आघात लगने से कूल्हे का अपने स्थान से हट जाना। प्र० आजु कुस्ती में उन्हिकर 'कुल्हा उतरि गइल' हा।

कुस्ती खाइल—कुश्ती में हार जाना। प्र० आजु दंगल में उ 'कुस्ती खा गइल' हा।

कुस्ती मारल—कुश्ती मारना। प्र० आजु दंगल में उ बॉड़ा भारी 'कुस्ती मरलसि' हा।

कुकुर हो गइल—कुत्ता हो जाना, चटोर हो जाना, मार पड़ने पर भी अपनी आदत न छोड़ना, दर दर घूमना। प्र० ऊ अब 'कूकुर हो गइल' बाटे।

कूटि कइल—मूर्ख बनाना। प्र० राति तूँ उन्करा से बॉड़ा 'कूटि' करत रहुअ (अ)।

कोइरी के देवता—कोइरी=जाति विशेष। उन्हें काछी या मुराव भी कहते हैं। अत्यंत शांत प्रकृति का होना। प्र० उ भॉला झॉगॉरा के हाल का जानसु, उ त 'कोइरी के देवता हउए'।

कोठा बिगड़ल—अपच होना। प्र० आज उन्हुकर 'कोठा बिगड़ल बा'।

कोठा साफ भइल—साफ़ दस्त होने के बाद पेट का हलका हो जाना। प्र० आजु हॉमार 'कोठा साफ भइल' बा।

कोदो देके पढ़ल—कोदो (एक प्रकार का निम्न श्रेणी का अन्न) गुरु को देकर पढ़ना। मुफ़्त में पढ़ना। प्र० का हम 'कोदो दे के पढ़ले' बानी।

कोरा का कुकुरे सिकार कइल—गोद में चलने वाले कुत्ते से शिकार करना। बिना परिश्रम के ही सफलता चाहना। प्र० उहाँ काँ 'कोरा का कुकुरे सिकार करे' चाह (अ) तानी।

कोरो खींचल—नुक़सान करना। प्र० ढेर खिझिआइल बाड़ (अ) त हॉमार

'कौरो खींचि लीह (अ)'।

कोल्हु के बयल भइल—बहुत कठिन परिश्रम करने वाला होना। प्र० उ 'कोल्हु के बयल' हउए।

कोल्हु काटि के मुँगरा बनावल—कोल्हू काट कर मुग्दर बनाना। आवश्यक वस्तु को नष्ट करके अनावश्यक का निर्माण करना। प्र० ओकर का लेले बाड़ (अ), उ 'कोल्हु काटि के मुँगरा बनावेला'।

खँड़लिचि देखल—खँड़लिचि=खंजन पक्षी, जिस का दर्शन चित्रा नक्षत्र में मंगल-सूचक तथा लाभप्रद समझा जाता है। इस मुहावरे का प्रयोग उस समय किया जाता है, जब किसी व्यक्ति को कुछ लाभ होता है। प्र० आजु तूँ 'खँड़लिचि देखि' के उठल रहल (अ) हा।

खसी चाँढ़ावल—बकरे को बलिदान चढ़ाना। प्र० उ काली जी के आजु 'खसी चढवले' हा।

खाँचड़ भइल—मूर्ख होना। प्र० इ त 'खाँचड़ भइल' जाता।

खूँटी निकालल—दाढ़ी को इस प्रकार मूँड़ना कि बालों की जड़ तक साफ़ हो जाय। प्र० उ खूब 'खूँटी निकाले' जाने ला।

खोंइछा भरल—अंचल के कोने में चावल, मिठाई, हल्दी आदि मंगल द्रव्य डालना। प्र० जा उन्हुकर 'खोंइछा भरि आव (अ)'।

खोंखि खाँखारि के बात कइल—स्पष्ट बातें करना। प्र० 'खोंखि खाँखारि के बात कइल' नीमन हवे।

खइला नहइला के देहि भइल—स्वस्थ तथा मोटा ताज़ा शरीर होना। प्र० भॉला 'खइला नहइला के देहि' कहीं छिपेला।

खउदा भइल—मोटा होकर आलसी हो जाना। प्र० उ आजु काल्हि मोटाइ के 'खउदा भइल' बा।

खउर भइल—खउर=क्षौर। मृतक-संस्कार में ग्यारहवें दिन को 'खउर' कहते हैं। इसी दिन महाब्राह्मण आता है तथा कुटुंब के दूसरे लोग सिर मुँड़ाते हैं। कभी कभी स्त्रियाँ अभिशाप देते हुए कहती हैं—'तोहार खउर होखो'। प्र० आजु उन्हुकर 'खउर भइल' हा।

खखुआ के चढ़ि बइठल—क्रुद्ध होकर टूट पड़ना। प्र० हमरा के देखते ऊ 'खखुआ के चढ़ि बइठले'।

खटकर्मी भइल—खटकर्मी=षट्कर्मी, इस का प्रयोग व्यंग्य में होता है, बाह्या-डंबर करने वाला होना। प्र० इहाँ काँ बॉड़ा 'खटकर्मी' हउईं।

खटकल या खरकल—अनबन होना; शत्रुता होना। प्र० आजु काल्हि ए लोगनि काँ अपुसे में 'खटकल बा'।

खट पर भइल—अत्यधिक रुग्ण हो जाना; अत्यधिक वृद्ध हो जाना। प्र० अब उ 'खट पर हो गइल' बाड़े।

खटराग कइल—झंझट करना। प्र० हॉमरॉ 'खटराग कइल' नीक ना लागे।

खटराग लगावल या बढ़ावल—झंझट लगाना या बढ़ाना। प्र० का 'खट-राग बढ़वलें बाड़ (अ)'।

खटिआ तूरल—निश्चिंत हो कर आराम करना। प्र० आजु काहि उ 'खटिआ तूर (अ) तारे'।

खटिआ पर परल—दिन रात सोते रहना, काम धंधा न करना। प्र० इन्कर कवनो लच्छन नइख बुझात, आजु काल्हि इ 'खटिए पर परल' रह (अ) तारे।

खड़मंडल कइल—उपद्रव करना। प्र० इ आजु काल्हि 'खड़मंडल कइले' बा।

खड़मंडल भइल—घर में उपद्रव होना। प्र० आजु काल्हि इन्करा घर में 'खड़मंडल भइल' बा।

खद गोबर भइल—गंदा होना। प्र० उ 'खद गोबर ह (अ)'।

खनखनाइल—आमदनी होना; जुआ खेलना। प्र० तोहॉरा आजु काल्हि बॉड़ा 'खनखनाता'। अमावस का दिने राति भर 'खनखनाइल' हा।

खपर जार भइल—ईख के रस से गुड़ बनने का प्रारंभ होना। प्र० आजु खपरजार भइल' हा।

खबरि लिहल—समाचार जानना, दीन दशा पर ध्यान देना। प्र० बाम्हन के 'खबरि ल (अ)' हे लछिमी!

खरजिउतिया कइल—जिउतिया=जिवपुत्रिकाव्रत जिसे स्त्रियां अपने पुत्र की मंगल-कामना के लिए निर्जल तथा निराहार रह कर करती हैं। कठिन व्रत या तपस्या

करना। प्र० तोहार मॉतारी 'खर जउतिया कइले रहलि' हा, तबे तोहार जान बाँचल हा।

खर्ह भरि के टहल ना कइल—तिनके के बराबर भी काम न करना; साधारण श्रम वाला कार्य भी न करना। प्र० उ 'खर्ह भरि के टहल ना करेले'।

खर्ह भरि के लाज ना कइल—खर्ह=तिनका। तिनके के बराबर भी लज्जा न करना, तनिक भी लज्जा न करना। प्र० तोहरा 'खर्ह भरि के लाज नइखे'।

खरमेटाव कइल—जलपान करना। प्र० तनि 'खरमेटाव कइ लीं' तब चलीं।

खर सेवर भइल—ठीक समय पर जलपान तथा भोजनादि न करने से बीमार पड़ जाना। प्र० आजु उन्करा 'खर सेवर भइल' बा।

खरवा खात पनियाँ पीयत चलल—धीरे धीरे (गाय सा) चलना, जो घास चरती तथा पानी पीती चलती है। प्र० हमनी का 'खरवा खात पनिया पीयत चलि चले' के।

खरिहान लॉगावल—कटी हुई फसल का ढेर लगाना। प्र० उ बगइचा में 'खरिहान लगवले' बाड़े।

खरुआ के थइली सिआवल—खरुआ=लाल रंग का मोटा और मजबूत कपड़ा। इस मुहावरे का प्रयोग व्यंग्य में उस समय होता है जब कोई व्यक्ति अथवा व्यापारी अपनी चीज़ों का बहुत अधिक दाम माँगता है। प्र० आँतना रुपया कहाँ धॉराई, एगो 'खरुआ के थइली सिआव (अ)'।

खर्राटा लिहल—प्रगाढ़ निद्रा में सोना। प्र० इ आजु बॉड़ा 'खर्राटा लेत' बाड़े।

खॉखाइल—बे-सब्र होना। प्र० इ दिन राति 'खॉखाइले' रह (अ)तारे।

खॉटॉई में डालल—दुविधा में डालना। प्र० इ कुल्हि काम 'खॉटॉई में डलले' बाडे।

खॉटॉई में परल—दुबिधा में पड़ना। प्र० इन्हिकरा मारे हॉमार काम 'खॉटॉई में परल' बा।

खॉरा अदिमी भइल—व्यवहार में सच्चा और ईमानदार होना। प्र० उ बॉड़ा 'खॉरा अदिमी हउए'।

खॉराई मारल—सबेरे अधिक देर तक जलपान या भोजन आदि न मिलने के

कारण प्रकृति में कुछ गड़बड़ी होना। प्र० बुझात बा जे हाँमाँरा के 'खाँराई मारि देले' बा।

खाँराद पर चढ़ल—परीक्षा पर चढ़ना। प्र० अब इ 'खाँराद पर चढ़ल' बाड़े।

खाँराब अदिमी भइल—बदचलन होना। प्र० उ बाँड़ा 'खाँराब अदिमी हवे'।

खाइल कॉमाइल—काम धंधा करके गुज़र करना। प्र० उ ग्जे में 'खाले कमाले'।

खा घालल—मार डालना। प्र० आजु जो उ तोहाँरा के पाई त 'खा घाली'।

खाड़ा भइल—चलने को तैयार होना। प्र० तोहरे खातिर कबे से 'खाड़ा भइल' बानी जा।

खाली बइठल—बेरोज़गार रहना। प्र० आजु काल्हि उ 'खाली बइठल' बाड़े।

खिआल आइल—याद आना। प्र० 'खिआल आ जाई त लेले आइबि'।

खिआल कइल—याद करना; तमाशा करना। प्र० 'खिआल कइ' के ले ले जइ ह (अ)। बाँनाँरा बाँड़ा 'खिआल करत रहे'।

खिआल परल—याद आना। प्र० 'खिआल परल' रहल हा, बाकी उ भेटइबे ना कइल हा।

खिआल रहल—याद रहना। प्र० इ बतिया ताहार 'खिआल रही' की ना।

खिआल से उतरल—विस्मृत हो जाना। प्र० तोहार बात त 'खिआल से उतरि गइल हा'।

खिलल—प्रसन्न होना। प्र० आजु तूँ बाँड़ा 'खिलल' वाड़ (अ) हो।

खिलाल कइल—मात करना। प्र० आजु तोहरा के हम तास में 'खिलाल कइ देबि'।

खिसि निकालल—बदला लेना। प्र० अब उ तोहरा से 'खिसि निकाली'।

खीसा खतम भइल—झगड़ा मिटना। प्र० चल (अ) 'खीसा खतम भइल'।

खुदुकावल—धीरे से इशारा करना। प्र० हम कहही के रहुईं जे उ 'खुदुकउअनि'।

खुधुकावल—उत्तेजित करना। प्र० हमेसा 'खुधुकावल' नीक ना हवे।

खुनसाइल—नाराज़ होना। प्र० तूँ हाँमाँरा ऊपर काहें 'खुनसाइल' बाड़ (अ)।

खुरखार कइल—सर्वदा कुछ न कुछ काम करते रहना; चंचलता करनी। प्र० तूँ हमेसा 'खुरखार करते रहेल (अ)'। ए बबुआ, चुपचाप बइठ (अ) ना, का 'खुरखार कइले वाड़ (अ)'।

खुरि आइल—गाय या भैंस का बच्चा पैदा होना। प्र० अब गइया 'खुरि आइलि बा'।

खून खउलल—अत्यंत क्रोधित होना। प्र० इन्का के देखि के हॉमार 'खून खउले लागेला'।

खून सूखल—अत्यंत भयभीत हो जाना। प्र० ओकरा के देखि के हॉमार 'खूने सूखि गउए'।

खेख पढ़ल—खेख=अभिषेक। विवाह के अंत में पुरोहित तथा ब्राह्मण वर की मंगल-कामना के लिए श्लोक पढ़ते हैं इसे खेख पढ़ना कहते है। मुहावरे का अर्थ विवाह समाप्त होना भी होता है। प्र० का जी 'खेख पाढ़ाइल'।

खेढ़ी गाड़ल—खेढ़ी=एक प्रकार की झोली जिस में बच्चे गर्भावस्था में रहते हैं और जो बच्चों के पैदा होने पर गर्भ से निकल जाती है। उसे प्रसूतिका के घर में ही गाड़ देते है। बार-बार मना करने पर भी किसी व्यक्ति के किसी स्थान विशेष में जाने पर इस मुहावरे का प्रयोग किया जाता है। प्र० तू रोज रोज उहाँ काहें जाल (अ), का उहाँ तोहार 'खेढ़ी गाड़लि' बा।

खेत कॉमाइल—खाद आदि डाल कर खेत को उपजाऊ बनाना। प्र० कोइरिए नु 'खेत कॉमॉले स (अ)'।

खेत पेट बराबर भइल—खेत पेट बराबर होना, कुछ भी नफ़ा अथवा नुक़सान न होना। प्र० ए रोजिगार से का फैदा जवना मे 'खेत पेट बराबर होखे'।

खेत राखल—खेत की रखवाली करना। प्र० आजु काल्हि दिन भरि 'खेत राखे के पड़(अ)ता'।

खेती मॉराइल—फ़सल नष्ट होना। प्र० असों खेती 'मॉरा गइलि' हा।

खेदा खेदी कइल—पीछा करना। प्र० लइकवा का सादी खातिर इ बॉड़ा 'खेदा खेदी कइले' बाड़े सनि।

खेलल खाइल—आनंद से दिन बिताना; काम-क्रीड़ा करना। प्र० इहे त

(अ) 'खेले खाए' के उमिरि ह।

खेलि कइल—किसी काम को अनावश्यक या तुच्छ समझ कर हँसी में उड़ाना। प्र०—तूँ 'खेलि कइले' बाड़ (अ) त एकर माजा बुझाई।

खेलि खेलावल—बहुत तंग करना। प्र० अब हीं हम इन्हिकरा के 'खेल खेलाव (अ) तानी'।

खेलि बिगाड़ल—काम ख़राब करना, रंग में भंग डालना। प्र० उ हॉमारे 'खेलि बिगाड़ि दिहलसि'।

खेलि बूझल—साधारण या तुच्छ समझना। प्र० का एके 'खेलि बुझ (अ)' तार (अ)।

खोदा खोदी कइल—छिप कर धीरे-धीरे झगड़ा करना। प्र० का 'खोदा खोदी कइले' बाड़ (अ) स रे।

खोदि खोदि के पुछल—अच्छी तरह से पूछना। प्र० बाड़ा 'खोदि खोदि के पुछत' रहला हा।

खोट कइल—अप्रतिष्ठित बना देना। प्र० भरल साँझा में इ हॉमारा के 'खोट कइलसि'।

खोट भइल—अप्रतिष्ठित हो जाना। प्र० एकरा मारे हम 'खोट भइल' बानीं।

खोटहाई कइल—बुराई करना; कमी करना। प्र० तोहॉरा 'खोटहाई करे' के चाहीं।

खोरि खाइल—परेशान कर देना। प्र० तूँ त (अ) हॉमॉरा के 'खोरि खइल (अ)'।

गँगाजल उठावल—गंगा की क़सम खाना। प्र० चलि के 'गँगाजल उठाव(अ)' तब हम मानबि।

गंगा पिअल—असत्य भाषण करना। प्र० का 'गंगा पिअतार (अ)'?

गंगालाभ भइल—मृत्यु को प्राप्त हो जाना। प्र० उ 'गंगालाभ' हो गइले।

गँगुआसोहाइत कइल—प्रसिद्ध है कि गाँगू और सोहाइत नाम के दो भाई थे। ऊपर से तो वे दोनों आपस में लड़ते दिखलाई देते थे किंतु भीतर से वे दोनों मिले रहते थे। इस प्रकार वे अनजान व्यक्तियों को अवसर पा कर ठगते थे। जब दो मिले हुए

व्यक्तियों में से एक एक पक्ष तथा दूसरा दूसरे पक्ष की बातें करके किसी तीसरे व्यक्ति को फँसाने का उद्योग करता है तो इस मुहावरे का प्रयोग किया जाता है। प्र० तोहन लोग के 'गँगुआ सोहाइत कइल' हम चिन्ह (अ) तानी।

गँठि जोराव कइल—विवाह करना। प्र० तू आँपाँना लइकनिया के 'गँठि जोँराव कइ घाल (अ)'।

गँठि जोराव भइल—विवाह होना। प्र० ताँहाँर 'गँठि जोराव भइल' बा किना।

गँठियावल या गेँठियावल—बाँधना, ब्रह्म भोज में पत्तल लेना। प्र० उ खइबो कइले आ गँठियाइयो (गेँठियाइयो) लिहले।

गँव से कइल—युक्ति करना। प्र० काम 'गँव से करब (अ)' त होई।

गँव से कहल—धीरे से कहना। प्र० उहाँ जाइ के ई बात तनी 'गँव से कहिह (अ)'।

गेँठरी मारल—अनुचित रूप से किसी का रुपया ले लेना। प्र० तूँ जानत नइख (अ) उ 'गेँठरी मार ह (अ)'।

गोंइठा कर्सी भइल—सर्दी-गर्मी सहने वाला होना। प्र० इन्कार का ले ले बाड़ (अ), इ त 'गोंइठा कर्सी' हउए।

गोंयड़ा के गेहूँ काटल—बहुत नुक़सान पहुँचाना। गोंयड़ा (=गाँव के आस पास) के खेत बहुत उपजाऊ होते हैं। यहां गेहूं खूब उपजता है। जब कोई व्यक्ति नाराज़ होकर किसी को धमकाता है तो वह उसके जवाब में इसे व्यंग्य में कहता है। प्र० जा बहुत खिसियाइल बाड़ (अ) त हाँमाँरा 'गोंयड़ा के गोहूँ काटि ली ह'।

गोहूँ बेँचल—जब कोई व्यक्ति किसी से कुछ माँगता है और वह नहीं देता और इस पर भी यदि वह बार-बार माँगे तो न देने वाला व्यक्ति कुछ नाराज होकर यह मुहावरा कहता है। प्र० तूँ का बेर बेर आव (अ) तार (अ), का कवनो 'गोहूँ बेचले' बाड़ (अ)।

गइल घर भइल—दुर्दशा प्राप्त होना। प्र० 'गइला घर' के कवन ठेकाना।

गउद भइल—मूर्ख होना। प्र० इ बाँड़ा भारी 'गउद' ह (अ)।

गजट काँराउल—किसी प्रकार की सूचना आदि को गजट में प्रकाशित करना। प्र० इ बात 'गजट काराघल' घा मुँह जायानिए नइखे।

गजट भइल—किसी बात का बहुत अधिक प्रसिद्ध होना। प्र० इ बात त (अ) ढेर दिन से 'गजट भइल' बा।

गटई फँसल—गला फँसना; विपत्ति में फँसना। प्र० अब त 'गटई फँसिए गइल' बा, देखीं का होला ?

गटकावल—भोजन करना। प्र० तबे से का 'गटकावतार(अ)'।

गटकि गइल—निगल जाना। प्र० हॉमॉर कुल्ही रुपाया इ 'गटकि गइले'।

गड़ल मुरुदा उखारल—गई बीती बात को उभाड़ना। प्र० का 'गड़ल मुरुदा उखरले' बाड़(अ)।

गड़ही के कमल भइल—निकृष्ट स्थान में उत्तम वस्तु का पैदा होना। प्र० ओह खॉन्दान में सभे खॉराब हवे, एगो उहे 'गड़ही के कमल बाड़े'।

गति बनल—दुर्दशा होना। प्र० आजु 'गति बनि गइल' हा।

गति बानावल—आकृति बिगाड़ना; दुर्दशा करना। प्र० ओकर खूब 'गति बानावल' गइल हा।

गद भइल—किसी चीज़ का पेट में आकर न पचना। प्र० आजु 'गद भइल' बा।

गदहन जव चरावल—गदहों से जौ चराना; अयोग्य तथा कुपात्रों को दान देना। प्र० का 'गदहन जव चराव(अ) तार (अ)' ?

गधभेरि भइल—गोधूली होना। प्र० आजु तूँ 'गधवेरि' खाँ अइल (अ)हा।

गप उड़ल—झूठी खबर फैलना। प्र० उन्हिकारा बारे मे इ का 'गप उड़ल' रहल हा।

गपचि घालल—निगल जाना। प्र० बाप रे दादा हरिया हॉमॉरा रुपया गपचे के 'गपचि घललसि' अब देत नइखे।

गप सड़ाका कइल—गप शप करना। प्र० का 'गप सड़ाका कर (अ) तार(अ)' लोग हो।

गभड़ू भइल—कम उम्र का तथा अनुभव शून्य होना। प्र० उ 'गभड़ू ह (अ)', उ का इ सब जाने।

गर के नस तुरल—गर=गर्दन। बहुत चिल्लाना; पस्त हिम्मत करना। प्र० तन्किए भरि में तूँ लागेल (अ) **'गर के नस तुरे'; हम तोहरा 'गर के नस तुरि' देबि।**

गरगट धइल—बुरा लगना। प्र० भात देखते इन्का 'गरगट धर (अ) ता'।

गरगद्द कइल—गला फाड़ कर चिल्लाना; शोर करना। प्र० का 'गरगद्द कइले' बाड़ (अ)।

गरद उड़ल—धूल में मिलाना; बर्बाद करना। प्र० राति भर अनेग्निआ गरू खेत के 'गरद उड़ा' दे तारे स (अ)।

गरदनि टीपल—गला दबा कर मार डालना। प्र० उ 'गरदनि टीपे' के हालि जाने ले।

गरदनियावल—बाहर निकाल देना। प्र० इनिका के 'गरदनियाव' इ मनिहें ना।

गरदनि रेतल—अहित करना। प्र० का 'गनरदनि रेतले' बाड़ (अ)।

गरद फाँकल—व्यर्थ घूमना। प्र० उ आजु कालिह 'गरद फाँक (अ)' तारे।

गर दाबाइल—आपत्ति में पड़ना। प्र० ए घरी हॉमार 'गर दाबाइल' बा।

गर पकड़ल—आफ़त में डालना। प्र० इ मुकदिमा 'गर पकड़ले' बा।

गर फँसल—आपत्ति में फँसना। प्र० 'गर फँसल' बा त जवन कह (अ)।

गरम (अ) सल—गर्मी पड़ना। वर्षा-ऋतु मे वृष्टि के पहले जब गर्मी पड़ती है तब कहते हैं 'आज बड़ी गर्मी है, वृष्टि ज़रूर होगी'। प्र० आजु बॉड़ा 'गरम (अ) सल' बा, बुझाता जे पानी बरिसि।

गरह कटल—अरिष्ट दूर होना। प्र० हॉमार 'गरह कटल' हा।

गरे ढोल बान्हल—झंझट लिए रहना। प्र० का 'गरे ढोल बन्हले बाड़ (अ)'।

गरे फँसरी लॉगावल—विपत्ति में डालना, आफ़त में फँसाना। प्र० इ हॉमार 'गरे फँसरी लगवले' बाड़े।

गर्द उड़ा दिहल—धूल उड़ा देना, नष्ट कर देना। प्र० गोरू खेत के 'गर्द उड़ा दिहले' सनि।

गली गली मारल फिरल—जीविका के लिए इधर-उधर भटकना। प्र० उ 'गली गली मारल फिर (अ) तारे'।

गल चउमस या गलसट्का कइल—बेकार बैठे हुए दुनिया भर की बातें करना। प्र० आज त दिन भरि रउआँ सभें 'गल चउमसे कइलीं' हाँ।

गलसट्का भुलाइल—मूर्खों के सामने बकबाद करने वाला व्यक्ति जब किसी पंडित के सामने आकर चुप हो जाता है तो इस मुहावरे का प्रयोग किया जाता है। प्र० उन्का सामने त तोहार 'गलसट्का भुला' गउए।

गह्कल—खूब जमना। प्र० नाच खूब 'गह्कल' बा।

गहिर आसामी भइल—बड़ा आदमी होना। प्र० एगो 'गहिर आसामी' के लिआ ले आव (अ) जे रुपया मिले।

गहिर हाथ मारल—हथियार का भरपूर वार करना; भारी माल उड़ाना। प्र० इ 'गहिर हाथ मरले' त रहल हा, बाकी का करो ओकर करम नीमन रहल हा।

गाँदाँहा पर चाँढ़ावल—बहुत बेइज्ज़त और बदनाम करना। प्र० खूब त (अ) उन्हिका के 'गाँदाँहा पर चढ़वल (अ) हो।

गाँनाँइल—कुछ महत्व का समझा जाना। प्र० उ बड़े बड़े लोगन में 'गानाले'।

गाँराँमाइल—क्रोधित होना। प्र० का 'गाँराँमाइल' बानी जी।

गाइ भइल—दीन होना। प्र० इ 'गाइ ह'।

गाजल—अत्यंत प्रसन्न होना। प्र० ए साइत खूब 'गाज(अ)तार (अ)'।

गजाँरा मुरई बुझल—तुच्छ समझना। प्र० का तूँ 'गाजारा मुरई बुझले' बाड़ (अ)।

गाँठि काटल—जेब कतरना; ठगना। प्र० मेला में उन्हिकर गाँठि काटि लिहले हा स (अ)। ओकारा कीहाँ ना कीने के उ 'गाँठि काटि ले ला'।

गाँज लागावल—ढेर करना। प्र० बाड़ा 'गाँज लगवले' बाड।

गाँउज माँउज कइल—स्पष्ट काम न करना। प्र० का 'गाँउज माँउज कइले' बाड़ (अ)।

गाँती बान्हल—चद्दर या अँगोछा लपेटने का एक ढंग जिस में उसे शरीर के चारों ओर लपेट कर गले में बाँधते हैं। प्र० जा आपना माइ से 'गाँती बान्हवा' आव (अ)।

गाँव उपर भइल—गाँव के ऊपर होना। समाज अथवा गाँव के नियमों के विरुद्ध चलने वाले व्यक्ति के लिए व्यंग्य में इस मुहावरे का प्रयोग होता है। प्र० इन्कर का ले ले बाड़ (अ), इ 'गाँव उपर हउए'।

गाँव खड़बड़ाइल—किसी अनिष्ट की आशंका से गाँव के लोगों का भयभीत हो जाना। प्र० पिलेक का वोजह से गाँव 'खड़बड़ाइल' बा।

गाँव ना बसल—सब के लिए दुष्ट प्रकृति का होना। प्र० तोहरा मारे 'गाँव ना बसी'।

गाँसा से पानी ना गिरल—दो उँगलियों के बीच के भाग को 'गाँसा' कहते हैं। हाथ में पानी लेने से 'गाँसा' से गिर पड़ता है। मुहावरे का अर्थ है—अत्यंत कंजूस होना। प्र० ओकरा 'गाँसा से पानी ना गिरेला'।

गाफा बाबा भइल—गोरखपुर के पयहारी जी स्वयं भोजन करने के पूर्व अपनी जमात के एक विशेष ब्राह्मण को पकवान आदि सुंदर भोजन खिलाते हैं। भोजन करने वाले महात्मा मोटे-ताज़े और प्रायः खाने वाले होते हैं। इन्हें गाफा बाबा कहते हैं। मुहावरे का अर्थ है खूब खाने वाला होना। प्र० आरे यहाँ का 'गाफा बाबा हईं'। अतने से ना पेट भरी।

गाफा मारल—खूब खाना। प्र० का बड़ें 'गाफा मार (अ) तार (अ)'।

गारद बइठल—पहरा बैठना। प्र० आजु होइजा 'गारद बइठल' बा।

गारद बइठावल—पहरा बैठाना। प्र० उ आँपाँना दुआर पर 'गारद बइठावे' के रहले हा।

गारद में कइल—हवालात में बंद करना। प्र० उन्हिका के धइ के 'गारद में कइले' बा।

गारद में डालल—हवालात में देना। प्र० दरोगा जी ओकारा के 'गारद में डालि' दिहले।

गारी परल, या लागल—कलंक लगना। प्र० उ कह (अ) तारे कि हॉमॉरा ऊपर 'गारी परल या लागल' बा हम ना ओजुग जाइबि।

गार्ह में परल—संकट में पड़ना। प्र० आजु काल्हि उ बाड़ा भारी 'गार्ह में परल' बाड़े।

गाल फारल—गाल फाड़ना; कड़ी चोट पहुँचाना। प्र० अधिका बोलब (अ) त (अ) हम तोहार 'गाल फारि' घालबि।

गाल फ़ुलावल—नाराज़ होना। प्र० का 'गाल फुलवले' बाड़ (अ)।

गिटिपिट कइल—टूटी-फूटी या साधारण अँगरेज़ी भाषा बोलना। प्र० का 'गिटिपिट कइले' बाड़ (अ) लो।

गीति गावल—प्रशंसा करना। प्र० तू दिन भर से उनहीं के 'गीति गावत बाड़ (अ)'।

गीधा गाँउज कइल—खाने की सब चीजों को मिला कर उसे ख़राब करके ख़ाना। प्र० का 'गीधा गाँउज' क के खा तार (अ)।

गुजरि गइल—मर जाना। प्र० उन्हि त जाड़ॉवा में 'गुजरि गइले' हा।

गुन गावल—प्रशंसा करना। प्र० बाड़ा उन्हिकर 'गुन गाव (अ) तार (अ)'।

गुर गोबर भइल—गुड़ का गोबर होना; अच्छी चीज का बर्बाद हो जाना। प्र० मए 'गुर गोबर हो गइल'।

गुर्दा तुरल—घमंड तोड़ना। प्र० हम तोहार 'गुर्दा तूरि देबि'।

गुर्ही आह भइल—गुर्ही=बोझ बाँधने के लिए कृषक हरी घास, अरहर, या कपास आदि के डंठल को ऐंठ कर 'गुर्ही' बनाते हैं। इस मुहावरे का अर्थ है, पेट में ऐंठन रखने वाला। प्र० इ बॉड़ा 'गुर्ही आह हवे'।

गुलरी के फूल परल—लोगों का विश्वास है कि यदि किसी वस्तु में गूलर का फूल पड़ जाय तो वह वस्तु कभी नहीं घटेगी अपितु बढ़ती ही जायगी। प्र० बुझाता जे ए में 'गुलरी के फूल परल' बा।

गुलरी के फूल भइल—गुलर का फूल कभी दिखलाई नहीं देता। प्रयत्न करने पर भी किसी व्यक्ति के न दिखलाई देने पर इस मुहावरे का प्रयोग होता है। प्र० आजु काल्हि त तूँ 'गुलरी के फूल भइल बाड़ (अ)'।

गुल गपाड़ा कइल—शोरग़ुल करना। प्र० का 'गुल गपाड़ा कइले' बाड़ (अ) लोग।

गुह उठावल—तुच्छ से तुच्छ सेवा करना। प्र० ना मनब (अ) त (अ)जा 'गुह उठाव (अ) ग (अ)'।

गुह खाइल—बहुत अनुचित और भ्रष्ट कार्य करना। प्र० ताहार 'गुह खाइल' ना छूटी।

गुह में ढेला फेंकल—बुरे आदमी से छेड़-छाड़ करना। प्र० 'गुह में ढेला

फेंकाला' पर इहे हाल होला।

गेठि बंधन भइल—विवाह होना। प्र० इन्हिकर अब हीं 'गेठिबंधन भइलबा कि ना'?

गोईना लागल—जासूस लगना। प्र० उनुका पाछा ओकर 'गोइना लागल' बाड़न स।

गोटी बइठल—आमदनी की सूरत होना। प्र० अब त (अ) ताहार 'गोटी बइठल' बा।

गोड़ के धुरियो बरोबरि नाहीं समुझल—पैर की धूल के बराबर भी नहीं समझना, किसी व्यक्ति को अत्यंत तुच्छ समझना। प्र० हम इन्करा कें 'गोड़ के धुरियो बरोबरि नाहीं समुझीलें'।

गोड़ छूटल—भयभीत होकर भाग जाना। प्र० ओकरा के देखते उहाँ से उन्हुकर 'गोड़ छूटल'।

गोड़ तूरि के बइठाल—अकर्मण्य होकर बैठना। प्र० का तूँ आजु काल्हि 'गोड़ तूरि के बइठल' बाड़ (अ)।

गोड़ धोवल—भोजन करना। प्र० का उनिका घरे 'गोड़ धोअले' बानी।

गोड़ के धोवन भइल—अत्यंत तुच्छ होना। प्र० तूँ ओकारा 'गोड़ को धोअन होख ब (अ)'।

गोड़ पसुर कइल—पैर पसारना, थकावट मिटाना। प्र० तनी रउआँ 'गोड़ पसुर क (अ) लेईं'।

गोड़ भारी भइल—पैर भारी होना, गर्भवती होना। प्र० एकर 'गोड़ भारी' बा।

गोड़ लागल—इस का वास्तविक अर्थ है 'पैर छूकर प्रणाम करना' किंतु भोजपुरी में इस का अर्थ होता है 'प्रणाम करना'। प्र० जब बाबा जी अउँअनि त उ 'गोड़ लगले'।

गोतरउचार कइल—वर तथा कन्या पक्ष के ब्राह्मण विवाह के समय उन के पिता, पितामह, प्रपितामह आदि का नाम तथा गोत्रादि का उच्चारण करते हैं उसे गोतरुचार कहते हैं। मुहावरे का एक अर्थ विवाह होना, दूसरा गाली-गलौज करना भी होता है। प्र० का हो उन्हिकर 'गोतर उचार भइल' की बाकी बा। इ कबे से 'गोतर उचार कइले'

बा मानत नइखे ।

गोता खाइल—धोखे में आना । प्र० उ त (अ) कॉताना हाली 'गोता खइले' बाकी तबो नइखन मानत ।

गोधन कुटाइल—खूब पीटा जाना । प्र० आजु उन्हुकर खूब 'गोधन कुटाइल हा' ।

गोहारि लगावल—चिल्ला कर सहायता के लिए बुलाना । प्र० उ कबे से 'गोहारि लगवले' बाड़े, जात काहें नइख (अ) लोग ।

गोल बान्हल—मंडली या झुंड बनाना । प्र० ए घरी इ 'गोल बन्हले' बा लो ।

गोली मारल—त्याग देना । प्र० 'गोली मार (अ)' अइसाना काम के ।

घंट बान्हल—मृत्यु के दूसरे दिन दाहसंस्कार करने वाला व्यक्ति अपने संबंधियों के साथ गाँव के बाहर के किसी पीपल के पेड़ में मिट्टी का एक घंट बाँधता है । उसे घंट बाँधना कहते हैं । मुहावरे का अर्थ है मृतक के दूसरे दिन का संस्कार । आक्रोश में इस का अर्थ होता है मृत्यु को प्राप्त होना । प्र० उन्हिकर 'घंट बान्हा गइल' । तोर 'घंट बान्हाउ' ।

घंट में प्रान आइल—मरणासन्न होना । प्र० अब इ ना बचि हैं, इन्का 'घंट में प्रान आइल' बा ।

घाँख भइल—चालाक होना । प्र० इ कुल्हि वात समुझेला, इ लम्बरी 'घाँख ह (अ)' ।

घाँटी बइठलि—गले की घंटी की सूजन को दबा कर मिटाना । प्र० अब इन्हिकर 'घाँटी बइठलि' हा ।

घूँचा अइसन मुँह कइल—घूँचा=मिट्टी का बर्तन जिस में दूध दुहा जाता है । अप्रसन्न होना । प्र० हर दम 'घूँचा अइसन मुँह काहें कइले' रहेल (अ) ।

घोंघा भइल—बेवक़ूफ़ होना । प्र० इ चारु ओर 'घोंघा भइल' फिर (अ)ता ।

घघोटल—उद्दंडता-पूर्वक किसी का जवाब देना । प्र० इ जेही का नॉ सेही कें 'घघोटि देला' ।

घटती के पाँहॉरा चढ़ल—अवनति के दिन आना । प्र० आजु काल्हि 'घटती के पाँहॉरा चढ़ल' बा ।

घति में बइठल—आक्रमण करने या मारने के लिए छिप कर बैठना। प्र० जानत नइख (अ) उ हमरे 'घति में बइठल बा, आ जाइ त (अ) जान ना छोड़ी।

घति लागल—सुयोग मिलना। प्र० हमारा त (अ) आजु खूब नु 'घति' लागल रहल हा।

घमक्का खाइल—मुक्के से पीटा जाना। प्र० अब इ 'घमक्का' खइहें।

घर उजरल—परिवार की दशा बिगड़ना। प्र० ए मुकदिमा से उन्हिकर 'घर उजरि गइल' हा।

घर कइल—विशेष अधिकार करना। प्र० अब इ तोहार बेमारी 'घर कइ ले ले बा'।

घरकच में फँसल—माया-मोह में पड़ना। प्र० ए घरी हम 'घरकच में फँसल' बानी।

घर के बोझा उठावल—घर का प्रबंध करना। प्र० 'घर के बोझा उठावे लाएक इ होइ गइले।

घर खोभारि भइल—खोभारि =सूअर के रहने का बाड़ा जो बहुत गंदा होता है। मुहावरे का अर्थ है घर का बहुत गंदा होना। प्र० तनि एके झार (अ) ना, तोहार 'घरवा खोभारि भइल' बा।

घर घाट जानल—रंग ढंग मालूम होना। प्र० तूँ हीं जा काहें से कि तूँ ही उन्हिकर घर-घाट जाने ल (अ)।

घर घुमनी भइल—अपने घर न बैठने वाली होना। प्र० इ 'घर घुमनी ह'।

घर घुसना भइल—मेहरा होना। प्र० हम त जानत रहली हाँ जे इ नीमन होई बाकी इ त 'घर घुसना' हो गइल।

घर चलल—गृहस्थी का निर्वाह होना। प्र० आजु काल्हि कइसे 'घर चल' (अ) ता।

घर फोरल—परिवार में झगड़ा लगाना। प्र० का उन्हिकर 'घर फोरले' बाड़ (अ)।

घर बइठल—नौकरी छोड़ना; बिना परिश्रम के मिलना; अधिक वर्षा से मकान गिरना। प्र० थोर हीं दिन से 'घरे बइठल बानी'; उन्हिका 'घर बइठल' सइ रुपया

महीना मिल (अ) ता; असों का बरिसाति में हॉमॉर 'घर बइठि जाई' ।

घर बसल—विवाह होना; लड़का होना । प्र० कवनो ठेकान ना रहल हा बाकी उन्हिकर 'घर बसि गइल' ।

घर बाँसावल—परिवार की दशा सुधारना । प्र० तूँ ही त (अ) हामार 'घर बसवल (अ) ह (आ)' ।

घर बिगारल—घर में फूट फैलाना । प्र० केहु के 'घर बिगारल' नीमन ना ह ।

घर भरल—घर में धन इकट्ठा करना । प्र० धान से त (अ) इन्हिकर 'घर भरल' बा ।

घर भरि खड़बड़ा गइल—घर भर के लोगों का उत्तेजित हो जाना । प्र० इ बात सुनि के 'घर भरि खड़बड़ा गइल' ।

घर में मुसरी डंड कइल—मुसरी=चुहिया । घर में खाने-पीने का सामान न होना । प्र० आजु काल्हि इन्करा 'घर में मुसरी डंड कर (अ) तिआ' ।

घर लुटल—घर का माल चोरी जाना । प्र० राति ओकर 'घर लुटि लिहले' हा स (अ) ।

घर संभारल—कुटुंब का पालन-पोषण करना । प्र० अब त (अ) इ 'घर संभारे' लाएक हो गइल बाड़े ।

घर से दिहल—अपने पास से देना । प्र० ओकर संती हम 'घर से दहलीं' हा ।

घर सेवल—घर में पड़े रहना । प्र० का 'घर सेवले' बाड़ (अ) निकल (अ) ना ।

घरिआर भइल—धूर्त होना । प्र० इ बाड़ा भारी 'घरिआर ह' ।

घरी घंट बाजल—ईश्वर की, या देवताओं की पूजा का होना । प्र० सिवाला पर कब 'घरी घंट बाजल' ह हो ।

घरी जोहल—किसी मरणोन्मुख व्यक्ति की मृत्यु की प्रतीक्षा करना । प्र० अब इन्कर 'घरिए जोहातिआ' ।

घरी निगिचाइल—विपत्ति आना । प्र० अब इन्कर 'घरी निगिचाइल' आव (अ) तिआ ।

घसिकट्टा भइल—घसिकट्टा=घास काटने वाला; मूर्ख । मुहावरे का अर्थ है,

मूर्ख होना। प्र० हम का कवनों 'घसिकट्टा हउईं' ?

घाटा लागल—बादलों का घिरना; हानि पहुँचना। प्र० आजु 'घाटा लागल बा'; गहूँ में त (अ) हमारा सोरहो आना 'घाटा लागल' हा।

घाठा परल—अभ्यास पड़ना। प्र० इन्हिकारा एकर 'घाठा परल' बा।

घाड़ारी परल—गहरा चिह्न पड़ना। प्र० इ कइसे 'घाड़ारी परल' हा हो।

घाम खाइल—गरमी के लिए धूप में रहना। प्र० 'घाम खाइ के' तब जाइबि।

घाव भॉराइल—घाव का प्राय: अच्छा होना। प्र० अब ताहार 'घाव भॉराइ गइल'।

घासि काटल—तुच्छ काम करना, व्यर्थ काम करना। प्र० ना पढ़ ब (अ) त (अ) का 'घासि कट॰ब (अ)'।

घासि छिलल—खुरपे से घास को जड़ के पास से काटना। प्र० जा 'घासि छिलि ले आव (अ)'।

घिघिआइल—विनय करना। प्र० रउआँ किहाँ त आजु उ बड़ें 'घिघिआत' रहुअनि।

घिनघिनावनि बरलि—घृणा होना। प्र० उ देखते हामारा 'घिनघिनावनि बरुए'।

घिसिनी काटल—मिट्टी से आबदस्त लेना, अत्यंत कंजूसी करना। प्र० ए मर्दे एहू मोका पर त किछु खरच कर (अ), का 'घिसिनी काट (अ) तार (अ)'।

घीव कॉरकॉरावल—साफ़ और सोंधा करने के लिए घी को तपाना। प्र० तनि 'घीव कॉरकॉरा दीह (अ)'।

घीव के दिआ जरल—कामना पूरी होना; सुख-सौभाग्य की दशा होना। प्र० उन्हि का घरे 'घीव के दिआ जर (अ)' ता।

घीव के दिआ जॉरावल—उत्सव मनाना, बड़े सुख-चैन से रहना। प्र० उ त (अ) ए घरी 'घीव के दिआ जॉराव (अ) तारे।

घुघुआइल—चेहरे पर सूजन आ जाना। प्र० इन्कर मुँह 'घुघुआइल बा', अब इ ना बचिहें।

घुघ काढ़ल—घुघ=घूँघट। लज्जित होना। प्र० आव (अ) सभ का सामने

कह् (अ), 'घुघ काँढ़ला' से काम ना चली।

घुड़की दीहल—डराने का प्रयत्न करना। प्र० इ 'घुड़की दीहल' काहाँ से सीखल (अ) हा।

घुरहू कतवारू कइल—निम्न कोटि का मनुष्य समझना। प्र० तूँ त हॉमॉरा के 'घुरहू कतवारू कइले' बाड (अ)।

घुँचिआह भइल—धूर्त होना। प्र० उन्करा कि हाँ मति जइह् (अ), उ 'घुँचि आह ह् (अ)'।

घुर्ची काटल—चालाकी करना, धूर्तता करना। प्र० तोहार 'घुर्ची काटल' हम चिन्हतानी।

घूमि परल—बिगड़ पड़ना। प्र० ओ ही राहे जात रहले तले सॉप उन्हिका पर 'घूमि परल'।

घोड़ा कसल—घोड़े पर सवारी के लिए जीन या चारजामा कसना। प्र० बाबू जी 'घोड़ा कसल' बा आईं।

घोड़ा छोड़ल—घोड़े को द्रुतगति से दौड़ाना। प्र० जब साँझि भइल त उ खुब जोर से 'घोड़ा छोड़ले सनि'।

घोड़ा फेरल—घोड़े को सिखा कर सवारी के योग्य बनाना। प्र० उ बाड़ा नीमन 'घोड़ा फेरे' ले।

चंग पर चढ़ल—बढ़ावे में आना। प्र० आजु काल्हि उ 'चंग पर चढ़ल' बा।

चंडूल फँसल—मूर्ख बनना। प्र० इ भारी 'चंडूल फँसल' बा।

चाँड़ लागल या लगावल—चाँड़=चंड। सख्ती करना। प्र० बाबू साहेब अपना पोत खातिर आजु काल्हि बॉड़ा 'चाँड़ लगवले' बाड़े।

चाँपल—अच्छा भोजन इच्छापूर्वक खाना। प्र० उन्का घरें इ आजु 'खूब 'चँपले' हा।

चिउटी के चाल चलल—बहुत धीरे-धीरे चलना। प्र० इ 'चिउटी के चाल चलेले'। 'चिउटी के चाल मोर सरवन चले'।

चिउटी के चालल भइल—नीरस होना। प्र० इ 'चिउटी के चालल' फेड़ ह् (अ)।

चेउँ बोलल या बोलावल—नम्रता स्वीकार करना; नम्रता स्वीकार् करांना। प्र० बाँड़ा अपना कें उ मरद लॉगावेले, बाकी आजु 'चेउँ बोलि दिहले' हा; आजु उन्करा के हम 'चेउँ बोला दिहली' हाँ।

चेऊँ मेऊँ मचावल—शोर करना। प्र० का 'चेऊँ मेऊँ मचवले' बाड़(अ) स।

चोंकरल—भैंस के चिल्लाने को भोजपुरी में 'चोंकरल' कहते हैं। व्यंग्य में मनुष्य के 'चिल्लाने' के लिए भी इस का प्रयोग होता है। प्र० का कबें से 'चोंकरत रहल (अ)' हा हो।

चोंका पियल—लड़कों को गाय या भैंस के थन के पास ले जाकर उन के मुँह में दूध दुहते हैं। इसे चोंका पीना' कहते हैं। 'चोंका पीने' से लड़के मोटे-ताज़े हो जाते हैं। दूध ताजा और मीठा होने से लड़के उसे बहुत पसंद करते हैं। इस का प्रयोग व्यंग्य में होता है। प्र० उहाँ का दउरल चलब (अ) का उहाँ 'चोंका पिए' के बा।

चइत लागल—चैत्र के महीने में कृषक फ़सल काटने में व्यस्त रहते हैं। मुहावरे का अर्थ है—अत्यंत व्यस्त रहना। प्र० आजु काल्हि इन्करा 'चइत लागल' बा, तनि-कियो फुरसति नइखे।

चइती चलल—चैत्र मास में फ़सल काटी जाती है। मुहावरे का अर्थ है, ख़ूब अन्न होना। अधिक लाभ होने पर भी इस का प्रयोग होता है। प्र० असों इन्कर 'चइती खूब चलल' बा।

चउक चन्नन भइल—मृतक-संस्कार की अंतिम क्रिया के दिन पुरोहित को मंडप के नीचे बैठा कर शय्यादान आदि देते हैं। इस समय जाति बिरादरी के और लोग भी उपस्थित रहते हैं। इसे 'चउक चन्नन होना' कहते हैं। प्र० 'चउक चन्नन खतम हो गइल', एकरा बादि अब बरम्ह भोज होई।

चउकठ लाँघल—घर से बाहर जाना। प्र० ओकारा घर के मेहरारू चउकठ लाँघे' के हालि ना जान (अ) स (अ)।

चउका पर राँड़ि भइल—विवाह-मंडप ही में विधवा हो जाना। प्र० 'उ चउके पर राँड़ि हो गइली'।

चउका बइठल—विवाह तथा कथा आदि में स्त्री पुरुष ग्रंथिबंधन करके 'चौके' (मंडप) के नीचे बैठते हैं। इसे 'चौका बैठना' कहते हैं। कभी-कभी यह पूछने के लिए

कि 'तुम्हारे घर कथा कब होगी', इस मुहावरे का प्रयोग करते हैं। प्र० तोहन लोग कब 'चउका बइठब (अ)' हो ?

चउका बरतन कइल—बरतन माँजने और रसोई का घर लीपने-पोतने का काम करना। प्र० अब ही 'चउका बरतन करे' के बा।

चउकी दिहल—निगरानी करना। प्र० बे 'चउकी दिहले' खेत ना बाँची।

चउथी के चॉन देखल—निर्दोष मनुष्य पर कलंक आरोप होने या करने पर इस मुहावरे का प्रयोग होता है। प्र० बुझा ता जे हम असों 'चउथी के चान देखले' बानी, जे नासे हमरे के अछरंग लॉगावता।

चउरा पुजल या बान्हल—हत्या किए हुए पुरुष के लिए स्थान बनाना, तथा उस की पूजा करना, हत्या करना। किसी व्यक्ति की हत्या के पश्चात् उसे प्रसन्न करने के लिए एक स्थान बना कर उस की पूजा करते हैं। इसे 'चौरा बाँधना' कहते हैं। यह प्रथा बहुत प्राचीन है। पाली 'निकायों' में भी कई स्थानों पर 'चौरा पूजने' की चर्चा आती है। प्र० बुझाता जे इन्का घरें अब 'चउरा पुजाई या बन्हाई'।

चउलि कइल—हँसी-दिल्लगी करना; मज़ाक़ करना। प्र० हॉमॉरा केहु के 'चउलि कइल' ना रुचे।

चकचोन्हर भइल—मूर्ख होना। प्र० इ 'चकचोन्हरे भइ गइले'।

चकर पकर कइल—अनधिकार हस्तक्षेप करना। प्र० जब तूँ जानत नइख (अ) त का 'चकर पकर कइले' बाड़ (अ)।

चटक मटक भइल—स्वादिष्ट भोजन बनना। प्र० आजु इन्का घरें 'चटक मटक भइल' बा।

चटकार भइल—रोशन होना। प्र० दिया बॉड़ा 'चटकार' जर (अ) ता; अच्छरि बॉड़ा 'चटकार भइलि' बा।

चढ़ल भँड़ेहरि उतरल—निश्चित विवाह का न होना, अप्रतिष्ठा होना। प्र० उन्हुकर 'चढ़ल भँड़हरि उतरि गइल'।

चढ़ि आइल—आक्रमण या चढ़ाई के लिए किसी का दल-बल सहित आना। प्र० देखल हा ना मारे खातिर उ हॉमॉरा दुआर पर 'चढ़ि आइल' रहले हा।

चढ़ि मढ़ि के पूजा लिहल—ज़बरदस्ती सम्मान कराना। प्र० इहाँ काँ 'चढ़ि

मेढ़ि के पूजा लिहीलें'।

चतुर चल्हाॅक भइल—चल्हाक=चालाक। धूर्त होना, चालबाज़ होना। प्र० आजु काल्हि उ बॉड़ा 'चतुर चल्हाक भइल' बा।

चमइनी से पेट छाॅपावल—जानने वाले से कोई बात छिपाना। प्र० भाला 'चमइनी से पेट छपे ला'।

चमकल—तिनकना; रुष्ट होना। प्र० हम तोहार 'चमकल' छोड़ा देवि; अब का 'चमक (अ) तारू', तुही नु अइसन कइले रहलू।

चमगादुर भइल—दोनों पक्ष में होना। प्र० इ दुनो प(अ)छ में रहेला, इ 'चमगादुर ह(अ)'।

चमरई कइल—नीचता करना। प्र० अब इ 'चमरई कर(अ)'ता।

चमर बान्ह बान्हल—चमार जूते को खूब मज़बूत सीते हैं। इसी से इस मुहावरे की उत्पत्ति हुई है। इस का अर्थ है 'खूब कस कर बाँधना।' प्र० बॉड़ा 'चमर बान्ह बान्हले बाड़(अ)' हो।

चमरहो कइल—नीचतापूर्ण झगड़ा करना। प्र० का अपुसे में 'चमरहो कइले बाड़(अ)' से।

चमार सियार भइल—नीच प्रवृत्ति का होना। प्र० उन्हनी के का ले ले बाड़ (अ), उ 'चमार सियार हउअनि' स(अ)।

चम्मुख पर गोटी बइठलि—जब चम्मुख (बीच) में गोटी आ जाती है, तो वह अपने चारों तरफ़ की गोटियों को मारती है। खेल की दृष्टि से 'चम्मुख' लाभ स्थान है। इस मुहावरे का अर्थ है लाभ होना। प्र० आजु काल्हि तोहार 'चम्मुख पर गोटी बइठलि' बा।

चरपर भइल—तेज़ होना। प्र० आजु तरकारी बॉड़ा 'चरपर' भइलि बा; इ लइकवा बॉड़ा 'चरपर' ह(अ)।

चरबी चढ़ल—मोटा होना। प्र० ए घरी इन्हिका 'चरबी चढ़ल' बा।

चलनी से पानी भरल—व्यर्थ काम करना। प्र० इ 'चलनी से पानी भर(अ) तारें', ए से भॉला काम चली।

चलबीधर भइल—चंचल अथवा तेज़ होना। प्र० उनिकर इ लइकवा बॉड़ा

'चलबीधर' बा।

चलल—उन्नति होना; मृत्यु को प्राप्त होना। प्र० आजु कािल्ह इन्कर 'चलल' बा; बुझाता जे अब इ 'चलिहें'।

चलि बसल—मर जाना। प्र० उ त(अ) कहिअने 'चलि बसले'।

चहेटल—पीछा करना। प्र० उ हॉमॉरा कें 'चहेटले' फिर·(अ)ता।

चॉढ़ा उपरी कइल—होड़ लगाना। प्र० तहँ लो त(अ) 'चाढ़ा उपरी क के' दाम बिगाड़ दिहल (अ) हा।

चॉनाइमिरित लीहल—चानाइम्रिरित=चरणामृत। बहुत ही थोड़ी मात्रा में कोई तरल पदार्थ पीना। प्र० तनी 'चानाइमिरित ले लीं'।

चॉपाट भइल—मूर्ख होना। प्र० इ बाड़ा 'चापाट ह'।

चॉमॉड़ा सिझावल—चमड़े को बबूल की छाल, सज्जी, नमक आदि के पानी में डाल कर मुलायम करना, अत्यंत परिश्रम करना। प्र० ऊखि बोअला पर चॉमाड़ा सिझावे के परेला।

चॉरावल—धोखा देना। प्र० उ अइसन ह की तॉहॉरा के 'चारावल' ओकारा खातिर भारी नइखे।

चॉलॉता भइल—व्यवहार-कुशल होना। प्र० ए घरी उ बाड़ा 'चॉलॉता भइल' बा।

चानी कटल—खर्च करना। प्र० ए घरी त(अ)खुब नू 'चानी कट(अ)' ता।

चाभुरि कूटल—नाराज़ होकर होंठ चबाना। प्र० का 'चाभुरि कूट (अ) तारे' रे।

चाल मिलल—आहट मिलना। प्र० अब हीं त ना 'चाल मिलल' हा।

चालु चलल—धूर्तता से कार्य सिद्ध करने का प्रयत्न करना। प्र० इ हमरे से 'चालु चल (अ)' तारे।

चालु सुधारल—आचरण ठीक करना। प्र० उ आपन 'चालु सुधारि' लिहल सि।

चाहा नियर चितवल—चाहा=पक्षी विशेष, जो अत्यंत व्यग्रता से मछली की

और देखता है। अत्यंत व्यग्रता से किसी की ओर देखना। प्र० का चारु ओर 'चाहा नियर चितवत बाड़(अ)'।

चिकस निकालल—खूब पीटना। प्र० हम मारि के तोहार 'चिकस निकालि' देबि'।

चित कइल—कुश्ती में पटकना। प्र० उ 'चित कइ दिहलसि' हा।

चिरकुट लपेटल—फटे-पुराने कपड़े पहनना। प्र० का 'चिरकुट लपेटले बाड़(अ)'।

चिरुआ भरि पानी में डूबि मरल—चुल्लू भर पानी में डूब मरना, अत्यंत लज्जित होना। प्र० तोरा त 'चिरुआ भरि पानी में डूबि मरे' के चाहीं।

चिर्लें रकत ना भइल—अत्यंत भयभीत होना। प्र० जब हम उ देखलीं त अइसन बुझाइल जे 'चिर्लें रकते नइखे'।

चिल पोंइ कइल—शोर करना। प्र० इन्हनी का दिन राति 'चिल पोंइ कइले' रहे ले स(अ)।

चिलमि चाँढ़ावल—गुलामी करना। प्र० जा त(अ) तुहूँ 'चिलमि चाँढ़ाव (अ)'।

चिहुकल—भयभीत होना; सावधान होना; सतर्क होना। प्र० सपने में उ 'चिहुकले'; उन्का सें तूँ 'चिहुकले' रहि ह(अ)।

चीलिह के जनम भइल—चील का जन्म होना। प्र० दिआरी में जे जुआ ना खेले ओकर चीलिह के जनम होला।

चील्ही के जनम छूटल—चील के जन्म से छुटकारा पाना, भविष्य में निकृष्ट जन्म से बचना। प्र० आजु ले गेना ना खेलले रहल (अ) हा, चल (अ) आजु खेलि ल (अ) जे में 'चील्ही के जनम छूटि जाउ'।

चुपुकी साधल—सन्नाटे में रहना। प्र० तुँ का 'चुपुकी सधले' बाड़(अ)।

चुमल चाटल—प्यार करना। प्र० कतनो 'चुम(अ) चाट (अ)' आगे चलि के इ तोहार ना होई।

चुमावनि कइल—यज्ञोपवीत तथा विवाह के अवसर पर स्त्रियाँ अपने दोनों हाथों में जौ ले कर लड़के के पैर, घुटनों तथा दोनों कंधों को स्पर्श करती हैं। इसे चुमावनि

करना कहते हैं। प्र० अब 'चुमावनि होखे के चाही'।

चुरुना काटल—बहुत बुरा लगना। प्र० का तोंहॉर 'चुरुना कटले' बा।

चुल्ही में लॉगावल—चूल्हे मे लगाना, जला कर नष्ट कर देना। स्त्रियाँ अभिशाप में इस मुहावरे का प्रयोग करती हैं। प्र० आव(अ) तोहरा के हम 'चुल्ही मे लॉगाईं'।

चुहुल उड़ावल या कइल—आनंद करना। प्र० आजु काल्हि त तूँ वड़े 'चुहुल उड़ावतार(अ)' हो।

चूचीं पिअल—नासमझ होना। प्र० उ अब ले 'चूचीं पिअ' तारे।

चूना फेरल—दीवारों पर चूने की सफ़ेदी लगाना। प्र० आजु 'चूना फेरल' जाई।

चूरी पहिरल—स्त्री बनना। प्र० तॉहॉरा मन करे त (अ) 'चुरी पहिरि' के बइठि रह(अ) बाकी हम ना मानबि।

चूरी फुटल—विधवा होना। प्र० आजु ओकर 'चूरी फूटि गइल'।

चेट गॉरॉमाइल—पास में रुपया-पैसा आना। प्र० ए घरी इन्हिकर 'चेट गॉरॉमाइल' बा।

चेट गॉरॉमावल—रिश्वत देना। प्र० वे 'चेट गरमवले' इ काम ना होई।

चेट पड़ल—गाँठ पड़ना, चारपाई बुनते समय रस्सी का इधर-उधर हो जाना। प्र० बुझाता कि कतहुँ चेट परल बा।

चेट में बान्हल—कमर में धोती के तहों में बाँध कर रखना। प्र० उ रुपाया 'चेट में बान्हि' के ले गइले हा।

चेलहाई कइल—भेंट और पूजा आदि संग्रह के लिए चेलों में घूमना। प्र० बाबा जी 'चेलहाई' मे गइल बाड़े।

चेला मुँड़ल—शिष्य बनाना; अपना निकटवर्ती बनाना। प्र० अइसन जनाता जे इन्करा के तूँ 'चेला मुँड़ले' बाड़(अ)।

चोन्हा कइल—नखरा करना। प्र० हॉमॉरा तोहार 'चोन्हा कइल' नीक नइखे लागत।

छछ देखावल—माँगने पर किसी वस्तु को देने से इन्कार करना या उस का अभाव

बतलाना । प्र० राम-नाम का बेरा 'छूँछ देखवलु' ।

छुंछ हाथ रहल—द्रव्य से खाली हाथ होना; बिना हथियार का हाथ होना । प्र० हॉमॉर कबो 'छूँछ हाथ ना भइल रहल' हा; छूँछे हाथे खेते ना जाए के ।

छउकल फिरल—कूदते रहना । प्र० बड़े 'छउकल फिरल(अ)' हा ।

छक्के तउल उड़ावल—ठूँस-ठूँस कर खाना; तौल से बाहर खाना । प्र० आजु बाबा जी लोग खूब 'छक्के तउल पूरी तरकारी उड़ावल हा' ।

छटकल फिरल—भागते फिरना । प्र० कहाँ आजु काल्हि 'छटकल फिर(अ) तार (अ)' ।

छठवें छमास आइल—कभी-कभी आना । प्र० रउवाँ त 'छठवें छमास आईं' ले ।

छठवें छमास गइल—कभी-कभी जाना । प्र० ओ जी 'छठवें छमास त(अ)' जाए के परे ला ।

छठिआर खाइल—बालक पैदा होने के बारहें दिन षष्ठी माता की पूजा होती है और बंधु-बांधवों को भोजन कराया जाता है । इसे 'छठिआर' कहते है । इस मुहावरे का प्रयोग उस समय होता है जब किसी व्यक्ति का विशेष परिचय पूछा जाता है । उत्तर देने वाला व्यंग मे कहता है । प्र० उन्के हम का जान (अ) तानी, का हम उन्कर 'छठिआर खउले' बानी ।

छनकाह भइल—संदेह करने वाला होना । प्र० उ बाड़ा भारी 'छनकाह' ह ।

छपनो कोटि बॉरॉखा भइल—बॉरॉखा—वर्षा । घोर वर्षा होना । प्र० ओ साल हथिया में 'छपनो कोटि बॉरॉखा भइल' रहे ।

छयल चिकनिया बनल फिरल—छैला बने फिरना, अपने को खूब सजा-बजा कर प्रदर्शित करना । प्र० का 'छयल चिकनिया भइल फिर(अ) तार(अ)' ।

छरिआइल—खूब रोना; क्रोधित होना । प्र० आजु बबुआ खूब 'छरिआइल' रहल हा; तूँ का 'छरिआइल' बाड़(अ), तोहरा से हॉमार किछु होखी ।

छह उड़ल—गर्द उड़ना; बर्बाद करना । प्र० तोहँ लोकिहाँ त (अ) अन के 'छह उड़ल' बा ।

छॉपाका खेलल—पानी के छींटों का देह पर पड़ना । प्र० उ 'छॉपाका

खेलले' हा ।

छाक चढ़ावल—देवी देवता को छाक से पूजना। प्र० हॉमॉरा घरे त (अ) आजु 'छाक चढ़ावल जाई'।

छाका छूटल या छुड़ावल—हिम्मत टूट जाना; हिम्मत तोड़ देना। प्र० उहाँ जात जात हॉमार 'छाका छूटि गइल'; हम तोहार 'छाका छोड़ाइ देबि'।

छाती जुड़ावल—चित्त शांत करना। प्र० ल(अ) अब 'छाती जुड़ाव(अ)' ना, उत(अ) आ गइले।

छाती पर कोदो दरल—किसी को दिखला कर कोई ऐसा काम करना जिस से उसे ईर्ष्या या ताप हो। प्र० इ हॉमॉरा 'छाती पर कोदो दर(अ) तारे'।

छाती पीटल—अफ़सोस करना। प्र० जब उ इ बात सुनले त 'छाती पीटे लगले'।

छान पगहा तुरावल—नाराज़ होना। प्र० उ इ बात सुनि के 'छान पगहा तुरावे लगले'।

छापा परल—डाका पड़ना। प्र० उन्हिका घरे 'छापा परल' रहल हा।

छिछिआइल फिरल—मारा-मारा फिरना। प्र० उ आजु काल्हि 'छिछिआइल फिर(अ) तारे'।

छि मानुक कइल—मानुक=मनुष्य। मनुष्य से घृणा करना। प्र० तब दानवा छि मानक 'छिमानुक करत अइले' स(अ)।

छिलिबिल कइल—पानी फैला देना। प्र० का एही जाँ 'छिलिबिल कइले बाड़(अ)'।

छीपा बाजल—जिस समय लड़का पैदा होता है उस समय एक स्त्री थाली बजाती है उसे 'छीपा बजाना' कहते हैं। मुहावरे का अर्थ है लड़का पैदा होना। प्र० आजु उन्हिकरा घरें 'छीपा बाजल' हा।

छुटमछूट खाइल—खूब खाना। प्र० उ 'छुटमछूट खइले' बाड़े।

छूरी चलल—लड़ाई होना। प्र० आपुसे में 'छुरी चललि' रहलि हा।

छूह उड़ल—बहुत बिक्री होना। प्र० आजु त बजार में कँटहर के 'छूह उड़ि गइल' हा।

छेड़ निकालल—दोष निकालना। प्र० तुँ कुल्हि काम में 'छेड़ निकालिते' रहे ल(अ)।

छोह कइल—प्रेम करना। प्र० उ हॉमार बाड़ा 'छोह करे ले'।

जंगल गइल—पाख़ाने जाना। प्र० उ 'जंगल गइल बाड़े'।

जंगल में मंगल भइल—सुनसान में चहल-पहल का होना। प्र० उन्हिका साथे 'जंगल में मंगल होई'।

जाँगर चलावल—शारीरिक परिश्रम करके धन कमाना। प्र० उन्कर रुपया 'जाँगर चॉलाइ' के बटोरल ह (अ)।

जाँगर ठेठावल—घोर शारीरिक परिश्रम करना। प्र० ऑताना 'जाँगर ठेंठवली' बाकी तबो ना किछु मिलल।

जाँगर लगावल—घोर शारीरिक परिश्रम करना। प्र० बिना 'जाँगर लगावल' इ काम ना होई।

जग जीतल—संसार जीतना, महत्वपूर्ण कार्य करना। इस का प्रयोग व्यंग्य में होता है। प्र० इ कइल (अ) त कवन 'जग जीतल(अ)'।

जट बॉन्हाइल—बालो का परस्पर उलझ या चिपट जाना। प्र० एकारा 'जट बॉन्हाइल' बा।

जर उतरल—बुख़ार दूर होना। प्र० अब 'जर उतरि गइल'।

जर चढ़ल—ज्वर आना। प्र० ए बेरा 'चर चढ़ल' बा, कुछ खाए के मति दिह(अ)लो।

जरि आइल—जड़ पकड़ना, घर कर लेना। प्र० दॉवा कर (अ) ना त(अ) तोहार बेमारी 'जरि आइल' जा तिआ।

जरि खोदल—विनाश करना। प्र० का ओकर 'जरि खोदले बाड़(अ)'।

जरीं धिकाइ के पानी दिहल—समूल नष्ट करने का प्रयत्न करना। प्र० इ हॉमॉरा 'जरीं धिकाइ के पानी दे तारे'।

जरीं लागल—हानि पहुँचाना। प्र० इ हॉमॉरा 'जरीं लागल बाड़े'।

जलंधर भइल—अत्यंत वृद्ध होना। प्र० उ जलंधर हो गइल बाड़े।

जहर के घरिया भइल—घरिया=मिट्टी का एक छोटा सा पात्र। अत्यंत दुष्ट

प्रकृति का होना। प्र० इ 'जहर के घरिया हउअनि'।

जहर के पुड़िया भइल—अत्यंत दुष्ट प्रकृति का होना। प्र० देख हीं कें इहाँ का हतीमुकी वानी, इहाँ काँ 'जहर के पुरिया हउई'।

जॉगजॉगाइल—उन्नति होना। प्र० ए घरी इन्हिकर काम खूब 'जॉगजॉगा-इल' बा।

जॉगॉता भइल—जागृत होना, तेजस्वी होना। प्र० हरसू बरम्ह 'बॉड़ा जॉगॉता हउअनि'।

जॉनमार भइल—अत्यंत सुदर होना। प्र० इ तॉहार कुरुतवा त बाड़ा 'जॉन-मार' बा हो।

जॉपाट भइल—मूर्ख होना। प्र० इ बड़ भारी जॉपाट बा।

जॉब जॉबाह भइल—अस्पष्ट होना। प्र० उ वाड़ा भारी 'जाब जाबा ह'।

जॉबान हारल—वचन देना। प्र० हम त(अ) 'जावान हारि' गइल बानी।

जॉबाब दे दिहल—साफ़ इन्कार करना; नौकरी से हटा देना। प्र० आॅतॉना दिन से आस धरवले रहले हा, बाकी उ आजु 'जॉबाब दे दिहले' हा; आजु उ आॅपॉना नोकर के 'जॉबाब दे दिहले'।

जॉमॉल के जोड़ी भइल—किसी के समक्ष अवस्था में उस से बहुत छोटा होना। प्र० तूँ उन्का के का रिगाव(अ) तार (अ), उन्का 'जॉमॉला के जोड़ी होइ व(अ)'।

जॉमावड़ा कइल—लोगों को एकत्रित करके बिना अपने काम धंधा की परवा किए हुए गपशप करना। प्र० तूँ इहाँ का 'जॉमावड़ा कइले' बाड़(अ), का तोहराँ कवनो काम धंदा नइखे।

जॉमावड़ा भइल—भीड़ होना। प्र० आजु मेला में पॉहॉलवानन के बॉड़ा 'जॉमावड़ा होई'।

जॉमा हल कइल—संपूर्ण संपत्ति हड़प जाना। प्र० उ हॉमार 'जॉमा हल क(अ) घलले'।

जॉमा हल भइल—अत्यधिक हानि होना। प्र० बयल मरि गइला सें हॉमार 'जॉमा हल हो गइल'।

जाति में मिलल—बिरादरी में शामिल होना। प्र० अब उ 'जाति में मिलले' हा।

जान छोड़ावल—प्राण बचाना। प्र० एह 'जान छोड़ॉवलों' से छूटे के बा।

जान जोखिम में परल—आपत्ति में पड़ना। प्र० आजु कालिह उन्हिकर 'जान जोखिम में परल' बा।

जान दिहल—अत्यंत प्यार करना। प्र० इ त ओकरा पर 'जान दे तारें'।

जान बॉचावल—जी चुराना। प्र० काहें 'जान बाचाव(अ) तार(अ)'।

जान मारल—परेशान करना। प्र० तूँ का हॉमार 'जान मरले बाड़ (अ)'।

जामा थउसल—पूँजी नष्ट हो जाना। प्र० आजु हॉमॉर 'जामा थउसि' गइल।

जामा से बाहर भइल—अत्यंत क्रोध करना। प्र० का 'जामा से बाहर भइल' बाड़(अ)।

जाल फइलावल या बिछावल—किसी को फँसाने के लिए युक्ति करना। प्र० एह 'जाल फइलावला' से कुछ होखे के बा।

जाला फुँकल—जाला=ज्वाला। शरीर में दाह उत्पन्न करना। प्र० आजु 'जाला फुँकले' बा।

जिआँका लॉगावल—भरण-पोषण का प्रबंध कराना। प्र० रउवाँ हमरो कहीं 'जिआका लागा दीहीं'।

जिआँका लागल—भरण-पोषण का उपाय होना। प्र० आजु कालिह दउरलो पर 'जिआका लागे' के कवनो ठेकान नइखे।

जीअत माँछी घोंटल—सरासर बेईमानी करना। प्र० अइसे 'जीअत माँछी घोंट(अ) ब(अ)'।

जीन कसल—तैयार रहना। प्र० इन्हिकर जीन 'कसइले रहे' ला।

जीभि निकालल—जीभ उखाड़ लेना। प्र० ढेर बोलब (अ) त(अ) 'जीभि निकालि लेवि'।

जीभि सॉटाका मारल—चुगली करना। प्र० तूँ बाड़ा 'जीभि साटाका मारे ल(अ)'।

जीभी में से पानी गिरल—जीभ में से पानी गिरना, लालच हो आना। प्र० मिठाई देखि के उन्करा 'जीभी में से पानी गिरे लागल'।

जीमा कइल—किसी के संरक्षण में करना। प्र० केकारा 'जीमा कइल (अ)' हा।

जीमा भइल—सुपुर्द करना। प्र० केकारा 'जीमा भइल' हा।

जीव अकुताइल—चित्त न लगना। प्र० अब 'जीव अकुता गइल' बा।

जीव के गाँहक भइल—प्राण लेने पर उतारू होना। प्र० इन्हि हॉमॉरा 'जीव के गाँहक भइल' बाड़े।

जीव खपरी में परल—खपरी=टूटा हुआ मिट्टी का बर्तन जिस में भड़भूजा गर्म बालू डाल कर चबेना भूनता है। प्राण संकट में पड़ना। प्र० तोहॉरा मारें हॉमार 'जीव खपरी में परल' रह (अ) ता'।

जीव गार्हे परल—प्राण संकट में पड़ना। प्र० आजु हॉमार 'जीव गार्हे परल रहल' हा।

जीव चलल—इच्छा होना। प्र० हॉमॉरा चिउरा खाए के 'जीव चलल' बा।

जीव चोरावल—किसी काम से भागना। प्र० का एही उमिरि में काम से 'जीव चोरावे लगल (अ)'।

जीव छोड़ल—निराश होना; साहस गँवाना। प्र० का 'जीव छोड़ले' बाड़ (अ) एसे कुछु होखे के बा।

जीव दीहल—प्राण देना। प्र० का जीव देले बाड़ (अ)।

जीव नीमन भइल—निरोग होना। प्र० थोरे दिन से 'जीव नीमन भइल' बा।

जीव भारी भइल—तबीयत अच्छी न होना। प्र० एह बेरा 'जीव भारी भइल' बा।

जीव में जीव परल—जीवन की आशा बँधना। प्र० जब हम उन्हिकरा के देखलीं त 'जीव में जीव परल'।

जीव सँकेता परल—प्राण संकट में पड़ना। प्र० आजु हॉमार 'जीव बॉड़ा सँकेता परल' रहल हा।

जीव सन्न भइल—होश उड़ जाना। प्र० हामारा जीव सन्न हो गइल हा।

जीव साँसति में परल—प्राण संकट में पड़ना। प्र० आजु काल्हि हॉमार 'जीव साँसति में परल' बा।

जुता उठावल—दासत्व करना। प्र० अब हीं इ का कर (अ) तार (अ) तूँ

त उन्हि कर 'जुता उठइब(अ)'।

जुता के अदिमी भइल—ऐसा आदमी जो बिना जूता खाए ठीक काम न करे। प्र० इ 'जुता के अदिमी' ह।

जुता खाइल—बुरा-भला सुनना। प्र० का 'जुता खा तार(अ)' तबो परल बाड़(अ)।

जुता चलउअलि कइल—झगड़ा करना। प्र० का 'जुता चलउअलि' कइले बाड़(अ) सरे।

जुता मारल—मुँह तोड़ जवाब देना। प्र० ओ जी खुब तूँ निठाहे 'जुता मरल'(अ) हा।

जुता लॉगावल—जूते से मारना। प्र० बे 'जुता लॉगावल' ना फरिआइ।

जूझल—मृत्यु को प्राप्त हो जाना। प्र० खेत पर उ 'जूझि गइले'।

जूठन गिरावल—भोजन करना। प्र० रउआँ आजु काहाँ 'जूठन गिरवली' हाँ।

जेल काटल—जेल में रह कर दंड भोगना। प्र० ए घरी उ 'जेल काट (अ) तारे (अ)'।

जेवनहरी बइठल—अतिथियों का भोजन करने बैठना। प्र० चुप रहु रे 'जेवनहरी बइठल' बा।

जेहन खुलल—बुद्धि का विकास होना। प्र० अब त एकर 'जेहन खुलि गइल हो'।

जोखिम उठावल, सहल—ऐसा काम करना, जिस में अनिष्ट की आशंका हो। प्र० आगे ए काम में चलि के तूँ 'जोखिम उठइब(अ)'।

जोखिम में परल—जोखिम उठाना। प्र० आजु काल्हि उ 'जोखिम में परल' बा।

जोड़ उखरल—किसी अवयव के मूल का अपने स्थान से हट जाना। प्र० उन्हिकर 'जोड़ उखरि' गइल बा।

जोड़ जुगुत भइल—उपयुक्त होना। प्र० इ वर 'जोड़ जुगत बा'।

जोड़ तोड़ लागल—समान शक्ति का होना। प्र० इन्हने लोग में 'जोड़ तोड़ लागल' रहल हा।

जोड़ बइठल—अपने स्थान से हटे हुए अवयव के मूल का अपने स्थान पर आ

जानां। प्र० अब इ 'जोड़ बइठि गइल'।

जोड़ा पारी भइल—समवयस्क होना। प्र० उ हॉमॉरा 'जोड़ा पारी के हउए'।

जोड़ीदार भइल—साथी होना, समवयस्क होना। प्र० इ हॉमॉर 'जोड़ीदार हउए'।

जोर कइल—तक़ाज़ा करना; कुश्ती लड़ना। प्र० आजु कालिह रुपया खातिर उ बॉड़ा 'जोर कइले' बाड़े; आजु कालिह उ रोज ऑखाड़ा में 'जोर कर(अ)तारे'।

झंझटि आह भइल—झगड़ालू होना। प्र० इ बॉड़ा 'झंझटि आह' हउए।

झंझटी भइल—झगड़ालू होना। प्र० इ बॉड़ा 'झंझटी हउअनि'।

झिकॉटा बुझल—कुछ न समझना। प्र० हम उन्हिका रुपया के 'झिकाटा बुझी ले'।

झुँस दिहल—उबली हुई दाल का पानी पिलाना। प्र० आजु इन्हिका के 'झुँस दिह(अ)'।

झोंके में परल—क्रोधाग्नि में पड़ना; विपत्ति में पड़ना। प्र० जहिए तूँ हॉमॉरा 'झोंक में परब(अ)' तोहार बानि छुटि जाई; आजु कालिह इ बॉड़ा 'झोंक में परल' बाड़े।

झोंटा से झोंटा भिरावल—झगड़ा लगाना। प्र० तूँ 'झोंटा से झोंटा भिड़ावे' में बॉड़ा फरहर हउ(अ)।

झटकारल—चुराना। प्र० ए के तूँ काहाँ 'झटकरल (अ)' हा।

झपकी आइल—नींद आना। प्र० ओ घरी हॉमॉरा 'झपकी आइल' रहे।

झमकावल—प्रदर्शित करना। प्र० मँगनी के नथिआ मँड़उआ 'झमक-उए रे'।

झरिआवल—डाँट फटकार बतलाना। प्र० का लइकवा के 'झरिअवले बाड़(अ)'।

झॉपास भइल—झूठ बोल कर किसी को ठगने वाला। प्र० इ बाड़ा भारी 'झापास भइल' बा।

झाका झुमरि भइल—झगड़ा होना। प्र० उन्का से हॉमॉरा बॉड़ा 'झाका झमरि भइल'।

झार फूँक भइल—मंत्र-तंत्र से प्रेतादि बाधा दूर कराना। प्र० आजु उन्हकर बाडा 'झार फूँक भइल' हा।

झारल झोंपारल गइल—मंत्र-तंत्र से प्रेतादि बाधा दूर करना। प्र० आजु उ 'झारल झोंपारल गइल' हा।

झुझुवावन बरल—बुरा लगना। प्र० उन्का दुअराँ जात हॉमॉरा 'झुझुवावन बर(अ)ता'।

झुझुवावन लागल—कम मालूम होना। प्र० इ ऑनॉज 'झुझुवावन लाग(अ) ता' बुझाता जे इ किछु निकालि ले ले बा।

झूरी गॉड़ाइल—सीमा निर्धारित करना। प्र० आजु उन्हुकरा हॉमॉग खेत का बीच में 'झूरी गॉड़ाइ गइल'।

झोरी भरल—साधु को भरपूर भिक्षा देना। प्र० कह(अ) साधु बाबा 'झोरी भरल' कि ना।

टंट घंट कइल—प्रबंध करना। प्र० रसोई के 'टंट घंट कर(अ)'तानी।

टंटा बेसहल—झगड़ा मोल लेना। प्र० तूँ रोज 'टंटा बेसहत रहेल' (अ)।

टाँक चॉलावल—सीने के लिए कपड़े आदि में सुई डालना। प्र० तनी हेहु पर टॉक चाला दीह(अ)'।

टाँक मारल—सिलाई करना। प्र० तनी हे कुरतवा पर 'टाँक मारि द(अ)'।

टाँग छितरावल—टाँगों को बगल या पार्श्व की ओर फैलाना। प्र० का 'टाँग छितरवले' बाड़(अ)।

टाँग तुरल—अंगभंग करना। प्र० रह(अ) तॉहॉर 'टाँग तुरी लें'।

टाँग पॉसारि के सुतल—निश्चिंत होकर सोना। प्र० ए घरी इ खूब 'टाँग पासारि के सुत(अ)तारे'।

टाँचि दीहल—दबा देना। प्र० ए ममिला में हम उन्हुकरा के 'टाँचि देबि'।

टाँठ भइल—अपेक्षाकृत स्वस्थ होना; मज़बूत दिल का होना। प्र० आजु कॉल्हि उ 'टाँठ भइल' बाड़े। उ वॉड़ा 'टाँठ अदिमी हउए'।

टाँठ रहल—हिम्मत से रहना। प्र० विपति परला पर 'टाँठ रहे के चाहीं'।

टपरा गावल—भूखा रहना। प्र० आजु दिन भरि उ 'टपरा गावत रहले हा'।

टरकावल—बहाना करना। प्र० ए 'टरकॉवला' से काम ना चली।

टर्टर् कइल—चिल्लाना, शोर गुल मचाना। प्र० का 'टर् टर् कइले' बाऽ (अ)।

टस से मस ना भइल—ज़रा भी इधर से उधर न होना। प्र० सभ बात सुनि लिहलसि तवनो पर 'टस से मस ना भइल'।

टाट उलाटल—दिवाला निकालना। प्र० का 'टाट उलटले बाड़(अ)'।

टाट से बाहर भइल—जात से बहिष्कृत होना। प्र० आजु कालिह इ 'टाट से बाहर भइल बाड़े'।

टाटी का आड़ में सिकार कइल—टट्टी की ओट में शिकार करना, छिप कर घात करना। प्र० आजु कालिह उ 'टाटी का आड़ में सिकार कर(अ)ता'।

टापत रहल—भूखे रहना। प्र० आजु उ दिन भरि 'टापत रहले हा।

टापि गइल—आगे निकल जाना। प्र० एके 'टापि गइल' कवन भारी बा।

टाल मटोल कइल—बहाना करना। प्र० उ कुल्ही काम में बॉड़ा 'टाल मटोल' करेला।

टाल लॉगावल—ढेर लगाना। प्र० जनेरा के बड़े 'टाल लागवले बाड़ (अ)' हो।

टिकस लागल—कर नियत होना। प्र० हामारा उपर त(अ) पाँच रुपाया 'टिकस लागल' बा।

टिकि आइल—विवाह कर आना। प्र० उ 'टिकि अइले'।

टिप टाप भइल—जहाँ-तहाँ होना। प्र० आजु बॉरॉखा 'टिप टाप भइल' हा।

टिप टिप गिरल—बूँद-बूँद गिरना। प्र० पानी आजु 'टिप टिप गिर(अ)ता'।

टबोली बोलल—व्यंग्य बोलना। प्र० का 'टिबोली बोल(अ) तार (अ)'।

टिमटाम बढ़ावल या राखल—ठाट-बाट रखना। प्र० उ आजु कालिह बॉड़ा 'टिमटाम बढ़वले या रखले' बाड़े।

टिमाक बढ़ावल—वाह्याडंबर करना। प्र० आज कालिह इ बॉड़ा 'टिमाक बढवले बाड़े'।

टिमाक से बोलल—घमंड से बोलना। प्र० आजु त इ बॉड़ा 'टिमाक से बोलत रहल हा'।

टिमाक से रहल—ठाट-बाट से रहना। प्र० इ बॉड़ा 'टिमाक से रहेला'।

टुकटुकाइल—स्वस्थ होना। प्र० तोहार लइकवा आजु काल्हि तनी 'टुक-टुकाइल' बा।

टुकॉरा दिहल—भिखमंगे को रोटी या खाना देना। प्र० ओकारा के 'टुकारा दिआइल' हा।

टुकॉरा माँगल—भीख माँगना। प्र० ना मनब (अ) त (अ) 'टुकारा माँगे' के परी।

टेकुआ नियर सोझ कइल—मार-पीट कर दुरुस्त करना। प्र० हम तोहरा के 'टेकुआ नियर सोझ कं (अ) देबि'।

टेंटिहा मचामवल—ज़िद करना। प्र० का 'टेंटिहा मचवले' बाड़ (अ)।

टेड़ुआइल—नाराज़ होना। प्र० उ आजु हॉमॉरा पर 'टेड़ुआइल' बाड़े।

टोकारी पारल—शुभ मुहूर्त पर यात्रा करने वाले व्यक्ति को टोकना। प्र० जब उ बाहर जाए लगुअनि त इ 'टोकारी परुए'।

टोह मिलल—पता लगना। प्र० उन्हुकर 'टोह मिलॉलॉ त (अ) ढेर दिन भइल।

टोह में रहल—बदला लेने के लिए समय ढूँढ़ना। प्र० हम तोहरे 'टोह मे बानी'।

टोह राखल—देखभाल रखना। प्र० तनी एनियों 'टोह रखिह (अ)'।

टोह लॉगावल या लिहल—पता लगाना। प्र० तनी उन्हिकर 'टोह लगइ ह या लिह (अ)'।

ठाँव कुठाँव लागल—मर्म स्थल में चोट पहुंचना। प्र० देखि ह (अ) 'ठाँव कुठाँव लागे' मति पावे।

ठकठेनि कइल—हठ करना। प्र० तें का एही बेराँ 'ठकठेनि कइले' बाड़े।

ठकुरई देखावल—शान दिखलाना। प्र० इ हॉमॉरा के 'ठकुरई देखाव (अ) तारे'।

ठटरी भइल—बहुत दुबला होना। प्र० एह बेमारी से त तूँ 'ठटरी हो गइल'

(अ) हा।

ठटरी लागल—बहुत दुर्बल होना। प्र० ताहार त 'ठटरी लागि गइल' हा।

ठटल रहल—सामना करने या कठिनाई झेलने के लिए खड़ा रहना। प्र० उ बाड़ा बीहड़ मरद ह, हरदम उ 'ठटल रहे ला'।

ठटि के खाइल—खूब पेट भर खाना। प्र० आजु त तूँ 'ठटि कै खइले' होखब (अ)।

ठठेरा के बिलारि भइल—ऐसा मनुष्य जो खटके की बात देख कर भी न चौंके या घबराए। प्र० इ पुरहर 'ठठेरा के बिलारि' ह।

ठठेरे ठठेरे बदलई कइल या भइल—जैसे का तैसा व्यवहार करना। प्र० 'ठठेरे ठठेरे बदलई ना होखे'।

ठनकावल—रुपया वसूल करना। प्र० तिलक में खुब त 'ठनकवल (अ)' अब का चाही।

ठन् ठन् गोपाल भइल—कुछ भी पास न होना। प्र० आजु उन्का घरें 'ठन ठन गोपाल' बा।

ठप भइल—बंद हो जाना; समाप्त हो जाना। प्र० आजु काल्हि उन्हकर काम 'ठप हो गइल' बा।

ठहर दिहल—चौका लगाना। प्र० एह बेराँ ले 'ठहर दिहल' बाकिए बा।

ठाट कइल—ढाँचा तैयार करना। प्र० ताँहार 'ठाट कइल' ना सँपरल।

ठाट भइल—ढाँचा तैयार होना। प्र० आजु हमरो 'ठाट भइल' हा।

ठाड़ा भइल—खड़ा होना; प्रतिनिधित्व के लिए पर्चा दाखिल करना। प्र० रउवाँ के 'ठाड़ा भइल' लोग जानी त केहु दोसॉरा के थोरे ओट मिली।

ठाढाँ कइल—ठंडा करना, शांत करना। प्र० उ बॉड़ा गरमाइल बाड़े, जा तनी उन्का कें 'ठाढाँ कर (अ)'।

ठीक उतरल—जितना चाहिए उतना ही होना। प्र० इ हे कुरुता 'ठीक उतरल' बा।

ठीक कइल—दुरुस्त करना; दुर्दशा करना। प्र० आपन काम 'ठीक कइल' (अ) त जानी, ना मन ब (अ) त (अ) तहरो के 'ठीक करबि'।

ठीक लागल—भला जान पड़ना। प्र० अब इ 'ठीक लाग' (अ) ता।

ठेकान कइल—स्थान निश्चित करना, जीविका ढूँढ़ना। प्र० पहिले रहे के 'ठेकान कइल' जरूरी बा, जा तूँ आपाना के 'ठेकान कर (अ) गे'।

ठेकान लागल—प्रबंध होना; ठीक स्थान पर पहुँचना। प्र० का हो ताँहार 'ठेकान लागल' कि ना। अब हमहुँ 'ठेकाने लागि' गइलीं।

ठेकाना लाँगावल—नौकरी या काम धंधा ठीक करना। प्र० इन्हिकर कही 'ठेकाना ना लाँगावल' जाई त (अ) इ कइसे रहिहें।

ठेकाने आइल—नियत या वांछित स्थान पर वास होना। प्र० हाँमाँरा 'ठेकाने आइल' थोरहुँ देर ना बितल कि उ आ गइले।

ठेस लागल—होश होनां; चोट पहुँचना। प्र० अब इहे इन्हिका 'ठेस लागल' हा, तूँ अइसन मति कर (अ) हाँमाँरा त (अ) एक 'ठेस लागि चुकल' बा।

ठेहुनि आइल—डटना। प्र० उ 'ठेहुनिआइल' बाड़े, अब इ काम क(अ) के उठिहें।

ठोंकच बइठल—दुबला हो जाना। प्र० आजु काल्हि उन्हुकर 'ठोकच बइठल' बा।

ठोकर खाइल—लात सहना। प्र० ताहार 'ठोकर खाइल' छुटे के नइखे।

ठोकारी पारल—उत्तेजित करना। प्र० तनी 'ठोकारी पारत रह(अ)' जेमे बयलवा हाली हाली चल (अ) स (अ)।

ठोठ मलल—नीचा दिखलाना। प्र० बे 'ठोठ मलले' तुं ना मन ब(अ)।

ठोप से भेंट भइल—किसी अच्छी वस्तु के अभाव में उस की चर्चा चलने पर लोग इस मुहावरे का प्रयोग करते हैं। प्र० अब तोहराँ ओ 'ठोप से भेंट ना हौई'।

डंका डालल—दिन दहाड़े लुटना। प्र० 'डंका डालल' खेलवाड़ बुझ(अ) तारे।

डंका बाजल—किसी की चलती होना। प्र० ओ गाँव में उन्हिकर 'डंका बाजल' बा।

डंका बाजावल—सब पर प्रकट करना। प्र० उ 'डंका बाजाइ' के कहि अइले हा।

डंटा खाइल—डंडे की मार सहना। प्र० ओकारा 'डंटा खाए' के आदति

परि गइल बा।

डंटा चॉलावल—डंडे से प्रहार करना। प्र० उ बाड़ा चोटाह 'डंटा चॉलावे ला'।

डंटा डुंटी भइल—मारपीट होना। प्र० आजु काल्हि ओ लोगनि काँ अपुसे में 'डंटा डुंटी भइल' बा।

डंडी मारल—सौदा देने में चालाकी से कम तौलना। प्र० उ बाड़ा 'डंडी मारे ला'।

डरें सीट भइल—डर कर चुप होनां। प्र० उ 'डरें सीट हो गइल' बा।

डाँक डाँक कइल—चिल्लाना; शोर करना। प्र० का 'डाँक डाँक कइले' रहले हा रे।

डाँड़ टूटल—निराश होना। प्र० लइका का मुअते उन्हिकर 'डाँड़ टूटि गइल'।

डाँड़ परल—नुक़सान होना। प्र० हामारा त (अ) ए में 'डाँड परल' हा।

डाँड़ लागल—डाँड़=दंड। विशेष कर प्रायश्चित्त रूप में जो दंड लगता है, उसे डाँड़ लगाना कहते हैं। प्र० भाई लोग उन्हिका उपर 'डाँड़ लागावल' हा।

डाँड़ सोझ कइल—लेट कर थकावट मिटाना। प्र० तनी 'डाँड़ सोझ कइ के' तॉहॉर काम कइ दे तानी।

डाँफि दिहल—डरा देना। प्र० तनि इन्हिकरा के 'डाँफि त द (अ)', इ बॉड़ा बदमास भइल बाड़े।

डींग मारल—शेख़ी बघारना। प्र० अब हीं ले इन्हिकर 'डींग मारल' न छुटल।

डगडगाइल फिरल—मारा मारा फिरना। प्र० उ चारु ओर 'डगडगाइल फिरेला'।

डंफ भइल—उफन जाना। प्र० इ खाइ के 'डंफ भइल' बाड़े।

डहर धइल—चल देना। प्र० एकरा बाद उ आपन 'डहर धइले'।

डहरि बातावल—रास्ता दिखलाना; उपाय बताना। प्र० जा इन्हिका 'डहरि बाता आव (अ)'। रउवाँ कवनो एगो 'डहरि बाताईं'।

डाढ़ा फूँकल—दाह उत्पन्न करना। प्र० आजु देही में 'डाढ़ा फूँकले' बा।

डायर भइल—दाखिल हुआ। प्र० मोकदिमा 'डायर भइल' हा।

डाली लॉगावल—डलिया में मेवे आदि सजा कर भेजना। प्र० उ डिपिटी साहेब के 'डाली लागावे ले'।

डिठि लागावल—किसी अच्छी वस्तु पर अपनी दृष्टि का बुरा प्रभाव डालना। प्र० घर हीं रखिह् (अ) ना त (अ) 'केहू डिठि लागा दी'।

डिम-डाम से रहल—ठाट-बाट से रहना। प्र० आजु काल्हि उ बॉड़ा 'डिम-डाम से रह(अ)' तारे।

डीह् जागल—अभिवृद्धि होना। प्र० ए गाँव के आजु काल्हि 'डीह् जागल' बा।

डीह् परल—उजड़ जाना। प्र० इ गाँव 'डीह् परि गइल'।

डीह् सुतल—अवनति होना। प्र० ए गाँव के आजु काल्हि 'डीह् सुतल' बा।

डुगडुगी पिटवावल—खबर जनाना। प्र० का 'डुगडुगी पिटाइलि' हा हो।

डुगुरत चलल—छम-छम चलना। प्र० लइकवा त अब 'डुगुरत चल (अ)' ता।

डुबल उतराइल—सोच में पड़ जाना। प्र० का 'डुबल उतराइल' बाड़(अ)।

डुबुकी मारल—ग़ायब होना। प्र० काहाँ 'डुबुकी मरले' रह ल(अ) हो।

डेरा डालल—ठहरना। प्र० काहाँ 'डेरा डलले' बाड़े हो।

डेरा परल—छावनी पड़ना। प्र० ओ ही बगइचवा में डिपिटी साहेब के 'डेरा परल' बा।

डेवढ़ी खुलल—आने-जाने की आज्ञा मिलना। प्र० ताहारा खातिर त(अ) राजा साहेब के 'डेवढ़ी खुलले' बा।

डेवढ़ी बन भइल—आने-जाने का निषेध होना। प्र० एह बेरा 'डेवढ़ी बन होइ' काल्हु जाइबि।

डेवढ़ी लागल—द्वार पर द्वारपाल का बैठना। प्र० थोरे दिन इन्हि को 'डेवढ़ी लागत' रहे।

डोम भइल—अपवित्र होना, दुष्ट होना। प्र० उ भारी 'डोम ह (अ)'।

डोम हाउजि कइल—शोर करते हुए झगड़ा करना। प्र० तोहना काँ का 'डोम हाउजि कइले बाड़(अ) स (अ)'।

डोरा फेंकल—प्रेम में फँसाना। प्र० ए 'डोरा फेंकाला' में कुछु बा।

डोल डाल कइल—शौच होना। प्र० उ 'डोल डाल करे' गइल बाड़े।

डोला काढ़ल—कितने लोग अपनी लड़की को वर के घर पहुँचाते हैं और वहीं पर उस की शादी होती है इसी को डोला काढ़ना कहते हैं। प्र० उन्हिकर बिआह 'डोला काढ़ि' के भइल हा।

डोला निकालल—दुलहिन की विदाई करना। प्र० कब 'डोला निकली हो'।

ढिंढोरा पीटल—चारों ओर घोषित करना। प्र० का 'ढिंढोरा पिटले' बाड़(अ)।

ढींढ़ गिरल—गर्भपात होना। प्र० ना जाने कइसे ओकर 'ढींढ़ गिरल' हा।

ढींढ़ निकलल—पेट निकलना। प्र० तोहार त अब 'ढींढ़ निकलि' गइल।

ढींढ़ मँड़ावल—गर्भपात कराना। प्र० आन्कर 'ढींढ़ रहल हा त मँड़वा दिहलसि हा'।

ढींढ़ मिसावल—गर्भपात कराना। प्र० उ चमइनी से 'ढींढ़ मिसअवलसि हा'।

ढींढ़ रहल—गर्भ रहना। प्र० ओकरा त 'ढींढ़ रहि गइल बा'।

ढेंकार न निकलल—चुपचाप हजम कर जाना। प्र० हाताना रुपाया गपचि घल ल(अ) ह (अ) 'ढेंकारो ना निकलल' हा।

ढेंसराइ के बोलल—अस्पष्ट बोलना। प्र० का 'ढेंसराइ के बोल(अ) तार (अ)' जे कहे के होखे साफ कह(अ)।

ढकचत रहल—वमन करना। प्र० तुं त(अ) बिखिए 'ढकचत रहे ल (अ)'।

ढपोर संख भइल—मूर्ख होना; असत्यभाषी होना। प्र० इन्का का किछु आवेला जाला, इ पूरा 'ढपोर संख हउए' इ 'डपोर संख हउए' इन्का बात के कवनो ठेकाना बा।

ढब धाराइल—आदत पड़ जाना। प्र० ए घरी इहे 'ढब धाराइल' बा।

ढब पर चढ़ल—अभिप्राय-साधन के अनुकूल होना प्र० उ 'ढब पर चढ़े' त ले लिह(अ)।

ढब पर ले आइल—अभिप्राय-साधन के अनुकूल करना। प्र० ए घरी 'ढब पर ले अइत (अ)' त (अ) ढेर काम होइत।

ढभ ढभ कइल—व्यर्थ कुछ बजाना। प्र० का 'ढभ ढभ कइले' बाड़ (अ)।

ढरका दीहल—एक बाँस की छोटी नली से पशुओं को खली आदि पिलाई जाती है। इसे 'ढरका देना' कहते हैं। व्यंग्य में मनुष्य के लिए भी इस मुहावरे का प्रयोग होता है और इसका अर्थ होता है 'जबरदस्ती खिलाना'। प्र० जब इन्का रूचत नइखे त का 'ढरका दे.ले बाड़(अ)'।

ढाठी दिहल—डंडा नीचे ऊपर करके गला दबा देना। निर्दयता पूर्वक जान मार डालना। प्र० उ गाइ के 'ढाठी दे के मारि घलले'।

ढिमिलात फिरल—गिरते फिरना, व्यंग्य में किसी के सौंदर्य को देख कर मोहित हो जाना। प्र० का पुछले बाड़(अ) इ त जाँहाँ नाँ ताँहाँ 'ढिमिलात फिर(अ) तारे'।

ढिमिलिआ खाइल—सिर के बल उलट कर गिर पड़ना; ठोकर खाना। प्र० तोहरा अइसन ना जाने कॅतॉना लोग 'ढिमिलिआ खात फिर(अ) तारे'।

ढिलहाइ कइल—ध्यान न देना। प्र० का 'ढिलहाइ कइले' बाड़ (अ)।

ढुका लागल—छिप कर देखना। प्र० हम 'ढुका लागल' रहलीं, ऐसे इन्हिकर कुल्हि तॉमाँसा देखि लिहलीं।

(अपूर्ण)
